बृहस्पति देवता

वेदमार्तण्ड भगवद्दत्त वेदालंकार
एम० ए०

बृहस्पति देवता

बृहस्पति देवता

(देवगुरु—आदर्श शिक्षक तथा ब्रह्मशक्ति का आदि स्रोत)

वेदमार्तण्ड भगवद्दत्त वेदालंकार एम० ए०

श्री सरस्वती सदन, नयी दिल्ली-२९

लेखक का पता

१. आर्यसमाज, लण्डौर, मसूरी (उ० प्र०)

२. गरीबदास साधु आश्रम—
निकट रेलवे स्टेशन, हरिद्वार (उ० प्र०)

पुस्तक प्राप्ति-स्थान

१. श्री सरस्वती सदन, ए-१/३२, सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-२९

२. गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-६

३. आर्यसमाज मसूरी (उ० प्र०)

४. गरीबदास साधु आश्रम (हरिद्वार)

मूल्य : सजिल्द ४०.०० रुपये
अजिल्द ३०.०० रुपये

मुद्रक :

अजय प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-११००३२

समर्पण

वेद-दीक्षा प्रदान कर स्नातक पर्यन्त पितृवत् स्नेहभाव से वेद-रस का पान कराने वाले गुरुवर्य श्री प्रो० विश्वनाथ जी विद्यालंकार भूतपूर्व वेदोपाध्याय एवं आचार्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के चरणकमलों में सादर समर्पित।

विनीत शिष्य

वेदमार्तण्ड भगवद्दत्त वेदालंकार

प्रो० विश्वनाथ जी का संक्षिप्त परिचय

प्रोफेसर विश्वनाथ जी गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध स्नातक हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय के सन् १९१४ के दीक्षान्त समारोह में आपको विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त हुई, और १९४२ के पश्चात् वेदविषयक विशिष्टज्ञान के कारण आपको मानोपाधि "विद्यामार्तण्ड" द्वारा विभूषित किया गया। स्नातक परीक्षा में वैदिक साहित्य, संस्कृत-साहित्य, दर्शनशास्त्र, रसायनशास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम विभाग में, तथा सर्वप्रथम रहने के कारण आपको ४ स्वर्ण पदक, तथा रजत पदक दिए गये।

सन् १९१४ में ही विशिष्ट योग्यता के कारण गुरुकुल विश्वविद्यालय के महाविद्यालय में आप प्रोफेसर पद पर नियुक्त किए गये।

महाविद्यालय में समय-समय पर आप रसायन, वैदिक दर्शन तथा बौद्ध और जैन न्यायदर्शन तथा वेद विषय पढ़ाते रहे। स्वर्गीय आचार्य श्री रामदेव के आचार्यत्वकाल में लगभग २० वर्षों तक उपाचार्य के रूप में आप महाविद्यालय के अध्यक्ष पद पर रहे। सन् १९४२ में आप सेवामुक्त हुए।

आर्यजगत् के वैदिक विद्वानों में आपका एक विशिष्ट स्थान है।

लगभग २¾ वर्षों के लिए आर्य सार्वदेशिक सभा दिल्ली के 'तत्त्वावधान में अनुसन्धान पत्रिका' का सम्पादन करते रहे।

९१वें वर्ष की आयु में भी आप आर्यजगत् के मासिक पत्रों में अपने लेखों के माध्यम से वेद-विद्या के प्रसार में लगे रहते हैं। तथा महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करते हुए आप इस वृद्धावस्था में भी वेदों के बुद्धिगम्य भाष्यों के लिखने में व्यस्त रहते हैं। आपने लगभग १५ ग्रन्थ वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में लिखे हैं, जोकि प्रकाशित हो चुके हैं। सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य, तथा १४ से २० काण्डों पर ३ जिल्दों में अथर्ववेद का भाष्य आपकी विशिष्ट कृतियाँ हैं, जोकि आपके वेद-विषयक गम्भीर ज्ञान और प्रतिभा की परिचायिका हैं। इनके अतिरिक्त वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा, वैदिक जीवन, वैदिक गृहस्थाश्रम, अथर्ववेद-परिचय, यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा आदि ग्रन्थ भी सुप्रसिद्ध हैं।

विशेष पुरस्कार—

१. सन् १९४९ में 'सूर्यकुमारी निधि' से, शाहपुराधीश राजाधिराज स्वर्गीय श्री उम्मेदसिंह ने 'वैदिक गृहस्थाश्रम' निमित्त ३०००/- रुपये प्रदान द्वारा लेखक का सम्मान किया।

२. सन् १९७९ में, प्रकाशित 'अथर्ववेद-भाष्य' पर, श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार समिति, इलाहाबाद द्वारा १२००/ रु० द्वारा लेखक को सम्मानित किया।

३. 'यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञसमीक्षा' पर उत्तरप्रदेश संस्कृतअकादमी, लखनऊ द्वारा १०००/- रु० द्वारा सम्मानित।

४. आर्यसमाज पानीपत के १९८१ के वार्षिकोत्सव पर ११००/- रु०, १ शाल तथा अभिनन्दन पत्र द्वारा सम्मानित।

महान् वज्रपात

प्रिय सत्यव्रत !

तुम मेरे परमप्रिय शिष्य, जामाता व पुत्र सभी कुछ थे। मेरे वेद-कार्य के प्रशंसक, प्रचारक व उद्घोषक थे। मेरे वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन में धन की प्रथम ग्राहुति देने के लिये सदा उद्यत रहते थे। तुम्हारा संकल्प था कि बिल्लु (चि० राकेश कुमार सुपुत्र स्व० डा० सत्यव्रत) के डाक्टरी पास करने पर मैं क्लिनिक उसे सौंपकर अपना शेष जीवन वेद के कार्य में ही लगा दूंगा, पिताजी का सहायक बनूँगा। अब वह संकल्प कहाँ गया ? तुम मृदुभाषी, लोकोपकारी, समाजसेवक, राजनीतिज्ञ, सफल चिकित्सक माने जाते थे। तुम्हारी शव-यात्रा के साथ ४, ५ हजार का शोकाकुल जनसमुदाय इस तथ्य का प्रमाण है। ४६ वर्ष की स्वल्प आयु में ही तुमने इतनी ख्याति अर्जित की यह मेरठ के साहित्यिकों, राजनेताओं, समाज-सेवकों, चिकित्सकों व जनसामान्य के प्रशंसा भरे उद्गारों से स्पष्ट है।

सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता सर्वनियन्ता उस परमपिता परमात्मा से यही प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को सद्गति और हम पारिवारिक जनों को इस वज्रपात के सहने की शक्ति प्रदान करे।

भगवद्दत्त वेदालंकार

आर्यसमाज मसूरी का संक्षिप्त परिचय

स्थापना

आर्यसमाज मसूरी की स्थापना ईस्वी सन् २६/५/१८६६ विक्रमी को बाबू ज्योतिस्वरूप वकील के अनथक परिश्रम से इनके अपने निजी मकान लंडौर चौक में हुई। अनेक वर्षों तक आर्यसमाज के सत्संग आदि यहीं पर होते रहे। कुछ काल पश्चात् १९२४ ई० में पं० हरनारायण के सुझाव पर बा० ज्योतिस्वरूप के ही प्रधानत्व काल में १९०७ में आर्यसमाज धर्मशाला के लिए लक्ष्मणपुरी में कैक्स्टन कोटेज नाम की कोठी श्री एफ० वौडीकौट साहिब से क्रय की गई। इसी के ऊपरी भाग में आर्यसमाज के सत्संग भी होते रहे। सन् १९१६ में बा० रामचन्द्र ने जो उस समय लण्डौर डिपो में एस० डी० ओ० थे अपनी प्रिय पुत्री के असामयिक निधन पर उसकी स्मृति में आर्य कन्या पाठशाला की स्थापना की। यह पाठशाला लण्डौर क्षेत्र में कभी कहीं कभी कहीं किराये के मकान में लगती रही। १९१६ से आर्यसमाज के सत्संग भी डिंगल कोटेज क्रय करने तक आर्य कन्या पाठशाला के भवनों में होते रहे। यह अवस्था १९२४ तक रही। बाबू रामचन्द्र एस० डी० ओ० ने २४ सहस्र रुपया आर्यसमाज को ऋण रूप में देकर डिंगलकोटेज (वर्तमान आर्यसमाज) खरीदा। तब से आर्यसमाज के अधिवेशन निरन्तर रूप में यहीं पर होते रहे हैं जब तक डिंगल नहीं क्रय किया गया। कुछ समय बाद श्री देवीदयाल चण्ढौक के प्रयत्न से आर्यसमाज के ऊपर का भवन (डिंगल तथा डिंगल एनेक्स) क्रय किया गया। अब आर्यसमाज के सत्संग इसी स्थान पर होते हैं।

आर्यसमाज की गतिविधि :

आर्य कन्या पाठशाला

बाबू रामचन्द्र एस० डी० ओ० ने अपनी स्वर्गीय पुत्री की स्मृति में मसूरी में दो कार्य किए। एक सन् १९१६ में आर्य कन्या पाठशाला की स्थापना तथा दूसरा अन्त्येष्टि संस्कार के लिए मसूरी में श्मशान भूमि में वेदि का निर्माण किया। आर्य कन्या पाठशाला आर्यसमाज के तत्त्वावधान में बहुत समय तक चलती रही। कुछ काल पश्चात् 'आर्य कन्या पाठशाला' को सार्वजनिक रूप देने के लिए उसके नाम से 'आर्य' पद हटा-कर 'कन्या विद्यालय' कर दिया गया। इसी समय मसूरी में अनेक कन्या पाठशालाएँ स्थापित हुईं, इनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा भी होने लगी अतः इसको दूर करने के लिए सब कन्या पाठशालाओं के एकीकरण का प्रयत्न किया गया। इसके परिणामस्वरूप सिटी बोर्ड की कन्या पाठशाला तथा कन्या-विद्यालय का एकीकरण होकर वर्तमान 'मसूरी गर्ल्स इण्टर कॉलिज' बना। इसमें सनातन धर्म कन्या पाठशाला सम्मिलित नहीं हुई, वह पृथक्

रूप में चल रही है। इस प्रकार मसूरी गर्ल्स इण्टर कॉलिज के मूल संस्थापक भी श्री बाबू रामचन्द्र एस० डी० ग्रो० ही थे। इस कॉलेज की प्रवन्धक कमेटी में ग्रार्यसमाज मसूरी की ग्रोर से ३ प्रतिनिधि कार्य करते हैं। इधर ग्रार्यसमाज में जब स्थान की कमी ग्रनुभव की गई तो डिंगल कौटेज के ऊपर हाल का निर्माण किया गया। जिसमें समय-समय पर ग्रार्यसमाज के वृहत् ग्रधिवेशन होते हैं। श्री रामचन्द्र एस० डी० ग्रो० ने ग्रपने पुत्र के विवाहोपलक्ष्य में दो सहस्र रुपये से ग्रार्यसमाज (डिंगल कौटेज में) एक कमरे का निर्माण कराया।

ग्रार्यसमाज मसूरी के प्रधान

प्रारम्भ काल से ग्राज तक मसूरी ग्रार्यसमाज के प्रधान पद को ग्रनेकों व्यक्तियों ने सुशोभित किया जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—

१. **बाबू ज्योतिस्वरूप**—सन् २९ मई १८९६ से १८ सितम्बर १९२० तक।
ये उच्चकोटि के वकील, कर्मठ तथा ग्रार्यसमाज मसूरी के संस्थापक थे। कुछ समय तक ग्रार्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के प्रधान पद को भी इन्होंने ग्रलंकृत किया। ये देहरादून ग्रार्यसमाज के प्रधान भी लम्बे समय तक रहे।

२. **पं० हरनारायण**—सन् ३/४/२१ से २८/५/२१ तक।
१६/७/३८ से ३१/५/४० तक।
ये बाबू ज्योतिस्वरूप वकील के परम सहयोगी रहे हैं। ये बहुत लम्बे समय तक ग्रार्यसमाज धर्मशाला तथा ग्रार्यसमाज भवनों के प्रबन्धक रहे।

३. **बाबू दीवानचन्द**— इनके समय में सन् १९२४ में डिंगल कौटेज क्रय किया गया। इस कार्य को सिद्ध करने में पं० हरनारायण ग्रौर बाबू रामचन्द एस० डी० ग्रो० का बड़ा हाथ रहा। बा० दीवानचन्द प्रधान पद पर सन् २९/५/२१ से ५/७/२४ तक रहे।

४. **वैद्य सतपाल**—सन् १/७/२६ से २/७/२७ तक।

५. **बाबू रामचन्द एस० डी० ग्रो०**—सन् १९/९/२० से २/४/२१ तक।
१२/५/३५ से १६/७/३८ तक।
इन्होंने ग्रनेक वर्षों तक ग्रार्यसमाज के प्रधान पद को सुशोभित किया। ये स्वाध्यायशील, दानी तथा ग्रार्यसमाज के प्रचार में सदा संलग्न रहते थे। ये गुरुकुल वृन्दावन के मुख्याधिष्ठाता भी रहे ग्रौर बहुत लम्बे समय तक ग्रार्यसमाज मसूरी की ग्रोर से ग्रार्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश में प्रतिनिधित्व करते रहे।

६. **श्री जगन्नाथ ग्रग्रवाल**—सन् ६/७/२४ से ३०/६/२६/तक।
एसिस्टैण्ट सेक्रेटरी सिटी बोर्ड मसूरी ३/७/२७ से ३०/६/३४ तक। इनके समय में डिंगल कौटेज के ऊपर एक हाल बना ग्रौर डिंगल कौटेज के सामने एक बड़ा

दालान बना जिसके नीचे आर्यसमाज धर्मशाला जिसको अब आर्यसमाज अतिथि-शाला नाम दिया गया है, बना।

७. **डॉ० कृष्णकुमार शर्मा**—सन् १/७/३४ से १२/५/३५ तक।
इनके समय में महाराजा अलवर का शानदार स्वागत आर्यसमाज मसूरी में हुआ। स्वागत भाषण ठा० मनजीतसिंह राठौर, एम-एल-सी० उत्तरप्रदेश ने दिया था।

८. **श्री द्वारकाप्रसाद एस० डी० ओ०**—इन्होंने अपने समय में आर्यसमाज भवनों की देखभाल की ओर बहुत ध्यान दिया।

९. **श्री हंसराज चड्ढा**—
ये वानप्रस्थी थे। इनके समय प्रचार कार्य अच्छा रहा। यह वह समय था जब भारत का विभाजन भारत और पाकिस्तान के रूप में हुआ था। उस समय गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य प्रियव्रत की व्याख्यानमाला आर्यसमाज के मंच से होती रही। महाविद्यालय ज्वालापुर के आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थजी के भी अनेक गम्भीर सारपूर्ण व्याख्यान हुए। पं० नरदेव शास्त्रीजी को मसूरी की जलवायु बहुत पसन्द थे। अतः आर्यसमाज मसूरी के वार्षिकोत्सवों में ये अक्सर प्रधान पद को सुशोभित करते थे।

१०. **डॉ० मेहरचन्द**—सी० ए० सिटी बोर्ड सन् १/६/४० से ३१/५/४१ तक।
इन्होंने सेवादल की स्थापना की और घण्टाघर पर एक सार्वजनिक होमियोपेथी दवाखाने का शुभारम्भ किया और अन्तकाल तक उसके संचालक तथा चिकित्सा अधिकारी रहे।

११. **श्री कविराज हरनामदास** बी० ए०—
ये भी मसूरी आर्यसमाज के अनेक बार प्रधान बने। ये सार्वदेशिक सभा के भी महामन्त्री बने। ये बड़े दानी थे।

१२. **श्री देवीदयाल चण्ढोक**—
इनके प्रयत्न से आर्यसमाज के ऊपर का भवन डिंगल तथा डिंगल एनेक्स २२०००/- में लिया गया। ये चिरञ्जीलाल वानप्रस्थी के अनुज थे। ये बड़े दानी थे। इन्होंने भारत-विभाजन से पूर्व सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तथा डी० ए० वी० कॉलिज से सम्बद्ध प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के एकीकरण के लिए एक लाख रुपया दान दिया था। यहाँ मसूरी में भी सार्वजनिक कार्यों में मुक्तहस्त दान दिया करते थे। ये स्थानीय सीटी बोर्ड के भी मेम्बर रहे।

१३. **श्री पृथ्वीचन्द हरी**—मालिक हेमर कम्पनी मसूरी। एक समय स्थानीय सीटी बोर्ड के मेम्बर। ये भी आर्यसमाज मसूरी के प्रधान रहे। इनका परिवार महर्षि दयानन्द का भक्त तथा आर्यसमाज की गतिविधियों में धन-दान द्वारा सहायता

करता रहता है। इनके सुपुत्र वेदप्रकाश हरी आर्यसमाज के उपप्रधान हैं, समय-समय पर ये भी दान आदि से समाज की सेवा करते रहते हैं।

१४. **श्री चरणदास साहनी**
१५. **श्री परमात्माशरण**
} ये दोनों भी प्रधान रहे हैं इनके सम्बन्ध में पृथक् रूप में लिखा है।

मन्त्री

आर्यसमाज मसूरी के समय-समय पर कई मन्त्री रहे हैं, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं— श्री स्वामी सच्चिदानन्द, पं० रहतूराम, श्री अमरसिंह, श्रीरामप्रसाद आर्य, श्री किशोरीलाल, श्री तेजपालसिंह, श्री भगवानदास शास्त्री, श्री रामनाथ अमर, श्री ओम्प्रकाश आर्य, श्री खेमकरण, श्री परमात्माशरण, श्री सुशीलकुमार, श्री ज्ञानचन्द खन्ना, श्री नरेन्द्रसिंह आयुर्वेदभास्कर आदि।

दानी महानुभाव

यह शास्त्रोक्ति है कि 'अर्थमूला हि सर्वे समारम्भाः' अर्थात् सब उद्योग व सर्व प्रकार का व्यवहार अर्थ पर ही आश्रित है। इस आर्यसमाज मसूरी को भी समय-समय पर धन की आवश्यकता रही है जिसकी पूर्ति जनता-जनार्दन से तो होती ही रही है। पर जिन प्रमुख दानी महानुभावों ने मुक्तहस्त से दान दिया है वे निम्न हैं।

१. श्री रामचन्द्र एस० डी० ओ०
२. श्री पृथ्वीचन्द हरी
३. श्री विशम्भरनाथ रस्तोगी (मेरठ)
४. श्री देवीदयाल चण्ढौक (देहली)
५. श्री विन्द्रावन सौंधी (जालन्धर)
६. श्री गोकलचन्द नारंग (देहली)
७. श्रीमती मोहिनी देवी (देहली)
८. श्री कविराज हरनामदास (देहली)
९. श्री पूरनचन्द साहनी (देहरादून)
१०. श्री बी० एन० अग्रवाल (बरेली)
कविरत्न श्रीमती शान्ति अग्रवाल
११. आगरा व्यापार समिति (आगरा)

आर्य-जगत् के जिन साधु सन्तों, विद्वानों तथा महोपदेशकों का मसूरी आर्यसमाज को समय-समय पर जो योगदान रहा है उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

श्री महात्मा नारायण स्वामी, स्वामी आनन्द सरस्वती, वत्सलानन्द, ब्रह्ममुनि, अमर स्वामी, ईश्वरानन्द, अभेदानन्द, विद्यानन्द विदेह, महात्मा आर्यभिक्षु, प्रभु आश्रित, योगेश्वर, नरदेव शास्त्री, प्रिन्सीपल दत्ता, रामचन्द्र रिटायर्ड सिविल सर्जन, डॉ०

भगवानदास बनारस, भीमसेन सच्चर, डॉ० सूर्यदेव आयुर्वेदालंकार, कर्नल कालका प्रसाद भटनागर, डॉ० भगतराम दिल्ली, श्रीमती मोहिनी देवी, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, ब्र० भीष्म तथा स्वामी रामेश्वरानन्द, पं० रुद्रदत्त शास्त्री, कैप्टन प्रि० दीवानचन्द, महेन्द्र प्रताप शास्त्री, पं० रामचन्द्र देहलवी, महात्मा हंसराज, कुँवर सुखलाल, ओम्प्रकाश, पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, महता जैमिनि, पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार पं० ऋषिराम, आचार्य कृष्ण, आचार्य प्रियव्रत, महाशय कृष्ण, प्रोफेसर इन्द्र विद्यावाचस्पति, नारायणदत्त ठेकेदार, विश्वबन्धु शास्त्री, रामगोपाल शालवाले, प्रकाशवीर शास्त्री, ठाकुरदत्त शर्मा, पं० भगवद्दत्त बी० ए० रिचर्च स्कालर, गोकुलचन्द्र नारंग, भगवद्दत्त चिकित्सक, बलराज, ला० यौधराज, गुरुदत्त शास्त्री, गंगाप्रसाद चीफ जज, पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्रो० रतनसिंह, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, यशपाल सिद्धान्तालंकार, पं० विश्वनाथ विद्यालंकार, पं० भगवद्दत्त वेदालंकार, सोमदत्त विद्यालंकार, सत्यकाम विद्यालंकार, नरदेव शास्त्री, पं० अमरनाथ वैद्य, पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार, श्यामजी पाराशर, आचार्य बृहस्पति, आचार्य रामदेव, श्रीमती शकुन्तला गोयल, श्री कैलाशनाथसिंह प्रधान—उ० प्र० आर्य प्रतिनिधि सभा, डॉ० केशवदेव आदि अनेकों गण्यमान्य विद्वान् महानुभाव तथा उपदेशक समय-समय पर पदार्पण कर अपने व्याख्यानों से लाभान्वित करते रहे हैं।

आर्यसमाज के वर्तमान पदाधिकारी

१. श्री चरणदास साहनी, प्रधान

जन्म-तिथि—२-१०-१९१६
जन्म-स्थान—जिला गुरुदासपुर, पंजाब

श्री साहनी अनेक वर्षों से मसूरी आर्यसमाज के प्रधान पद को सुशोभित करते आ रहे हैं। बाल्यावस्था से ही आर्यसमाज के कार्यों के प्रति निष्ठा व रुचि इनमें सतत रूप से रही है। 'राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी' देहली की सरकारी नौकरी करते हुए ये आर्यसमाज तिमारपुर, देहली में अनेक वर्षों तक मन्त्री तथा प्रधान रहे। सन १९५९ में 'राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी' के मसूरी स्थानान्तरण हो जाने पर आर्यसमाज तिमारपुर के सदस्यों ने इन्हें अभिनन्दन पत्र द्वारा भावभीनी विदाई दी। यहाँ मसूरी में अपने कार्यालय के लेखाधिकारी पद से सन् १९७४ में सेवानिवृत्त हो गये।

उच्च चरित्र, विनम्रता, सरलता, धर्म के प्रति श्रद्धा, पाप व बुराई के प्रति कठोरता, आर्यसामाजिक नियमों के पालन में तत्परता, स्वध्यायशीलता, आदि इनके जीवन के प्रिय आदर्श हैं। आयु के ६५ वर्ष पूरा करने पर भी ये ५० वर्ष से अधिक के नहीं प्रतीत होते। इनकी प्रधानता व संरक्षता में आर्यसमाज ने एक 'वैदिक शोध संस्थान' की स्थापना की है। हमें पूर्ण आशा है कि इस कार्य से आर्यसमाज मसूरी की ख्याति इस भूमण्डल पर सर्वत्र प्रसृत होगी।

२. श्री परमात्माशरण

मसूरी आर्यसमाज का नाम आते ही परमात्माशरण की स्मृति हठात् मस्तिष्क में उभर आती है। एक प्रकार से मसूरी आर्यसमाज और परमात्माशरण पर्यायवाची शब्द हो गये हैं। ये भी विगत में प्रधान पद को अलंकृत कर चुके हैं और समाज के मन्त्री पद को तो इन्होंने अनेकों वर्षों तक सुशोभित किया। आर्यसमाज में बिना नागा प्रतिदिन सन्ध्या-वन्दन, प्रार्थना तथा यज्ञानुष्ठान यज्ञ के प्रति इनके रुझान व प्रेम को सूचित करता है। एक प्रकार से ये 'यज्ञसिद्ध' पुरुष बन चुके हैं। इनकी धर्मपत्नी श्रीमती सरलादेवी तो यज्ञ, धर्मचर्चा व उपदेशादि सुनने में इनसे भी अधिक उत्साही हैं। परिवारों में पौरोहित्य कर्म भी ये सुचारु रूप से कर लेते हैं। पति-पत्नी दोनों भगवद्-भक्ति के भजन बड़े तन्मय होकर गाते हैं। अब ध्यान आदि में भी इनकी रुचि दिनों-दिन बढ़ रही है। मेरठ जिलान्तर्गत फलावदा ग्राम इनकी जन्म-भूमि है। ये ६२ वर्ष के हो चुके हैं। आजकल आर्यसमाज मसूरी के मन्त्री पद को सुशोभित कर रहे हैं।

३. श्री सुशील कुमार

श्री सुशील कुमार अनेक वर्षों से आर्यसमाज के मन्त्री-पद का कार्यभार १९८१-८२ तक सम्भाले रहे। अब ये आर्यसमाज के कोषाध्यक्ष हैं। इनमें यौवनसुलभ उत्साह व कर्मठता भरपूर है। महर्षि दयानन्द के मिशन के प्रति अत्यधिक प्रेम इनमें दृष्टिगोचर होता है। परस्पर के व्यवहार व व्यापारादि में शुचिता को ये अधिक महत्त्व देते हैं। स्वामी दयानन्द के मिशन को भूमण्डल पर फैलाने की एक विशाल योजना इनके मस्तिष्क में सदा घूमती रहती है। आर्यसमाज की ओर से ये 'मसूरी गर्ल्स इण्टर कालिज' की कमेटी में प्रमुख कार्यकर्त्ताओं में हैं। आर्यसमाज का भविष्य इनके कन्धों पर सुरक्षित है, ऐसा हमें समझना चाहिये। परमात्मा इन्हें सदा शुभ कार्यों में प्रेरणा व सफलता प्रदान करे यही प्रार्थना है।

४. श्री तेजपाल सिंह

रेवेन्यू सुपरिन्टेन्डेण्ट सिटी बोर्ड मसूरी, सन् १९२७ में इलाहाबाद युनिवर्सिटी से स्नातकोपाधि की शिक्षा प्राप्त कर मसूरी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। ये भारतीय आर्यकुमार सभा अजमेर द्वारा प्रदत्त विद्यावाचस्पति की उपाधि से विभूषित हैं। आर्यसमाज मसूरी की पुरानी पीढ़ी के ये ही एकमात्र इक्यासी वर्षीय व्यक्ति अवशेष हैं। पूर्ण रूप में जरावस्था से आक्रान्त होने पर भी ये आर्यसमाज के दैनिक व साप्ताहिक सत्संगों में सोत्साह भाग लेते हैं। ये भी अपनी भरपूर जवानी में आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ताओं में गिने जाते थे। लगभग १७-१८ वर्षों तक इन्होंने आर्यसमाज के मन्त्रि-पद को अलंकृत किया। इनके मन्त्रित्व काल में प्रधान आर्यसमाज के पद पर श्री जगन्नाथ अग्रवाल, श्री रामचन्द्र एस० डी० ओ०, पं० हरनारायण, डा० मेहरचन्द शर्मा, श्री कविराज हरनामदास बी० ए०, श्री पृथ्वीसिंह हरि, श्री चरणदास साहनी

रहे । जब इन्होंने मन्त्रिपद-भार संभाला था तब आर्यसमाज मसूरी पर हजारों रुपया ऋणभार था और जब इन्होंने मन्त्रिपद-भार छोड़ा तो आर्यसमाज ऋणमुक्त हो चुका था । यही नहीं कुछ हजार रुपया भी आर्यसमाज के कोष में हो गया था । यह राशि अब बढ़कर एक लाख पर पहुँच चुकी है । यह सब आवश्यक व्यय करने के पश्चात् आर्यसमाज मसूरी की स्थापना से लेकर आज तक की प्रायः प्रत्येक गति-विधि का लेखा-जोखा इनकी स्मृति में सुरक्षित है । एक प्रकार से मसूरी में आर्यसमाज की नींव को पुख्ता करने वालों में इनकी गणना की जा सकती है । ये कई वर्षों से आर्यसमाज मसूरी के उपप्रधान पद को भी सुशोभित कर रहे हैं ।

५. श्री प्रीतिपालसिंह त्रेहान

ये आर्यसमाज मसूरी के उपमन्त्री हैं । आर्यसमाज भवनों की देखभाल ये ही करते हैं । भवनों का कायाकल्प करने तथा उनसे आर्थिक आय की वृद्धि में ये दृढ़ता से संलग्न हैं । मृदुभाषी तथा उद्यमी हैं । हम इनसे आशा करते हैं कि समर्पित भाव से ये आर्यसमाज की उन्नति में सक्रिय योग देते रहें ।

६. श्री विश्वम्भरनाथ रस्तोगी

ये दानी तो हैं ही, इन्होंने अपने अवकाशप्राप्त काल में कई वर्ष तक आर्यसमाज भवन के प्रबन्धक का कार्य भी किया । क्योंकि ये इन्जीनियर हैं इन्होंने भवनों आदि की मरम्मत, पुनर्निर्माण आदि से इमारतों आदि का कायाकल्प कर दिया । वृद्धावस्था अधिक हो जाने से ये अब अपने शहर मेरठ में रहने लगे हैं पर अभी भी इस वृद्धावस्था में अपने सुझावों से वे आर्यसमाज मसूरी को शक्ति प्रदान करते रहते हैं ।

आर्यसमाज, मसूरी (उ० प्र०)

यह अतीव हर्ष का विषय है कि श्री पं० भगवद्दत्त वेदालंकार की बृहस्पति देवता पुस्तक प्रकाशित हो रही है । आर्यसमाज मसूरी का यह अहोभाग्य है कि वेदों के उच्च-कोटि के विद्वान् पंडितजी विगत अनेकों वर्षों से समय-समय पर यहाँ पधारकर आर्य-समाज मसूरी को अलंकृत करते रहे हैं और 'वैदिक स्वप्न विज्ञान तथा वैदिक अध्यात्म विद्या' आदि ग्रन्थ इन्होंने यहीं रहकर लिखे थे । अब गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सेवा से निवृत्त होकर हमारी प्रार्थना पर इन्होंने आर्यसमाज मसूरी को अपने शोधकार्य का केन्द्र बनाया है । हमारी यह हार्दिक मनोकामना है कि पंडितजी अपना शेष जीवन मसूरी आर्यसमाज में रहकर अपने शोधकार्य को करते रहें ।

प्रधान	मन्त्री
चरणदास साहनी	**परमात्माशरण**

दो शब्द

प्रिय पाठकवृन्द !

सन् १९८० की समाप्ति पर 'सविता देवता' नामक पुस्तक आपकी सेवा में उपस्थित करने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अब 'बृहस्पति देवता' आपकी सेवा में समर्पित करते हुए हमें प्रसन्नता व आत्मसन्तोष की अनुभूति हो रही है। हम भारतीयों के लिये वेद सर्वोत्कृष्ट धार्मिक ग्रन्थ है। इसी को आधार बनाकर अन्य सब शास्त्रों का प्रणयन हुआ है। याज्ञवल्क्य ऋषि का कहना है—

न हि वेदशास्त्रादन्यत्तु किंचिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं हि वेदशास्त्रात् सनातनात्॥

अर्थात् वेदशास्त्र को छोड़कर अन्य कोई शास्त्र नहीं है। वेदशास्त्र के अतिरिक्त जो अन्य शास्त्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे सब वेदशास्त्र से ही निकले हैं।

मनु महाराज वेद की महिमा का इस प्रकार बखान करते हैं।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

स्वयम्भु भगवान् ने सृष्टि के आदि में वेदमयी एक दिव्य वाक् उच्चारित की थी। वह आदि-अन्त से रहित तथा नित्य रहने वाली है। इसी दिव्य वाक् से संसार के समग्र कार्य-व्यवहार प्रचलित हुए।

भगवान् शंकराचार्य ने 'शास्त्रयोनित्वात्' के व्याख्यान में वेदों को सर्वज्ञकल्प माना है। महर्षि दयानन्द ने वेदों का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म बताया है। और एक अन्य स्थान पर तो महर्षि ने वेदों को आर्यसमाज का प्राण बताया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आदिकाल से सब ऋषि-मुनि तथा अन्य सब शास्त्र वेदों की महिमा का बखान करते हुए कभी नहीं अघाते। अतः भगवत्-प्रदत्त ऐसे महान् अक्षयनिधि व दिव्य ग्रन्थ के गूढ़ रहस्यों को हृदयङ्गम करने के लिये सर्व-प्रथम देवताओं के सत्य स्वरूप का निर्धारण करना अत्यन्त आवश्यक समझकर हमने ऋभु देवता, विष्णु देवता, सविता देवता तथा अब बृहस्पति देवता के स्वरूप स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार 'आत्मसमर्पण' पुस्तक में हमने अग्नि, इन्द्र, अश्विनौ, सोम आदि देवताओं का संक्षिप्त विवेचन किया है। अब उन पर भी यथावसर विस्तार से विचार किया जायेगा। बृहस्पति ब्रह्मशक्ति का अधिपति है, ब्राह्मणों का आदिस्रोत है, देवों का गुरु व उनका बन्धु (देवबन्धुम् [अथर्व]) है। वही ब्रह्माण्ड में ज्ञान-विज्ञान का प्रणयनकर्ता है। यह ऊर्ध्व दिशा का अधिपति माना गया है। ऊर्ध्व दिशा से ही ज्ञान-विज्ञान का अवतरण तथा सामान्य वर्षा इसके कार्यक्षेत्र में आता है, सौरमण्डल में द्युलोक

इसका निवास स्थान है तो पिण्ड में मानव मस्तिष्क इसका सदन है। द्युलोक तीन भागों में विभजित है जिन्हें बृहत् कहते हैं। यहाँ इन तीनों द्युलोकों की वाक् को बृहती कहा गया है। इन तीनों बृहत् व बृहती का यह पति है (बृहतः पतिः, बृहत्याः पतिः) इसी प्रकार मनुष्य के तीनों मस्तिष्क = Cerebrum अनुमस्तिष्क = Cerebellum सुषुम्णा-शीर्षक-Medulla oblongatta, का भी यह अधिपति है।

जिस मानव में बृहस्पति सम्बन्धी ब्रह्मशक्ति ऊर्ध्व से अवतरित होकर प्रविष्ट हो जाती है वेद के शब्दों में वह भी बृहस्पति कहलाता है। जहाँ वेद कई अंशों में सरल है वहाँ दूसरे कई अंशों में वे अत्यन्त दुरूह व गूढ़ ग्रन्थियों से भरे पड़े हैं क्योंकि वेद सर्व-सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं और समग्र ब्रह्माण्ड का ज्ञान इनमें निहित है। अतः समग्र गूढ़ ग्रन्थियों का स्पष्टीकरण किसी एक व्यक्ति की शक्ति व योग्यता से बाहिर है। इस दृष्टि से हम यह निस्संकोच भाव से स्वीकार करते हैं कि बृहस्पति सम्बन्धी कई गूढ़ रहस्यों का हम पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर सके हैं, तथापि पाठकवृन्द यह अवश्य अनुभव करेंगे कि हमने इस बीहड़ वन में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त किया है। यह पुस्तक अब प्रकाशित होने जा रही है अतः सर्वप्रथम मैं मसूरी आर्यसमाज के पदाधिकारियों का अभिनन्दन करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन का सत्संकल्प किया तथा वेद के शोधकार्य को प्रोत्साहन देने की योजना को कार्यरूप में परिणत किया। इस पुनीत अवसर पर मेरे स्मृतिपटल पर कई अन्य कृपालु व्यक्तियों का नाम अंकित हो आया, उनका अभिनन्दन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

१. स्वामी कल्याणदेव महाराज

मुजफ्फरनगर (उ० प्र०) निवासी, श्री स्वामी कल्याणदेव महाराज का मैं अभिनन्दन करता हूँ। ये बड़े त्यागी, तपस्वी तथा वीतराग संन्यासी हैं। इन्होंने मुजफ्फरनगर जिले में अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की। ये मुझे वेद के कार्य में समय-समय पर सहायता देते रहे हैं।

२. श्री रायसाहिब चौधरी प्रताप सिंह जी, (करनाल) के प्रति भी मैं आभार प्रदर्शित करता हूँ। ये वेदों के बड़े भक्त हैं। वैदिक विद्वानों तथा वैदिक साहित्य के प्रकाशन के लिये मुक्तहस्त से सदा सहायता करते हैं, और कर रहे हैं।

३. श्री डा० श्यामसुन्दरदास जी शास्त्री, महन्त व संचालक गरीबदासीय आश्रम, मायापुर (हरिद्वार)।

मैं और मेरी धर्मपत्नी दोनों सन् १९८१ की ग्रीष्म ऋतु आर्यसमाज मसूरी में व्यतीत कर अक्टूबर के अन्त में जब नीचे आने को उद्यत हुए तब शरद ऋतु में कहाँ डेरा डाला जाये इस विचार के मानसपटल पर उद्गत होते ही मन ने कहा कि जिस पुनीत प्रस्रविणी भागीरथी गंगा माता की गोद में बाल्यकाल से लेकर अब तक का मेरा समग्र जीवन व्यतीत हुआ है, वर्षा ऋतु में उफनती जिस गंगा माता की उत्ताल तरंगों के झूले में झूलते हुए 'तरत् स मन्दी धावति' बना हूँ, उसकी गोद में शेष जीवन भी

व्यतीत हो यही सोचकर मैं हरिद्वार में स्थान ढूँढ़ने के लिये इधर-उधर डोल रहा था तब हरिद्वार स्टेशन के सामने गरीबदासीय आश्रम के संचालक महन्त श्री डा० स्वामी श्यामसुन्दरदास शास्त्री ने मुझे अपने आश्रम में स्थान दिया। ये स्वामी जी महाराज अनेकों शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित तो हैं ही साथ ही बड़े शान्तप्रकृति, गुणग्राही, त्यागी तथा तपस्वी हैं। भारतीय संस्कृति की समुन्नति के लिये इन्होंने एक संस्कृत विद्यालय भी खोल रखा है। जिसमें सौ से ऊपर छात्र विद्याध्ययन करते हैं। हमारी यही मनोकामना है कि यह आश्रम उच्च शिक्षा का केन्द्र बन जाये।

इसके अतिरिक्त प्रिय पुत्री विमला छावड़ा, प्रिन्सिपल श्री लाल बहादुर शास्त्री आर्य महिला कालेज, बरनाला (पंजाब) के सहयोग के लिये प्यार भरे शब्दों में शुभाशीर्वाद देता हूँ। ये बड़ी विदुषी हैं, वैदिक साहित्य के प्रति इनकी रुचि है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में ये वेदों के प्रकाशन में मेरी भरपूर सहायता करती रहेंगी।

मेरठ कालिज में स्थित यू० को० बैंक में कार्यरत प्रिय पुत्र प्रेमदेव को मेरा आशीर्वाद है, धनसंग्रह में इसने मेरे साथ भागदौड़ की। यह उत्साही, उद्यमी तथा ईमानदार युवक है। इससे मुझे बहुत आशा है।

अन्त में मैं परमपिता परमात्मा का कोटिशः धन्यवाद करता हूँ जिनकी अपार कृपा से मेरा यह मन-वानर वैदिक गूढ़ ग्रन्थियों के सुलझाने में सतत रूप से संलग्न रहता है। ऐ मेरे मीत, हे मेरे राजन्! तू मुझ पर ऐसी कृपा कर जिससे कि मैं अनन्तकाल तक वैदिक साहित्य की भूलभुलैयों में भटकता फिरूं, मुझे इस भटकने में ही एक दिव्य व अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है।

भगवद्दत्त वेदालंकार

विषय-सूची

———

बृहस्पति-सम्बन्धी विषयवस्तु का निर्देश

बृहस्पति देवता

(बुद्धिसर्ग का अधिपति, देवगुरु—मानवों के आचार्य व आदर्श शिक्षक)

यह ग्रंथ दो भागों में विभक्त है। एक संहिता भाग और दूसरा ब्राह्मण भाग। पुस्तक के अन्त में बृहस्पति संबंधी मन्त्रों के अर्थ भी दिये गये हैं। ग्रन्थ २२ अध्यायों में पल्लवित है।

प्रथम अध्याय — प्रथम अध्याय में विस्तार से बृहस्पति के स्वरूप का निर्धारण किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् प्रदर्शित बृहस्पति पद की निरुक्ति, बृहत्=महत्तत्त्व, बुद्धिसर्ग, द्युलोक में अभिव्याप्त ऋतात्मक तत्त्व, द्यावापृथिवी के ६ विभाग, बृहतीवाक् तथा ऋतोत्पन्न प्रथमजा बृहस्पति आदि विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है।

द्वितीय अध्याय — (पिण्ड में) आत्मज्योति, आत्मज्योति का मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों द्वारा प्रकाश, प्रकाशित आत्मज्योति से सम्पन्न बृहस्पति गुरु द्वारा शिष्यों की दिव्य शक्तियों=(गौ=इन्द्रियों) का उद्धार व उद्‌घाटन (opening)।

तृतीय अध्याय — यजुर्वेद की शाखा संहिताओं में बृहस्पति-सम्बन्धी वर्णनों का विवेचन व स्पष्टीकरण, तत्सम्वन्धी कुछ याज्ञिक परिभाषाओं का भी स्पष्टीकरण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय — सृष्टि-उत्पत्ति के समय महदण्ड से तथा सौरमण्डल में आदित्य से बृहस्पति सम्बन्धी उत्पत्ति प्रक्रिया का संकेत किया गया है। यहाँ महदण्ड तथा आदित्य की ज्योति को रुक्म कहा गया है। मानव-शरीर में यह रुक्म=रोचमान वीर्य माना है। अतः वीर्य को रोचमान व ज्योति का उत्पादक बनाना उसे ऊर्ध्वा-रोहण द्वारा नियन्त्रित करना तथा तेजोमय बनाना इन्द्रियों से तेज का प्रकट करना आदि विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है।

पंचम अध्याय — ब्रह्मणस्पति (बृहस्पति) ही गणपति है जो कि वैदिक युग के पश्चात् गणेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह गणेश अनार्य जाति से नहीं लिया गया है।

षष्ठ अध्याय — बृहस्पति के अर्क=बृहस्पति आचार्य की इन्द्रियों द्वारा जो दिव्यज्योति प्रकट होती है उसे अर्क कहते हैं। इन ऐन्द्रियिक अर्कों द्वारा बृहस्पति शिष्यों के आवरणों को नष्ट किया करता है।

सप्तम अध्याय — आसुरी शक्तियाँ क्या हैं जो कि शिष्यों को घेरे रहती हैं ?

अष्टम अध्याय — बृहस्पति द्वारा बल, वृत्र आदि आसुरी शक्तियों के विनाश का वर्णन हुआ है।

नवम अध्याय — बृहस्पति के पशु ऋषभ, विश्वरूपा धेनु आदि का स्पष्टीकरण।

दशम अध्याय — बृहस्पति की वशा गौ क्या है ? यह एक Magnetic Power होती है, इसे Aura भी कहते हैं।

एकादश अध्याय — बृहस्पति देवता का पक्षी क्रौंच को माना गया है। क्रौंच पक्षी की क्रांङ्-क्रांङ् जो ध्वनि है उसका मनुष्य में बृहस्पतित्व शक्ति के उद्भव में महान् योगदान होता है। क्रांङ्-क्रांङ् ध्वनि की अनुकृति में तार वाद्यों का निर्माण हुआ है। यह क्रौंच साम कहलाता है।

द्वादश अध्याय — बृहस्पति का देवापि से क्या सम्बन्ध है ? शान्तनु और देवापि सम्बन्धी कथानक का स्पष्टीकरण किया गया है।

त्रयोदश अध्याय — बृहस्पति द्वारा फालमणिबंधन—अथर्ववेद में कई मणियों का वर्णन हुआ है। फालमणि का रहस्य क्या है, यह स्पष्ट किया गया है।

चतुर्दश अध्याय — बृहस्पति और ओदन—वेद में ओदन एक पारिभाषिक शब्द के तौर पर प्रयुक्त हुआ है। इसका बृहस्पति से क्या सम्बन्ध है, यह दर्शाया है।

पंचदश अध्याय — अथर्ववेद में बृहस्पति तथा उसके कार्य व स्वरूप आदि का विवेचन।

षोडश अध्याय — पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विद्वानों का बृहस्पति सम्बन्धी अभिमत।

ब्राह्मण भाग

सप्तदश अध्याय ब्रह्मा।

अष्टादश अध्याय यज्ञों के प्रति लोगों में अश्रद्धा तथा बृहस्पति द्वारा उसका निराकरण।

एकोनविंश अध्याय कर्मकाण्ड सम्बन्धी प्राशित्र चरु क्या है? बृहस्पति उसका भक्षण करता है, इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण।

विंश अध्याय वाजपेय याग द्वारा बृहस्पतित्व का मनुष्य में उद्गम तथा उसकी शक्तियों व कार्यों का दिग्दर्शन।

एकविंश अध्याय बृहस्पति-सव।

मन्त्र-व्याख्या-अन्त में बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति-सम्बन्धी मन्त्रों के अर्थ दिये गये हैं।

प्रथम अध्याय

बृहस्पति का स्वरूप-निर्धारण

बृहस्पति पद की निरुक्ति

वेद वर्णित प्रमुख देवों में बृहस्पति की गणना की जा सकती है। वेदों में बृहस्पति को ब्रह्मणस्पति नाम से भी स्मरण किया गया है। यह बृहस्पति देवों द्वारा निष्पन्न होने वाले यज्ञों में ब्रह्मा का आसन ग्रहण करता है। अतः यह निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि मानव-यज्ञों में ब्रह्मा इसी का प्रतिनिधि है। इस दृष्टि से बृहस्पति के समग्र स्वरूप को हृदयंगम करने तथा पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए हमें बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति तथा ब्रह्मा आदि देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण वैदिक प्रकरणों पर विचार करना चाहिए।

ऋग्वेद के ११ सूक्तों में बृहस्पति नाम से इस देवता का विवेचन हुआ है। ब्रह्मणस्पति के भी कई सूक्त हैं। इनके अतिरिक्त वेदों में यत्र-तत्र अनेकों मन्त्र बृहस्पति देवता का वर्णन करते हैं। इन्द्र सविता आदि अन्य देवों के सहचार से भी इसका कुछ वर्णन हुआ है। वेद वर्णित बृहस्पति के स्वरूप व उसके स्थान को दृष्टि में रखकर यदि हम संक्षेप में एक वाक्य में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि महद्ब्रह्म का अधिपति बृहस्पति है। तत्सम्बन्धी ज्योति व ज्ञान-विज्ञान का नियामक यही है। बाह्य ब्रह्माण्ड में ऊर्ध्व के तीनों लोकों में यही बृहस्पति-तत्त्व अभिव्याप्त होता है। यही तत्त्व जब किसी व्यक्ति के तीनों मस्तिष्कों (मस्तिष्क-अनुमस्तिष्क-सुषुम्णाशीर्षक) में अवतरित हो जाता है, या भर जाता है तब वह व्यक्ति भी बृहस्पति कहलाता है। इसी कथन को हम आगे प्रमाणों द्वारा परिपुष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। इस कथन के पश्चात् अब हम बृहस्पति के स्वरूप दिग्दर्शन के लिए सर्वप्रथम प्राचीन ग्रन्थों में आयी व्युत्पत्तियों के आधार पर कुछ संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

व्युत्पत्ति

१. **वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः।** श०प० १४।४।१।२२
अर्थात् बृहती नामक वाक् का पति होने से बृहस्पति कहलाता है।

२. **बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा।** निरु० १०।१२

अर्थात् बृहत् का रक्षक व पालक होने से बृहस्पति है। इस प्रकार बृहती और बृहत् इन शब्दों से बृहस्पति शब्द निष्पन्न होता है। अब विचारणीय यह है कि बृहती और बृहत् का क्या अर्थ है? स्वामी दयानन्द ने इन दोनों पदों से अनेकों अर्थों का उद्भावन किया है।

प्राचीन वैदिक साहित्य में भी ये अनेकों अर्थों के वाचक होकर प्रयुक्त हुए हैं। यौगिक दृष्टि से धात्वर्थ के आधार पर देखा जाय तो इन दोनों पदों का एक ही अर्थ है, और वह है परिबृंहण[१] अर्थात्—महान्। परन्तु इन पदों का सामान्य अर्थ महान् करने पर और कोई पारिभाषिक अर्थ न करने पर एक समस्या सामने आती है और वह यह है कि कई स्थलों पर महान् अर्थ करने पर मन्त्रार्थ (अथर्व ८।६।४-५) स्पष्ट नहीं होता। दूसरे बृहस्पति के सन्दर्भ में बृहत् और बृहती का सामान्य तौर पर महान् अर्थ करने पर यह समस्या पैदा होती है कि बृहत् व महान् से किसका ग्रहण किया जाय? बृहत् व बृहती इन दोनों पदों का शास्त्रों में जो पारिभाषिक तौर पर प्रयोग हुआ है वह इन दोनों शब्दों के, बृहस्पति सम्बन्धी पूर्ण अर्थ व तात्त्विक अर्थ को हृदयंगम कराने में बहुत कुछ सहायक हो सकता है। अब इन दोनों पदों पर कुछ संक्षिप्त टिप्पणी यहाँ दर्शाते हैं।

बृहत्

निरुक्त[१] में यास्काचार्य ने बृहत् को महत् माना है। यहां महत् पद सामान्य की अपेक्षा पारिभाषिक अधिक है। सांख्यदर्शन[२] में कपिलाचार्य महत्तत्त्व की उत्पत्ति प्रकृति से मानते हैं। वहां महत्तत्त्व के अपर नाम बुद्धि, अध्यवसाय तथा मन भी आते हैं। इस प्रकार सांख्य की दृष्टि से बृहत् = महत् = मनस् = बुद्धि = अध्यवसाय एक ही तत्त्व के वाचक हैं अथवा एक ही तत्त्व के विभिन्न रूप हैं, ऐसा हमें समझना चाहिए। यहां इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि सांख्यदर्शन में मनस्पद दो तत्त्वों के लिए प्रयुक्त हुआ है, एक सांख्य सूत्र (१।३६) में प्रयुक्त मनस् पद प्रकृति के आद्यकार्य बुद्धि-तत्त्व के लिए और दूसरा अन्तरिन्द्रिय मन के लिए। वेद के शब्दों में इस बृहत् अर्थात् महत्तत्त्व का अधिपति व रक्षक भगवान् बृहस्पति है। वह भगवान् जब बृहत् के माध्यम से कार्य करता है, तब वह बृहस्पति कहलाता है। स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में लिखा है **"बृहतां महत्तत्त्वादीनां स्वामी पालकः"** यजुः २५।१९ इस बृहत् व महत् में प्रकृति का सत्त्वगुण ही प्रमुख उपादान बनता है। सत्त्व में प्रकाश है, ज्ञान है, बृहस्पति में भी ज्ञान व सत्त्व ही प्रमुख होता है। इसी बृहत् रूपी मूलतत्त्व से अनेकों वैयक्तिक बुद्धियों का निर्माण होता है।

अथर्व[३] ५।१०।८ में जहाँ मनुष्य के प्राण तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के आदि स्रोतों का परिगणन किया गया है, वहां अन्तरिन्द्रिय मन का आदिस्रोत बृहत् को बताया गया है। इस उपर्युक्त मन्त्र में मन केवल अन्तरिन्द्रिय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु शिव-

---

१. बृहदिति महन्नाम नि० ३।३। बृहदिति महतो नामधेयं परिवृढं भवति। नि० १।६ बृहतो परिबर्हणात्। नि० ६।७ बृहतो बृंहतेर्वृद्धिकर्मणः दं० ३।११

२. प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः (सांख्यदर्शन)

३. ओ३म् बृहता मन उपह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ। सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् सरस्वत्या वाचमुपह्वये मनोयुजा। अथर्व ५।१०।८

संकल्प यजुः[१]—३४।४,५ में जिस मन का वर्णन हुआ है वह आदि मनस्तत्त्व = महत् तत्त्व ही हो सकता है, क्योंकि जिस मन में भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों काल समाविष्ट हैं, तीनों एकसाथ ज्ञात हैं और ऋक्, यजुः और साम, आदि श्रुतियां जिस मन में चक्र की नाभि में अरों के समान विद्यमान हैं, वह सामान्य मन नहीं हो सकता। वह बृहत् है, महत् है, जिसका अधिपति बृहस्पति है। जो व्यक्ति योग-साधनों द्वारा बृहस्पतित्व को प्राप्त कर लेता है, वह इसी बृहत् नामक मन के स्तर पर स्थित होकर कार्य करता है और ऋक्-यजुः आदि सब श्रुतियाँ उसमें आविर्भूत हो जाती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ये शिवसंकल्प वाले मन्त्र सामान्य कोटि के मनुष्य में चरितार्थ नहीं होते। अतः यह मनस्तत्त्व बृहत् है जिसका अधिपति बृहस्पति है।

विराट् बृहस्पति

इस बृहत् को शास्त्रों में विराट्[२] भी कहा गया है। अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न अगली अवस्था विराट् है। अथर्व ८ (१० (४)[३] १३-१६ में आता है कि "विराट् ने उत्क्रमण किया—आगे कदम बढ़ाया तो वह सप्त ऋषियों के पास जा पहुंची, तो उन ऋषियों ने उसे ब्रह्मण्वती नाम से सम्बोधित किया। इस विराट् नामक गौ का वत्स सोम राजा बना। बृहस्पति ने इससे दूध दोहने के लिए सोम रूपी वत्स को इसके थनों से जा लगाया और छन्द रूपी पात्र में ब्रह्म और तप रूपी दूध का दोहन किया। इस ब्रह्म और तप रूपी दूध का सप्त ऋषियों ने पान किया।" इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि जब यह विराट् सप्त ऋषियों के पास पहुंचती है तब यह ब्रह्मण्वती नाम से सम्बोधित होती है। जिसका बृहस्पति के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है। पिण्ड में इसका भाव यह हो सकता है कि सप्त-ऋषि सप्तेन्द्रिय प्राण हैं। ओज रूपी सोम का जब विराट् से सम्पर्क होता है अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर ओज के प्रभाव से जब मनुष्य की सप्तेन्द्रियाँ सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होती हुई विराट् अर्थात् बृहत् के क्षेत्र में पहुंचती हैं तब उनमें ब्रह्मतत्त्व तथा तप का प्रादुर्भाव होता है। इन्द्रियाँ विषय-भोगों से निवृत्त होकर अनायास तपस्या में प्रवृत्त हो जाती हैं। यह सब बृहस्पति भगवान् की कृपा से होता है, और शिष्यों में बृहस्पति आचार्य के प्रभाव से ब्रह्म और तप की ओर प्रवृत्ति जागृत होती है।

---

१. **येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।**
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यजु० ३४।४,५

२. **बृहद् विराट् - तै०ब्रा० १।३।३।३**

३. **सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत्। तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति। तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम्। तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्म च तपश्चाधोक्। तद् ब्रह्म च तपश्च सप्त ऋषय उपजीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद।**

वैसे तो बृहत् का प्रयोग पारिभाषिक तौर पर महत् तत्त्व व विराट् के लिए है। परन्तु यह बृहत्त्व सृष्टि में आगे-आगे संक्रान्त होता जाता है। दो के संयोग में जो महान्[1] होगा दूसरे की अपेक्षा अधिक व्यापक और शक्तिशाली होगा, वह भी बृहत् कहलायेगा।

वस्तुतः बृहत् और बृहती **'अहम्'** के ऊपर की स्थिति है, वह महद्ब्रह्म की है—महद्ब्रह्म से आगे अहंकार में सीमा है, माप है, मैं, मेरा है। बृहत् और बृहती में यह मात्रा, माप व सीमा नहीं है। इसी दृष्टि से कहा है **"कुतोऽधि बृहतीमिता"** अर्थात् बृहती की मात्रा-माप मिति किससे ? अर्थात् किसी से नहीं। क्योंकि अभी तक मात्रा वाले अहंकार की उत्पत्ति ही नहीं हुई है। सृष्टि में भी युग्म-दो में जिसमें अहम् की मात्रा कम होगी वह बृहत् कहलायेगा। इस प्रकार महान् व अल्प में यही **'अहम्'** की मात्रा का भेद है। बृहस्पति ब्राह्मणों का आदि स्रोत है। अतः सच्चा व असली ब्राह्मण वही है जो अहम् से ऊपर उठ चुका है। सीमातीत हो गया है। सृष्टि-प्रक्रिया में महत् तत्त्व व विराट् का असली स्वरूप द्युलोक में देखा जा सकता है। इसलिए द्युलोक[2] को बृहत् कहा गया है। विराट् से जब सृष्टि की उत्पत्ति होती है तब वह द्यावा-पृथिवी रूप में विभक्त होती है। इस द्यावापृथिवी में द्यु बृहत्[3] है और पृथिवी रथन्तर[4] है। शास्त्रों में इस द्यावापृथिवी को ६ भागों में विभक्त किया गया है। वे ६ विभाग = ३ द्युलोक तथा ३ पृथिवी लोक हैं। इन ६ भागों में जो ३ द्युलोक हैं वह बृहत् कहलाता है और इसका अधिपति बृहस्पति है। द्यावापृथिवी के इन ६ विभागों के छटे विभाग का नाम **'षडहन्'** है। बृहत् तथा उसके अधिपति बृहस्पति के स्पष्टीकरण के लिए हमें इन ६ विभागों पर भी संक्षेप में कुछ विचार कर लेना चाहिए।

द्यावापृथिवी के ६ विभाग

अथर्व ८।९।६ में एक मन्त्र आता है जो कि इस प्रकार है—

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभिषष्ठमह्नः ॥

(वैश्वानरस्य) वैश्वानर अग्नि की (प्रतिमा) आकृति या रूप (उपरि द्यौः यावत्) ऊपर द्युलोक तक है। (अग्निः) यह वैश्वानर अग्नि (रोदसी) द्यावापृथिवी को (विबबाधे) बांधे हुए हैं। (ततः आमुतः) वहां उस (षष्ठात्) द्यौ रूपी छटे अहन् से (स्तोमाः आयन्ति) स्तोम = (स्तर) पृथिवी की ओर आ रहे हैं और (इतः अह्नः) इस पृथिवी

---

१. यद्ह्रस्वं तद्रथन्तरं यद्दीर्घं तद् बृहत्। कौ० ३।५, ज्यैष्ठ्यं वै बृहत् ऐ० ८।२
२. द्यौर्वै बृहत्। श० प० ९।१।२।३७
३. ता० ब्रा० १६।१०।८, श० प० ९।१।२।३७, १।७।२।१७, ऐ० ब्रा० ८।२, कौ० ३।५, तै० १।४।६।७
४. द्रष्टव्य—कौव, ३।५, ता० ६।८।१८, १५।१०।१५, श०प० ५।५।३।५, ९।१।२।३६

रूपी अहन्=विभाग से (षष्ठमभि) द्युलोक रूपी छटे अहन् की ओर (उत् यन्ति) ऊपर की ओर को जा रहे हैं।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि इस द्यावापृथिवी को वैश्वानर अग्नि ने बांधा हुआ है। यह वैश्वानर (विश्व+नर=नृ नये) अग्नि विश्व की नेता है। इस ब्रह्माण्ड में पृथिवी से लेकर द्युलोक तक जो नाना प्रतिमाएं हैं, वे सब इसी अग्नि के कारण हैं। इस द्यावापृथिवी को मंत्र में ६ भागों में विभक्त किया गया है। और इन विभागों को अहन् से निर्देश किया है। इसमें षष्ठ अहन् द्युलोक है इसलिए प्रथम अहन् पृथिवी हुई। इन द्यावापृथिवी के मध्य में कई स्तोम हैं, जिनको कि हिन्दी भाषा में स्तर (Spheres) कह सकते हैं, यहाँ हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि याज्ञिक कर्मकाण्ड के समय द्यावा-पृथिवी संबंधी षष्ठ अहन् की यह प्रक्रिया यज्ञ द्वारा यज्ञ के छटे दिन ही निष्पन्न की जाती होगी। "**षडहन्**" द्युलोक को कहते हैं, इस सम्बन्ध में गोपथ ब्राह्मण में आता है—"**द्यौर्वै देवता षष्ठ महर्वहति**" गो० उ० ६।११ अर्थात् द्यु-सम्बन्धी देवता छटे अहन् को वहन करती है। धावापृथिवी के इन ६ विभागों को वेद में अन्य शब्दों से भी प्रकट किया गया है। यथा—

"**षडाहुर्द्यावापृथिवी**" अथर्व ८।९।१६ अर्थात् द्यावापृथिवी ६ हैं ऐसा कहते हैं। ये द्यावापृथिवी के ६ विभाग ही हैं। इन ६ विभागों की स्थिति इस प्रकार है—

"**तिस्रः दिवः तिस्रः पृथिवी**" अथर्व ४।२०।२ तीन द्युलोक हैं अर्थात् द्युलोक के तीन विभाग हैं, और तीन पृथिवी के हैं। इसी बात को अथर्व ११।३।२० में निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है—

"**द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवर परं श्रिताः**" अर्थात् द्युलोक व पृथिवी लोक के तीन-तीन इधर-उधर आश्रित हैं, द्युलोक के तीन विभाग पृथिवी की ओर आ रहे हैं और पृथिवी के तीन विभाग द्युलोक की ओर जारहे हैं। द्यावापृथिवी के ६ओं विभागों के सम्बन्ध में अथर्व वेद के रोहित सूक्त १३।३।६ में भी संकेत किया गया है। वहाँ आता है कि—

"**यस्मिन् षडुर्वीः पञ्चदिशो अधिश्रितश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः।** यो अन्तरा रोदसी······। जो रोहित द्यावापृथिवी के मध्य में स्थित है जिसमें ६ उर्वी अर्थात् विस्तृत भाग हैं। पांच दिशाऐं हैं। चार जल हैं और यज्ञ के तीन अक्षर अर्थात् अविनाशी तत्त्व हैं।

इस मन्त्र को समझने के लिए हमें निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए। एक तो यह कि यहाँ भगवान् को रोहित रूप में देखा गया है। रोहित भगवान् की रोहण शक्ति को द्योतित करता है। दूसरे इस मन्त्र से यह भी पता चलता है कि रोहित का यह सब वर्णन (य अन्तरा रोदसी) द्यावा पृथिवी के मध्य का ही है। इस द्यावापृथिवी सम्बन्धी रोहण में "**षडुर्वीः**" ६ विस्तृत क्षेत्र दर्शाए हैं। और फिर इस रोहित की पांच दिशाएं हैं। पूर्व, पश्चिम आदि ४ दिशाएँ और एक ऊपर की दिशा, ये मिलकर ५ दिशाएं हो जाती हैं। प्रश्न हो सकता है कि नीचे की छटी दिशा का संकेत क्यों नहीं किया? इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि रोहित अर्थात् रोहण की दृष्टि से नीचे की

दिशा का कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि रोहण नीचे की ओर न होकर ऊपर को ही जाता है। यही सामान्य नियम है। वृक्ष, वनस्पति आदि सब ऊपर को ही जाते हैं। आगे (चतस्र आपः) चार जल हैं, अर्थात् पृथिवी व द्युलोक को छोड़कर उनके मध्य के जो ४ विभाग हैं वे चार जलीय विभाग हैं। इनमें न्यूनाधिक रूप में जल ही मिलेगा। और इस रोहण यज्ञ के तीन अक्षर अर्थात् अविनाशी तत्त्व हैं। जिन तीनों के मिलने से इस द्यावा पृथिवी में सर्वत्र रोहण हो रहा है।

परमात्मा मुख्य रोहित के रूप में वर्णित हो गया, जीवात्मा के लिए यह सब उपदेश है। तब तीन अक्षर अविनाशी तत्त्व इस समस्त द्यावापृथिवी के मूल उपादान प्रकृतिरूप सत्त्व, रजस्, तमस् क्यों न समझे जायें? वे तीन अविनाशी तत्त्व सत्त्व, रजस् और तमस् हैं। इस प्रकार हमने यह देख लिया कि द्यावापृथिवी के ६ विभाग मन्त्रों में कई दृष्टियों से दिखाये गये हैं। यदि हम इन विभागों को नाम देना चाहें तो इस प्रकार दे सकते हैं—

तीन पार्थिव विभाग—

१. पृथिवी
२. प्राणमय लोक
३. मनोमय लोक अर्थात् चन्द्रलोक

चन्द्रमा पृथिवी के क्षेत्र में है। पृथिवी के आकर्षण बल से ही वह पृथिवी के चारों ओर घूमता है। इसलिए पृथिवी का क्षेत्र चन्द्रमा तक है। और जै० उ० ब्रा० में कहा भी है। "**चन्द्रमा मनुष्यलोकः**" जै० उ० ब्रा० ३।३।३।१२ अर्थात् चन्द्रमा मनुष्य-लोक है।

तीन द्यु-विभाग

द्युलोक के तीन विभागों के नाम निम्न मन्त्र में आते हैं। वे इस प्रकार हैं—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।। अथर्व १८।२।४८

१. उदन्वती द्यौः।
२. पीलुमती द्यौः।
३. प्रद्यौः।

इस प्रकार द्यावापृथिवी के उपर्युक्त नाम-निर्देश पूर्वक ६ विभाग किये जा सकते हैं जिन्हें कि अहन् कहा गया है। इन ६ में तीन अहन् द्युलोक के हैं। अहन् नाम से उक्त ये ही तीनों द्युलोक[1] बृहत् नाम से भी कहे जाते हैं।

इन तीनों द्युलोकों का अपने आदि स्रोत विराट् से स्वरूप में कोई विशेष भेद नहीं है। इस दृष्टि से विराट् भी बृहत् है और ये तीनों द्युलोक भी बृहत् हैं। इन

---

१. **यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्। अथर्व ८-९-३**
यानि चत्वारि बृहन्ति। पं० सं० १९।१८।३

तीनों द्युलोकों में चौथी बृहती नामक वाक् आ मिलती है ऐसा अथर्व ८।९।३ मन्त्र से ज्ञात होता है। यह वाक् बृहती है। इन तीनों बृहतों के साथ जब चौथी वाक् बृहती आ मिलती है तब वह बृहत् का क्षेत्र बृहस्पति का होता है। बृहत् में ज्योति है, प्रकाश है, इनमें जब वाक् आ मिलती है तो ज्योति और शब्द ये दोनों बृहस्पति का स्वरूप हो जाता है। पैप्पलाद संहिता १६।१८।३ में वाक् को पृथक् न रखकर वाक् के सहित चार बृहत् माने हैं। अथवा यह भी माना जा सकता है कि विराट्+३ द्युलोक = ४ बृहत् हैं क्योंकि विराट् को भी बृहत् कहा गया है। पर यह निर्विवाद है कि विराट् से लेकर तीनों द्यौलोकों तक बृहत् का क्षेत्र है। अथर्व ८।९।४ में मन्त्र आता है कि

बृहतः परिसामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहत् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ।।

अर्थात् बृहत् के चारों ओर सामों (प्राणों) का वितान व प्रसार हो रहा है। उस छटे बृहत् से पांच का निर्माण हुआ है। बृहती से बृहत् का निर्माण व माप हुआ है। प्रश्न यह है कि बृहती का निर्माण किससे हुआ ?

इस मन्त्र में कई बातें विचारणीय हैं उन सब का स्पष्टीकरण तो कठिन है पर यह निर्विवाद है कि छटें द्युलोक—जिसे कि बृहत् व अहन् कहा गया है, से चारों ओर सामों =प्राणों का प्रसार होकर ये अवशिष्ट पांच लोक व विभाग बने हैं।

तां ब्रा० ८।९।११ में आता है कि "**आदि बृहतः ऊर्ध्वमिव हि बृहत्**" अर्थात् उद्गीथ साम में जो उत् पद है वह आदि और ऊर्ध्व का द्योतक है जो कि बृहत् का रूप है। बृहत् में आदि अर्थात् प्रारम्भ तथा ऊर्ध्वता रहती है। यह आदि अर्थात् प्रारम्भ सृष्टि का प्रारम्भ है। विराट् तथा महत् तत्त्व भी सृष्टि के प्रारम्भ के द्योतक हैं। इसलिए भी बृहत् महत् तत्त्व तथा विराट् एक ही अवस्था के सूचक हैं। इस दृष्टि से बृहत् का सृष्टि में जहां जहां भी संक्रमण होगा वहाँ-वहाँ वह तत्त्व आदि होगा। बृहत्[1] और रथन्तर के सब युगल रूपों में यह सुचारु रूप से घटता है। और बृहत् में ऊर्ध्वता[2] भी है। द्यावापृथिवी में द्युलोक[3] ऊर्ध्व में है अतः उसको भी बृहत् की श्रेणी में गिना गया है। बृहस्पति बृहत् का अधिपति है अतः स्वभावतः बृहस्पति[4] की दिशा ऊर्ध्व दिशा होगी। बृहत् की उपस्थिति सृष्टि के आदि में है अतः शास्त्रों में इसे प्रजापति का ज्येष्ठ पुत्र[5] माना गया है। बृहत् की गति सूक्ष्मता से स्थूल की ओर तथा ऊर्ध्व से अधः (नीचे) की ओर होती है और रथन्तर की गति अधः (नीचे) से ऊर्ध्व की ओर होती

---

१. **बृहद्धि पूर्वं रथन्तरात् ता० ११।१।४**
२. **ऊर्ध्वमिव हि बृहत् ता० ८।९।११**
३. **द्यौर्वै बृहत् श० प० ९।१।२।३७**
४. **ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिः अथर्व ३।२७।६**
५. **यथा वै पुत्रो ज्येष्ठ एवं बृहत् प्रजापतेः। तां ब्रा० ७।६।६**

है। इसी तथ्य को निम्न वाक्य में देखा जा सकता है। यथा—ऐरं वै बृहदैडं रथन्तरम् तां ब्रा० ७।६।१७

अर्थात् बृहत् में "ऐरम्" है और रथन्तर में ऐडम् है। ऐरम् ईर गतौ से निष्पन्न होता है। और ऐडम् ईड स्तुतौ से अथवा याचना अर्थ में। नीचे वाला व्यक्ति ही ऊर्ध्व स्थित व्यक्ति की स्तुति किया करता है और याचना करता है। अतः स्तुति-प्रार्थना में नीचे से ऊपर को गति होती है 'ऐडम्' में यही रहस्य है। बृहत् ऊर्ध्व में है अतः तत्संबंधी जितनी प्रेरणाएँ, आदेश व गतियाँ आदि हैं वे सब बृहत् की ऊर्ध्वता के कारण हैं। वे ऊपर से नीचे की ओर होती हैं। 'ऐरम्' में यही रहस्य है। अतः बृहत् के इन सब कार्यों का अधिपति बृहस्पति है।

ऊर्ध्वादिक्

ऊर्ध्वदिशा से बृहस्पति वाक् शक्ति को देता है ब्रह्म तथा क्षत्र-शक्ति को देता है और पय अर्थात् सोम प्रदान करता है कहा भी है—

विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्ये वाचं मे दाः।

ब्रह्म मे दाः, क्षत्रं मे दाः पयो मे दाः। मै० सं० ४।६।३

अध्यात्म में इसका भाव यह है कि जब कोई ऊपर, ऊर्ध्व में अपने आपको 'विधृति' विधारण—विशेष रूप में धारण किये रहता है तो ऊर्ध्व से वाक् देवी सरस्वती का अवतरण होता है। किसी में ब्रह्मशक्ति का प्रादुर्भाव व विस्तार होता है तो किसी में क्षत्रशक्ति का। सोमरस का अवतरण तो होता ही है।

बृहत्-असत्

बृहत् का असत् से भी कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है। वह सम्बन्ध क्या है? क्या दोनों पर्यायवाची हैं? इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। अथर्व[1] १०।७ के स्कम्भ सूक्त में असत् और सत् नाम की दो शाखायें बतायी गयी हैं। असत् शाखा में असत् से उत्पन्न बृहन्त[2] नाम के देव उसमें लटक रहे हैं। यहां असत्[3] की निष्पत्ति 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' धातु से मानी जा सकती है, अर्थात् इन बृहन्त नामक देवों में गति है, दीप्ति है तथा आदान-प्रदान है। सृष्टि के आद्य प्राण जिन्हें कि ऋषि संज्ञा दी गई है वे भी असत् कोटि में रखे गये हैं।

बृहत्-ऋत

यह बृहत् ऋत रूप है (ऋतं बृहत् ऋ. ४।४०।५ बृहस्पति को भी ऋतवाला

---

१. असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्ते ऽवरे ये ते शाखामुपासते॥ अथर्व १०।७।२१

२. बृहन्तो नाम ते देवा ये ऽसतः परिजज्ञिरे।
एकं तदंगं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः। अथर्व १०।७।२५

३. असद्वा इदमग्र आसीत् ...ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। श० प० ६।१।१।१

तथा ऋत से उत्पन्न माना गया है। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

इस प्रकार बृहस्पति शब्द की व्युत्पत्ति को दर्शाते हुए बृहत् के संबंध में कुछ संक्षिप्त विचार किया गया। इससे पूर्व कि हम बृहती के स्वरूप का विवेचन करें एक शंका है जिसका समाधान अत्यावश्यक है। जैसा कि वेदों के विष्णु देवता संबंधी सूक्तों व मंत्रों में वैष्णव सम्मत भक्ति का दिग्दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार बृहस्पति संबन्धी सूक्त व मन्त्रों में बृहती व बृहत् का वर्णन नहीं मिलता। वेदों में वैष्णव सम्मत भक्ति की सत्ता का समाधान हमें गायत्री में प्राप्त हुआ था। जिसका कुछ संक्षिप्त दिग्दर्शन हमने "**विष्णुदेवता**" पुस्तक की भूमिका में दर्शाया है। इसी भांति यहाँ बृहस्पति देवता के विवेचन प्रसंग में भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वेद के बृहस्पति सूक्तों व मन्त्रों में तो बृहत् व बृहती का वर्णन है नहीं तो फिर उपनिषद् व निरुक्त आदि प्राचीन ग्रन्थों में बृहस्पति को बृहत् व बृहती वाक् का अधिपति बताने का क्या आधार है? इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि बृहस्पति शब्द में ही बृहती व बृहत् का समावेश है। बृहतः पतिः-बृहत्याः पतिः—इस व्युत्पत्ति का आधार क्या है, यह शंका उपस्थित होने पर आर्ष परम्परा ही इसका आधार है, यह कहा जा सकता है। प्राचीन समग्र साहित्य व आर्ष दृष्टि वेदों को अपौरुषेय अंगीकार करती है, वेद अपौरुषेय हैं। संहिता रूप में ही भगवान् से उपलब्ध हुए हैं। मन्त्रों व पदों के अर्थ नियत हैं। आर्ष दृष्टि के उपलब्ध होने पर ही इन अर्थों का साक्षात्कर होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने व उस पर बल देने के लिए ही निरुक्त का प्रारम्भ "**साक्षात्कृतधर्माणः**" शब्दों से हुआ है। इससे यह ज्ञात होता है कि यास्क ने एक विशिष्ट भूमिका पर खड़े होकर निरुक्त का प्रणयन किया है इस तथ्य को न जानकर व दृष्टि से ओझल कर जो भाषा-वैज्ञानिक व आधुनिक वैय्याकरण यास्क के निरुक्त की आलोचना करते हैं, वे ठीक नहीं हैं। वेदादि प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन करने वालों को यह स्मरण रखना चाहिए कि वेदों के अध्ययन में आर्ष दृष्टि प्रमुख है। जिनको आर्ष दृष्टि उपलब्ध नहीं हुई उनकी सुगमता के लिए ही व्याकरण व निरुक्त आदि का निर्माण हुआ है। क्योंकि अर्थ नियत हैं, उनको बुद्धि में बैठाने के लिए ही व्युत्पत्ति की जाती है। व्युत्पत्ति का इतना महत्त्व नहीं जितना महत्त्व अर्थ का है और वह अर्थ कुछ-कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थ आदि ऋषिकृत भाष्यों में सुरक्षित है। अतः सर्वप्रथम हमें उनको समझने तथा हृदयंगम करने का प्रयत्न करना चाहिए। पाश्चात्य जगत् का वेदों के पढ़ने का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण वेदों के सत्य अर्थ से हमें दूर ले जाता है। कितना ही महान् वैय्याकरण व भाषा-वैज्ञानिक क्यों न हो पर यदि अन्तर्दृष्टि नहीं है तो वह वेद के सत्य-अर्थ के प्रकाशन में समर्थ न होगा। इतना कथन करने के पश्चात् अब हम बृहती शब्द पर विचार करते हैं।

बृहती वाक्

वेद का बृहत् सांख्य के शब्दों में महत् तत्त्व है। इसे ही बुद्धितत्त्व भी कहते हैं।

महत् व बृहत् तत्त्वावच्छिन्न भगवान् बृहस्पति हैं। अतः महत्तत्त्वावच्छिन्न भगवान् बृहस्पति की वाक् बृहती कहलाती है। बृहती वाक् का वास्तविक स्वरूप क्या है यह बृहस्पति कोटि में पहुंचकर ही जाना जा सकता है। पर शास्त्र-प्रमाणों के आधार पर उसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

यह बृहत् और बृहती दोनों अपने शुद्ध रूप तथा आदिम रूप में सर्वत्र अभिव्याप्त रहते हैं। पर जब सृष्टि-निर्माण होता है तब इनका केन्द्रबिन्दु ऊर्ध्व[1] में द्युलोक में होता है। वैसे बृहत् और बृहती[2] में कोई विशेष भेद नहीं है। इस दृष्टि से पैप्पलाद संहिता में **"चत्वारि बृहन्ति"** चार बृहत् माने हैं, जैसा कि हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। बृहती वाक् होते हुए भी तत्क्षेत्र बृहत् का भी वाचक हो जाती है। इसी कारण जै०ब्रा० २।३ में आता है कि **"बार्हतो विषुवान् बार्हतो वासावादित्यः। बृहत्यामेष एतदध्यूढस्तपति। तस्मात् बृहतीष्वेव बृहत् पृष्ठं कार्यम्।"**

यह आदित्य बृहती अर्थात् विषुवद् वृत्त पर आरूढ़ होकर तप रहा है। इससे यह स्पष्ट है कि बृहत् व बृहती में क्षेत्र आदि की दृष्टि से कोई विशेष भेद नहीं है। और यदि शास्त्र-प्रमाणों पर सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय तो बृहत् (द्यौ) क्षेत्र की उषा और बृहती में भी कोई भेद नहीं है।

उषा अर्थात् प्रकाश का प्रथम प्रस्फुटन विराट् अवस्था में हिरण्मय अण्डे के आविर्भाव के साथ ही तो है। अस्तु जैसा हम पूर्व में दर्शा चुके हैं कि बृहत् और बृहती इन दोनों का केन्द्रबिन्दु ऊर्ध्व में द्युलोक में होता है तथा बृहस्पति की दिशा भी ऊर्ध्व दिशा कही गई है। अतः बृहती द्वारा द्योतित परिबृंहण में ऊर्ध्व गति होती है यह हमें समझ लेना चाहिए। इस बृहती का जिस-जिस के साथ भी सम्पर्क होगा उसी में उत्थान, ऊर्ध्व गति व परिबृंहण प्रारम्भ हो जाएगा। उदाहरण के लिए यजुर्वेद में उखा के लिए आता है कि **"उत्थाय बृहती भवोदुत्तिष्ठ ध्रुवा त्वम्"** यजु० ११।६४ हे उखे! तू उत्थान करके बृहती बन, ऊर्ध्व में स्थित हो और ध्रुव बन। जब ये लोक उत्थान करते हैं तब ये बृहती के क्षेत्र में आते हैं, कहा भी है **"उत्थाय बृहती भवेत्युत्थाय हीमे लोका बृहन्तः। श० प० ६।५।४।१३"** **"बृहती ह भूत्वा पृष्ठवाह उच्चक्रमुः** श० प० ८।२।४।६ बृहती में केवल उत्थान परिबृंहण व ऊर्ध्वगति ही नहीं है, व्याप्ति भी है। ता० ब्रा० ७।४।३ में आता है कि **"बृहती मर्या ययेमान् लोकान् व्यापामेति तद् बृहत्या बृहत्वम्"** अर्थात् हे मनुष्यो! बृहती का बृहत्त्व इसमें है कि जिससे हम इन लोकों में व्याप्त हो जावें। वे लोक द्युलोक में स्थित हैं। कुछ इस प्रकार के भी वाक्य आते हैं **"बृहती स्वर्गो लोकः"** श० प० १०।५।४।६ **"बृहत्यैव स्वर्गे लोके यतेत बृहत्या स्वर्गं लोकमाप्नोति"**। श०प० १२।२।३।१

"दिवः सदांसि बृहती वितिष्ठसे" यजु० ३४।३२ इस बृहती का स्थान द्युलोक

---

१. **ऊर्ध्वमिव हि बृहत्। ता० ब्रा० ८।९।११, द्यौर्वै बृहत्। श० प० ९।१।२।३७**
२. **दिवः सदांसि बृहती वितिष्ठसे। यजु० ३४।३२**

होते हुए भी अन्तरिक्ष भी इसका स्थान है। अन्तरिक्ष[1] (अन्तरा क्षान्तं) वह स्थान है जहां कि स्थूल पिण्ड नहीं है। यह द्युलोक में भी हो सकता है और उसके नीचे भी। इस दृष्टि से पिण्ड में वाक्,[2] प्राण, व्यान, मन तथा आत्मा ये सब बृहती में परिगणित हुए हैं। ये सब अपने सामान्य रूप में बृहती नहीं हैं पर जब इनमें परिवृंहण अर्थात् उत्कृष्टता व दिव्यता पैदा होती है, ऊर्ध्वगति होती है और अधिक-से-अधिक ये व्याप्त होते जाते हैं तब इन्हें बृहती कहते हैं। बृहती पर विचार करते हुए हमें सदा बृहती "बृंहतेर्वृद्धिकर्मणः" दै० ब्रा० ३।११ वृद्धि का भाव देखना चाहिए। बृहती का केन्द्र-बिन्दु द्युलोक है, पिण्ड में सिर है। वहीं से यह बृहती अन्य सब छन्दों की परिधियों के चारों ओर गति करती है, उनका पालन पोषण करती है उनमें धी, श्री की उत्पत्ति करती है। मस्तिष्क में विद्यमान इस बृहती के क्षेत्र में सप्त सिरों वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। ऋ० १०।६७।१ में अयास्य ऋषि कहता है कि हमारे पिता ने ऋतोत्पन्न सप्तसिरों वाली इस बृहती नामक 'धी' को प्राप्त किया था। यहाँ वाक् को ही धी कहा है। सप्तेन्द्रियों के केन्द्र ही वे स्थान हैं जहाँ ऋतोदक भरता है तो उनमें ऋतम्भरा प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। ऋत के प्रभाव से ये सप्तेन्द्रियाँ दिव्य स्वरूप की हो जाती हैं। बृहती को सुचारु रूप से समझने के लिए बृहद् रथन्तर का साहचर्य व तत्संबंधी प्रकरण पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। बृहद् रथन्तर पर हमने पृथक् से विचार किया है।

इस प्रकार बृहत् और बृहती के संबंध में हमने संक्षिप्त विवेचन किया है। बृहत् अर्थात् महत्तत्त्व के क्षेत्र द्वारा कार्य करने वाली भागवत शक्ति बृहस्पति है और उसकी वाक् बृहती कहलाती है। जो व्यक्ति इस महत् के क्षेत्र तक योग-साधना द्वारा आरोहण कर जाता है साधना द्वारा महत्तत्त्व को आविर्भूत कर लेता है वह भी बृहस्पति कहलाता है। उसकी 'सप्त शीर्ष्णीवाक्' (धी) ऋत वाली होती है। अतः अब हम मानव बृहस्पति को ही उद्देश्य करके तत्संबंधी कथन करेंगे।

बृहस्पति के स्वरूप-निर्धारण में ऋ० २।२३।१७[3] मंत्र अत्यधिक निर्णायक है। वहां आता है कि "समग्र संसार के तक्षण करने वाले त्वष्टा भगवान् ने विश्व भुवनों से साम (ज्योतिर्मय प्राणतत्त्वों) अथवा समता व शान्ति आदि के तत्त्वों को संगृहीत कर बृहस्पति की उत्पत्ति की है।" इसका तात्पर्य यह है कि अत्यन्त ज्योतिरूप ज्ञान-सम्पन्न अत्यन्त शान्त व साम्यावस्थापन्न व्यक्ति ही बृहस्पति बन सकता है। उसमें राग, द्वेष, क्रोध आदि दुर्गुणों का अत्यन्ताभाव होता है।

---

१. अयं मध्यमो (अन्तरिक्षलोकः) बृहती। तां० ७।३।२

२. वाग्वै बृहती। श० प० १४।४।१।२२, प्राणा वै बृहत्यः। ऐ० ३।१०
व्यानो बृहती। तां० ७।३।८, मनो बृहती। श० प० १०।३।१।१

३. विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत् साम्नः साम्नः कविः।

ऋतोत्पन्न प्रथमजा बृहस्पति

ऋ० ६।७३।१[1] में आता है कि यह बृहस्पति प्रथमजा अर्थात् सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ है और ऋतावा=ऋत वाला है, ऋत से उत्पन्न हुआ है। वेदों में अन्य कई देव भी प्रथमोत्पन्न श्रेणी में आते हैं। और वे ऋत से उत्पन्न माने गए हैं अथवा ऋत से उनका संबंध है। उदाहरणार्थ कुछ देवता इस प्रकार हैं—अग्नि, प्रजापति, विश्वकर्मा, विष्णु, वाग्, ब्रह्मजाया[2] आदि। ये कुछ देवता हमने उदाहरणार्थ प्रस्तुत किए हैं, ये ऋतजात हैं, ऋत वाले हैं, ऋत में बुद्धि को प्राप्त करते हैं। बृहस्पति भी इनमें एक हैं। यह ऋतोत्पन्न बृहस्पति-तत्त्व जब मनुष्य में अवतरित होता है, तब उस मनुष्य को भी बृहस्पति कहते हैं। ऋत एक अति सूक्ष्म अदृश्य गतिमय तन्तु है जो कि समग्र भुवनों में ओत-प्रोत है। इसके संबंध में उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परिलोकान् परिदिशः परिस्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्। यजु० ३२।१२
परिविश्वा भुवनान्यायम् ऋतस्य तन्तुं विततं दृशेकम्॥ अथर्व० २।१।५

द्युलोक, पृथिवी, लोक-लोकान्तर और दिशाएं सर्वत्र मैं घूमा हूं और मैंने सर्वत्र ऋत के तन्तु को फैला हुआ देखा है।

इस ऋत के तन्तु का असीम विस्तार देखने के लिए ही मैंने सकल भुवनों का परिभ्रमण किया है।

इस प्रकार ऋत एक दिव्य, सूक्ष्म तत्त्व है, जिसे कि आधुनिक विद्वान् प्रकृति के सत्य नियम के रूप में वर्णन करते हैं। सकल संसार को एक में बांधने वाला यह अन्तर्यामी सूत्र ऋत है। प्रकृति का एक-एक अणु-परमाणु इस ऋत-सूत्र से आबद्ध है। यह ऋत सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होता है। "**ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत**"। योग-साधन द्वारा जब यह ऋत मानव-बुद्धि में प्रविष्ट होता है तब बुद्धि को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। इसके पश्चात् ही मनुष्य बृहस्पति पद की ओर पग बढ़ाता है। सब देव इसी ऋत से उत्पन्न होकर ऋत की वृद्धि करते हैं। बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति इस ऋत के प्रभाव से शिष्यों पर अंकुश रखता है। उन्हें अनुशासन में रखता है। इसी

---

१. **यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा। ऋ० ६।७३।१**
२. **अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य। ऋ० १०।५।७**
गर्भमृतस्य विभ्रति। ऋ० ६।५८।५
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितः। ऋ० १।३६।१६
ऋतप्रजातः। ऋ० २।२३।१५
यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिः। अथ० ४।३५।१, १२।१।६१
विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य। अथ० ६।१२२।१
अपां सखा प्रथमजा ऋतस्य। ऋ० १०।१६८।३
अपोदेवीः प्रथमजा ऋतस्य। अथ० ५।१७।१

दिव्य तत्त्व से आकर्षित हो वे बृहस्पति के वशीभूत होते हैं और विनेय अर्थात् विनीत बनते हैं।

ऋ० ४।५०।४ में वृहस्पति की उत्पत्ति परम व्योम में महान् ज्योति से बताई गई है। श्री अरविन्द की दृष्टि में परम व्योम सर्वोच्च द्युलोक है तथा उच्च पराचेतन का सर्वोच्च दिव्य धाम है। मानव वृहस्पति अपनी साधना द्वारा उच्च पराचेतन के सर्वोच्च दिव्य धाम में जब आरोहण कर जाता है, तव वृहस्पति की उत्पत्ति हुई यह कहा जा सकता है। इसी प्रक्रिया का विस्तार ब्राह्मणग्रन्थों में वाजपेय याग व वृहस्पति-सव में दर्शाया गया है। इन दोनों पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे। यह द्युलोक वृहस्पति की ऊर्ध्व दिशा को द्योतित करता है। वृहस्पति को **तुवि जातः** ऋ० ४।५०।४ भी कहा गया है। तुवि महान् व विशाल को कहते हैं अर्थात् वृहस्पति की महत्ता व विशालता में उत्पत्ति होती है। वह महान् तथा विशाल बन जाता है। वह ऋत-प्रजातः ऋत से उत्पन्न है। यह हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। शाखा संहिताओं व ब्राह्मणग्रन्थों में प्राशित्र प्रकरण में वृहस्पति की उत्पत्ति का एक प्रकार और भी दर्शाया गया है। वह यह है कि **"अंगारा एवांगिरसोऽभवन यदंगाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्"** ऐ० ब्रा० ३।३४।

अर्थात् अंगारे ही अंगिरस बनते हैं। ये अंगारे शान्त होकर पुनः जब तेज से प्रदीप्त होते हैं तब वह रूप वृहस्पति का होता है। अंगारे अंगों का रस (अंगानां रसः) हैं। मानव-अंगों में विद्यमान रसों के अन्दर ही काम, क्रोध, बुभुक्षा, तृष्णा आदि की उत्पत्ति का बीज विद्यमान होता है। ये काम, क्रोध आदि अग्नियां हैं, ये शान्त होनी चाहिएं। ये अग्नियां शान्त होकर पुनः जब दिव्य तेज से ये अंग रस प्रदीप्त होते हैं तब वह व्यक्ति वृहस्पति बनता है। इसी तथ्य को ऋ० ४।५०।४ में परम व्योम में विद्यमान महान् ज्योति से बृहस्पति की उत्पत्ति के रूप में दर्शाया गया है। पिण्ड में ये परम व्योम मस्तिष्क में विद्यमान चक्षु नासिका आदि इन्द्रियों के केन्द्र (Brain Centres) हैं। जिसमें उस परम व्योम की महान् ज्योति व उच्च पराचेतन का अवतरण होता है।

सप्तास्य बृहस्पति

ऋ० ४।५०।४ में बृहस्पति को सप्तास्य व सप्तरश्मि भी कहा गया है। अर्थात् बृहस्पति के सात मुख हैं और रश्मियाँ (किरणें) भी सात हैं। इसी भांति ऋ० १०।६७।१ में सप्त शीर्ष्णी धी को प्राप्त करने का विधान हुआ है। ये सात मुख मस्तिष्क में विद्यमान अयास्य ऋषि (प्राण) के केन्द्र से निकलते हैं। अयास्य ऋषि पर हमने "ऋषि रहस्य" नामक पुस्तक में विस्तार से विचार किया है।

मन्द्र जिह्वम्

ऋ० ४।५०।१ में बृहस्पति को मन्द्रजिह्वम् कहा गया है। यास्काचार्य ने इस पद के "मादनजिह्व व मोदनजिह्व" अर्थ किये हैं, पर हमारे विचार में मन्द्र से

धीमी स्वल्प व परिमित वाक् का ग्रहण करना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ है, क्योंकि बृहस्पति ब्राह्मणों का अधिपति है, ब्राह्मणों के लिए यह विधान है कि "**विवक्षत इव ते मुखं ब्रह्मन् मा त्वं वदो बहु**" यजु० २३।२५ । हे ब्रह्मन् ! तेरा मुख बहुत कुछ कहरहा है, अतः तू मुख से बहुत मत बोल।

पुनश्च बृहस्पति ब्राह्मण है, गायत्री छन्द है और प्रातः सवन है। अतः स्वभावतः प्रत्येक व्यक्ति प्रातःकाल मन्द्र ध्वनि से बोलता है। निरुक्त में मन्द्रजिह्व को मोदनजिह्व व मादनजिह्व कहा है, वह गौण प्रयोग प्रतीत होता है। इसका यह भाव है कि बृहस्पति रूपी दिव्य ज्ञान में एक दिव्य आनन्द व मस्ती होती है जो कि वाणी द्वारा भी प्रकट होती है।

यक्षभृत्—ऋ०१।१९०।४ यक्ष का भरण-पोषण करने वाला। वेद में यक्ष मन को कहा गया है। (**यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां** यजु० ३४।२)

मन का आदि स्रोत बृहत् को बताया गया है, यह हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। इससे यह स्पष्ट है कि बृहस्पति यक्ष-रूपी मन का भरण-पोषण करने वाला है।

नील-पृष्ठम्— ऋ० ५।४३।१२ नीली पीठ वाला अर्थात् बृहस्पति की पीठ नीले वर्ण की है। यह अग्नि का द्योतक है। ऋ० ३।७।३ में अग्नि को भी "नील-पृष्ठः" कहा गया है। बृहस्पति भी अग्नि का ही एक रूप है क्योंकि यह आंगिरस है। सब आंगिरस अग्नि से ही उत्पन्न हुए हैं (**अग्नेः परिजज्ञिरे** ऋ० १०।६२।५)। बृहस्पति को नील पृष्ठ कहने का एक भाव यह भी हो सकता है कि चहुं ओर प्रसृत होने वाला ज्योतिष्पुञ्ज (Awra) नीलाभ है अर्थात् बृहस्पति के चहुं ओर नीली आभा वाली ज्योति प्रवाहित होती रहती है। दूसरा भाव यह भी सम्भव है कि मनुष्य में अग्नि का स्थान शरीर के अग्र भागों में होता है यथा—शिश्न, उपस्थ, उदर, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य आदि। यह अग्नि प्राची दिक् मुख आदि अंगों के सामने की ओर सतत प्रवर्धनशील (असित=न+सित—षिञ् बन्धने) होती है। अतः यह स्वाभाविक है कि पीठ पीछे नीला धुआं रह जाता है। सामान्य मनुष्य में अग्नि का प्रायः अभाव रहता है पर बृहस्पति में यह सतत जाज्वल्यमान रहती है।

सायणाचार्य तथा मुद्गल 'नीलपृष्ठं' का अर्थ स्निग्धाङ्गम् करते हैं जो कि विचारणीय है।

स्वामी दयानन्द—**नीलं संवृत्तं पृष्ठं यस्य तम्।**

नील गुण से युक्त पृष्ठ जिसका।

'नीलं पृष्ठं' का एक भाव और हो सकता है कि जैसाकि अथर्व० १५।१।८ में आता है कि "**नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति**" अर्थात् नीलवर्ण से अप्रिय शत्रु तथा पापादि को आच्छादित करता है। बृहस्पति आचार्य है, उसका प्रयत्न यह होना चाहिए कि अपने दोषों व कमियों को शिष्यों पर प्रकट न होने दें। पीठ पीछे उन्हें

छिपाये रक्खें। और शिष्यों के भी दोषों व दुर्गुणों पर पर्दा डाले रक्खे, जिससे कि उनमें आत्मग्लानि व हीन भावना उत्पन्न न होवे।

हव्यसूदः—ऋ० ४।५०।४ **यो हव्यानि सूदयति क्षरयति सः**—(स्वामी दयानन्द)। यह बृहस्पति यज्ञाहुति का भक्षण करने वाला है। देवों को यज्ञाहुति भक्षण के लिए दी जाती है। मानव-बृहस्पति भी यज्ञशेष का भक्षण किया करता है। अथवा बृहस्पति के लिए जो चरु तैयार किया जाता है, उसे प्राशित्र कहते हैं। इस संबंध में हमने अन्यत्र प्रकाश डाला है। शिक्षा-सत्र में राजा प्रजा द्वारा धन-दौलत तथा शिष्य का गुरु के प्रति जो दान होता है, वह भी हव्य कही जाती है। क्योंकि शिक्षा-सत्र में हवियां तो शिष्य ही हैं, जिन्हें अग्नि में आहुत कर दोषों को भस्म किया जाता है और अग्नि में परितप्त कर स्वर्ण के समान कुन्दन बनाया जाता है। □

द्वितीय अध्याय

पिण्ड में—बृहस्पति आत्मज्योति-प्रकाशक

बृहत् सृष्ट्युत्पत्ति में बुद्धि सर्ग का आदिरूप है। बुद्धि सर्ग ज्योतिष्पुञ्ज है, सबका प्रकाशक है। अतः आत्मज्योति को भी यह सर्वोत्तम रूप में प्रकाशित करने वाला है। बृहस्पति के लिए ऋ० ४।५०।५ में आता है कि "**वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि**" अर्थात् सप्तरश्मि-सप्तेन्द्रिय वाला यह बृहस्पति शरीर व ज्ञानेन्द्रियों के तमों, अन्धकारों को धौंकनी देकर बाहिर कर देता है। ऋ० २।२३।२ में आता है, "**उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि**" जिस प्रकार सूर्य से किरणें बाहिर की ओर निकलती हैं उसी प्रकार बृहस्पति की ज्योति से समग्र ब्रह्म शक्तियां तथा मन्त्रादि का प्रकाश होता है। ऋ. २।२४।३ में कहा गया है—"**अगूहत् तमो व्यचक्षयत् स्वः**" "अर्थात् वह बृहस्पति तम को छिपा देता है अर्थात् नष्ट कर देता है और स्वः अर्थात् आत्म-तत्त्व को प्रकाशित कर देता है।

गो उ. ४।११ में कहा गया है कि "**यच्चक्षुः सः बृहस्पतिः**" अर्थात् जो चक्षु है, प्रकाशक है, ज्योतिरूप है, वह बृहस्पति है। यह बृहस्पति आत्मा की ज्योति को प्रकाशित करते वाला है। आत्मज्योति का प्रकाश किस प्रकार होता है यह हम सामान्य भाषा में दर्शाने का प्रयत्न करते हैं।

स्थूलदृष्टि से मनुष्य को हम दो भागों में बांट सकते हैं। एक भाग आत्मा और दूसरा भाग प्रकृति। अर्थात् आत्मा प्रकृति=पुरुष। मनुष्य में आत्मा को छोड़कर स्थूल शरीर इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि जो घटक हैं वे सब प्राकृतिक हैं अर्थात् प्रकृति से बने हैं। आत्मा एक ज्योति है, इस आत्मज्योति का सम्पर्क करके ये इन्द्रियां आदि प्राकृतिक तत्त्व ज्योतिष्मान् हो जाते हैं। इनमें अपनी ज्योति तो होती नहीं, इसलिए ये आत्मज्योति को ही प्रतिबिम्बित करते हैं इसको हम लैम्प के उदाहरण से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। जिस प्रकार लैम्प में चिमनी चढ़ी होती है और जिस रंग की वह होती है, उसी रंग का प्रकाश बाहिर फेंकती है। और फिर वह चिमनी जितनी अधिक धुंधली होती है, उतना ही कम प्रकाश उससे होता है, इसी प्रकार मनुष्य के शरीर में विद्यमान इन्द्रिय, मन व बुद्धि आदि आत्मज्योति के लिए चिमनी के तुल्य हैं। ये इन्द्रियां आदि जिस रंग में रंगी होती हैं, मनुष्य के अन्दर से वैसा ही प्रकाश बाहिर प्रतिक्षिप्त होता है और वह संसार को उसी रंग में रंगाहुआ देखता है। और ये इन्द्रियां आदि चिमनियां जितनी ज्यादा धुंधली होती हैं उतना ही कम संसार उनके लिए प्रकाशित होता है। और फिर लैम्प में तो एक ही चिमनी होती है परन्तु इस आत्मज्योति के चारों ओर तो तीन चिमनियां चढ़ी हुई हैं जिनमें से होती हुई

आत्म-ज्योति बहुत ही धुंधली तथा परिवर्तित रूप में बाहिर आती है। आत्मज्योति के चारों ओर ये तीन चिमनियां इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि हैं। सबसे बाहिर इन्द्रियां, फिर मन और फिर बुद्धि। श्रीमद्भगवद्गीता ३ अ. ४२ श्लोक में कहा भी है कि—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि र्योबुद्धेः परतस्तु सः ॥"

अर्थात् इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे वह आत्म-ज्योति है।

इस प्रकार आत्मा की ज्योति को बाहिर फेंकने वाली ये तीन चिमनियां हैं जो कि एक-दूसरे से धुंधली होती हुई चली गई हैं। बुद्धि से मन ज्यादा धुंधला है और मन से इन्द्रियां ज्यादा धुंधली हैं। इस प्रकार आत्मज्योति इनमें छनती हुई बहुत स्वल्प मात्रा में तथा परिवर्तित रूप में बाहिर आती है और संसार को प्रकाशित करती है। इस-लिए प्रत्येक मनुष्य अपनी चिमनी के आधार पर संसार को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा करता है और संसार का वैसा ही ज्ञान उसे होता है। संसार का घटबढ़रूप में साधारण ज्ञान सब मनुष्यों को होता ही है परन्तु वैदिक शास्त्र यह कहते हैं कि इन इन्द्रियों पर आये हुए मल को—जिसे कि वेद की भाषा में वल कहा जाता है—को साफकर तथा इन इन्द्रियों की शक्ति को अत्यधिक बढ़ाकर दिव्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वेद व अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रन्थों में सभी इन्द्रियों व मन आदि के सम्बन्ध में अनेकों दिव्यशक्तियों का तथा तद्द्वारा उपलब्ध दिव्यज्ञान का वर्णन मिलता है। वे दिव्य शक्तियां वेदों में गौरव उस्रा आदि नामों से वर्णित हुई हैं (ऋ. १०।६७,६८ तथा अन्य फुटकर मन्त्र) इन पर हम आगे मन्त्रार्थ देते हुए विस्तार से विचार करेंगे। ये दिव्य शक्तियां इन्द्रियों की अपनी नहीं हैं, ये तो आत्मा की ही अपनी विभूति हैं। जब मनुष्य योगसाधना द्वारा बृहत् ऋत की ओर आरोहण करता है, दिव्यगुरु बृहस्पति के शिष्यत्व में ऊर्ध्वोन्मुख होता है तभी इन की प्राप्ति होती है। मुण्डकोपनिषद् के आधार पर (यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा) प्राण व इन्द्रियों के विशुद्ध होने पर यह आत्मशक्ति विभुत्व को प्राप्त होती है। ये इन्द्रियां तो आत्मा की विभूति को प्रतिक्षिप्त करने वाली हैं और किन्हीं विरले भाग्यशाली आदमियों को प्राप्त होती हैं। क्योंकि वे भाग्यशाली योगी व आध्यात्मिक पुरुष अपनी इन चिमनियों को साफ कर देते हैं और जो मैल व आवरण उन पर पड़ा होता है उसे हटा देते हैं। और फिर इनकी योग्यता व शक्ति इतनी बढ़ाते हैं कि आत्मज्योति इन द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैलकर सब पदार्थों को प्रत्यक्ष करा देती है।

बृहस्पति सूक्तों में ऐसे कई कथन हुए है, जिनसे उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। ऋ. १०।६७।५ में कहा है कि बृहस्पति शिष्य के शयन करते हुए निद्रा के समय अपनी वाक् व ज्योति के गर्जन द्वारा उस पर प्रभाव डालता है और इस प्रकार तीन आसुरी पुरियों का भेदन होकर तीन मस्तिष्करूपी समुद्रों का उद्गम होता है। और

इन समुद्रों के उद्‌गम के साथ ही शिष्य की गौएं अर्थात् दिव्य शक्तियां, दिव्य सूर्य, दिव्य उषा तथा तत्सम्बन्धी अर्क ये प्राप्त हो जाते हैं।

अब हम सामान्य भाषा में वेद से अर्वाचीन शास्त्रों के आधार पर यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि इन इन्द्रियों को दिव्य शक्ति सम्पन्न कैसे बनाया जाये ? इस सम्बन्ध में दो उपाय हैं जिनका हमें अवलम्बन करना चाहिये। वे निम्न प्रकार हैं—

१. इन्द्रियां व मन आदि को शुद्ध बनाया जाये। उन पर मैल व आवरण पड़ा हुआ है, उसे हटाया जाये।

२. इनकी शक्ति को खूब बढ़ाया जाये।

अब हम संक्षेप में इन पर विचार करते हैं।

मल-शोधक व ज्योति-वर्धक सत्त्वगुण

यह सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति से बनी है। और यह प्रकृति भी त्रिगुणात्मिका है। वे त्रिगुण सत्त्व, रज और तम नाम से कहे गये हैं। इनके सम्बन्ध में सांख्यदर्शन में आता है कि—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"

अर्थात् सत्त्व, रज और तम नामक गुणों की जो सम अवस्था है, वह प्रकृति कहलाती है। जब तक कि ये गुण सम अवस्था में रहते हैं, तब तक तो सृष्टि नहीं बनती। परन्तु जब इनमें विषमता पैदा हो जाती है, तब सृष्टि का निर्माण शुरू हो जाता है। सृष्टि में कहीं सत्त्व प्रबल है, कहीं रज बलवान् है और कहीं तम बलशाली है। इस प्रकार सृष्टि में सर्वत्र इन तीनों के बलाबल में विभिन्नता पायी जाती है। सत्त्व गुण ज्योति व प्रकाश का सुवाहक है। रजोगुण ज्योति को तरह-तरह के रंगों में रंगदेता है। और तमोगुण ज्योति व प्रकाश को रोकदेता है। इस तरह से इन तीनों गुणों का विविध-विविध प्रकार का मेल, विविध-विविध प्रकार के परिणामों को पैदा करता रहता है। इन्हीं तीनों से सारे संसार का निर्माण हुआ है। हमारा शरीर भी इन्हीं तीनों के मेल का परिणाम है। जिन मनुष्यों में सत्त्वगुण अधिक है, वे सात्त्विक पुरुष कहलाते हैं। जिन में रजोगुण अधिक है, वे रजो गुणी होते हैं। और जिनमें तमोगुण अधिक है, वे तामसिक होते हैं। हमारे शरीर में मन, बुद्धि आदि प्रत्येक अंग भी इन्हीं के घट-बढ़ मेल व आवरण का परिणाम है। इन सत्त्व, रज, तम का शरीर में सन्तुलन प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। क्योंकि शरीर में निर्माण व विनाश-प्रक्रिया हर समय हो रही है। इसलिए प्रश्न यह है कि दिव्य शक्ति प्राप्त करने के लिए हमें सत्त्व, रज, और तम में से किसको बढ़ाना चाहिए ? इन तीनों में तम[1] तो स्पष्ट रूप से दिव्य शक्तियों को घेरने वाला है। इससे प्रमाद मोह और

---

१. अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥
—श्रीमद्‌भगवद्‌गीता १४ अ० श्लोक १३

आलस्य ही बढ़ते हैं। प्रकाश तो इसमें बिल्कुल है ही नहीं। इसलिए दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों की प्राप्ति के लिए तम को बढ़ाने का प्रश्न ही नहीं उठता। आगे रहा रजोगुण। दिव्य प्रकाश की प्राप्ति में यह रजोगुण भी बाधक है। क्योंकि दिव्य ज्ञान के लिए यह भी एक आवरण है। श्रीमद्भगवद्गीता अ० ३।३७-४० श्लोक में रजोगुण से उत्पन्न होने वाले काम, क्रोध आदि को ज्ञान का आवरण बताया गया है। वहां आता है कि, "काम[1], क्रोध इत्यादि ये महापाप्मा हैं। जिस प्रकार धूआं अग्नि को घेर लेता है, दर्पण को मैल घेर लेता है और गर्भ को जिस प्रकार उल्व (जरायु) घेरे रहता है, उसी प्रकार मनुष्य को ये काम-क्रोध इत्यादि घेरे रहते हैं। ज्ञानी के ज्ञान को ये घेरने वाले हैं। इनका स्थान शरीर में मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ हैं।"

इसलिए रजोगुण भी दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों की प्राप्ति में सहायक नहीं है। आगे रहा सत्त्व। यह स्पष्ट रूप में दिव्य ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि "जब[2] सत्त्व की वृद्धि होती है तब इस शरीर के सब इन्द्रिय-द्वारों में प्रकाश पैदा हो जाता है।" इसलिए यह निश्चय से कहा जा सकता है कि मनुष्य को दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने अन्दर सत्त्व की वृद्धि करनी चाहिए।

अब विचारणीय यह है कि सत्त्व की वृद्धि किस प्रकार करें ? इस सम्बन्ध में कई उपाय बताए जा सकते हैं। उनमें एक उपाय भोजन भी है। शरीर-विज्ञान शास्त्र का यह मत है कि मनुष्य-शरीर में रात-दिन निर्माण व विनाश-प्रक्रिया चल रही है। इस निर्माण व विनाश-प्रक्रिया का आधार अन्न है। इसलिए क्या निर्माण करना और क्या विनाश करना अर्थात् शरीर में से बाहिर करना, यह सब अन्न पर आश्रित है। क्योंकि इन्द्रियां, मन व बुद्धि आदि जो कि आत्मा के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने वाले हैं, इनका निर्माण अन्न से होता रहता है। इसलिए यदि सात्त्विक अन्न होगा तो स्पष्ट रूप में सत्त्वगुण की उत्पत्ति व वृद्धि होगी और ये इन्द्रियां आदि भी सात्त्विक

---

१. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतै र्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ गीता० अ० ३।३७-४० श्लोक।

२. सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ अ० १४।११ श्लोक।
सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्। १५ अ० १७ श्लोक

बन जायेंगी अर्थात् सत्त्व से आवेष्टित होंगी। इसी भांति अन्न के द्वारा मन भी सत्त्वयुक्त होता रहता है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषत् ६।५।१।३ में आता है कि—

"अन्नमशितं त्रेधा विभजते······योऽणिष्ठस्तन्मनः"

अर्थात् खाया हुआ अन्न तीन भागों में विभक्त होता है, उसका जो सबसे सूक्ष्म भाग है, वह मन में जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियां व बुद्धि आदि का भी निर्माण अन्न से होता रहता है। इसलिए हमें इनको सात्त्विक बनाने के लिए सात्त्विक अन्न ही खाना चाहिए। परन्तु यहां यह बात ध्यान देने की है कि अन्न से मन के निर्माण का भाव यह नहीं है कि पहले मन नहीं था और फिर अन्न से इसकी उत्पत्ति हुई। वैदिक साहित्य में तो मन को 'अमृत' माना है। आत्मा के साथ यह मन प्रायः लगा रहता है। इसलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि पहले मन नहीं था और फिर अन्न द्वारा उसका निर्माण हुआ। इसका भाव यह है कि अन्न के सम्पर्क से मन की शक्ति का उपचय और अपचय अर्थात् वृद्धि और ह्रास होता रहता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अन्न से मन व इन्द्रियों आदि का सदा निर्माण होता रहता है। अतः दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों की चाहना वाले मनुष्य को सात्त्विक अन्न द्वारा अपने मन आदि को सात्त्विक बनाना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का विजातीय तत्त्व या मैल नहीं आने देना चाहिए।

सत्त्व गुण को प्रबल बनाना

ऊपर हम यह देख चुके कि दिव्य-शक्ति चाहने वाले मनुष्य को सात्त्विक अन्न के भक्षण के द्वारा अपने मन आदि को सात्त्विक बनाना चाहिए। परन्तु सत्त्व को प्रबल बनाने के अन्य भी कई उपाय हैं। इनको हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो केवल रज और तम के विनाशक उपाय हैं। रज और तम पर प्रहार करने वाले ये उपाय उग्र व कठोर हो सकते हैं। दूसरे कुछ उपाय प्रमुख रूप से सत्त्व की वृद्धि ही करने वाले हो सकते हैं। हठयोग से सम्बन्ध रखने वाली जितनी भी उग्र व कठोर क्रियाएं हैं, वे मलों का नाश करने वाली हैं, विरेचन व शोधन करने वाली हैं। परन्तु भगवान् की भक्ति करना, शान्ति, समता व स्थिरता आदि को बनाए रखना, दिव्य भावनाओं को जागृत करना, व दिव्य गुरु की शक्ति इत्यादि उपाय प्रमुख रूप से सत्त्व को बढ़ाने वाले हैं और गौण रूप से रज और तम के विनाशक भी हैं। इसी प्रकार और भी कई उपाय हो सकते हैं, जिनको कि वेद के शब्दों में हम आगे दिखायेंगे।

बृहस्पति और गौएं तथा उनका उद्धार

बृहस्पति देवता-सम्बन्धी ऋग्वेद का सम्पूर्ण १०।६८ सूक्त तथा अन्य कई फुटकर मन्त्र विशेष तौर पर गौ के स्वरूप को दर्शाते हैं और यह भी दर्शाते हैं कि वल आदि असुरों द्वारा छिपायी हुई गौओं को बृहस्पति किन-किन उपायों से उन्हें बाहिर

निकालता है। १०वें मण्डल के इस ६८ सूक्त पर यदि समग्ररूप से दृष्टिपात कियाजाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सूक्त में वर्णित गौ सामान्य पशु नहीं है, ये दिव्यज्ञान की किरणें हैं, दिव्य शक्तियां हैं जो कि वलरूपी मल व आवरण से दबी हुई हैं। आलंकारिक भाषा में यह भी कह दिया गया है कि वल असुर है और उसने गौओं को अंधेरी गुफा में छिपाया हुआ है। बृहस्पति इन्हें उस वलरूपी असुर की गुफा से बाहिर निकालने के लिए अनेकों उपाय करता है। यह हम विस्तार से सूक्त पर विचार करते हुए प्रदर्शित करेंगे। श्री अरविन्द का कहना है कि "गौएं उषा की किरणें हैं, सूर्य की गौएं हैं, वे भौतिक शरीरधारी पशु नहीं हैं लुप्त गौएं सूर्य की लुप्त हुई किरणें हैं।" और यह भी लिखा है कि "परन्तु साथ ही वेद की उस भाषा से इस बात का भी संकेत मिलता है कि यह सूर्य दिव्य ज्योति को देने वाली शक्ति का प्रतीक है और स्वः दिव्य सत्य का लोक है।" इसी प्रकार श्री अरविन्द ने गौ, सूर्य तथा उषा आदि प्रतीकों पर बहुत कुछ लिखा है। ऋ० १०।६८।३ में इन दिव्य ज्योतिरूप गौओं को निम्न विशेषण दिए गये हैं।

१. साध्वर्याः—साधु पुरुष से प्राप्य अथवा साधुमार्ग से प्राप्य।
२. अतिथिनीः—जिनकी प्राप्ति की कोई तिथि निश्चित नहीं है।
३. इषिराः—गतिशील।
४. स्पार्हाः—स्पृहणीय, वाञ्छनीय।
५. सुवर्णाः—उत्तम वर्णवाली, अथवा सुवर्णसमान ज्योतिर्मय।
६. अनवद्यरूपाः—अनिन्दित रूप वाली।

गौ के इन उपर्युक्त विशेषणों पर विचार या विवेचन मन्त्रार्थ के समय किया जायेगा। अब हम सामान्य दृष्टि से इन पर विचार करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता (१४।११) में कहा गया है कि "जब सत्त्व की वृद्धि होती है, तब इस शरीर के सब इन्द्रियद्वारों में प्रकाश पैदा होजाता है।" यही इन्द्रियों का दिव्य प्रकाश है या दूसरे शब्दों में दिव्य शक्तियां हैं। सामान्य प्रकाश तो सर्वसाधारण मनुष्यों की इन्द्रियों में होता ही है। परन्तु सत्त्व की वृद्धि होने पर जो प्रकाश पैदा होता है, वह सामान्य अवस्था के प्रकाश से भिन्न ही होता है। वास्तव में यह प्रकाश आत्मज्योति का है। सत्त्व की वृद्धि होने पर यह और भी विस्तृत व व्यापक हो जाता है। जिस समय यह आत्मज्योति बुद्धि, मन व इन्द्रियों आदि पर आकर पड़ती है, उस समय यह आत्मज्योति आत्मा की न कही जाकर बुद्धि, मन व इन्द्रियों आदि की कही जाती है। जिस प्रकार ओट में छिपे भगवान्[1] की ज्योति सूर्य पर आकर पड़ती है और सूर्य को ज्योतिष्मान् बनाती है। उस समय वह भगवान् की ज्योति न कही जाकर सूर्य की ज्योति कहलाती है। और जिस प्रकार सूर्य की ज्योति चन्द्रमा पर आकर पड़ती है,

---

१. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ ६।१५
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषः। ऋ० १।११५।१

उस समय वह सूर्य की न रहकर चन्द्रमा की ज्योति कहलाती है। इसी प्रकार आत्म-ज्योति मन, बुद्धि आदि दर्पणों पर पड़कर उस दर्पण की ज्योति करके कही जाती है। ब्रह्माण्ड में भगवान् की ज्योति को प्रतिक्षिप्त करने वाले पदार्थ अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा विद्युत् आदि देवता करके व्यवहार में आते हैं। इसी प्रकार पिण्ड अर्थात् शरीर में आत्मारूपी सूर्य की ज्योति को प्रतिक्षिप्त करने वाले जो अंग है, उनका भी वैदिक साहित्य में सूर्य आदि नामों से वर्णन किया गया है।

वेदों व अन्य शास्त्रों में आता है कि एक-एक देवता शरीर व इन्द्रिय-गोलकों में आकर बैठा हुआ है। ऐतरेयारण्यक[1] में आता है कि 'अग्नि वाक् बनकर मुख में प्रविष्ट हुई है, वायु प्राणरूप होकर नासिकाओं में प्रविष्ट है, सूर्य चक्षुशक्ति बनकर आंखों में प्रविष्ट हुआ है, दिशायें श्रोत्रशक्ति बनकर दोनों कानों में प्रविष्ट हैं और चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया है। इसी प्रकार अन्य सब देव भी शरीर में शारीरिक शक्ति बनकर प्रविष्ट हुए हैं। जिस प्रकार बाह्य जगत् में ये सब देवता उस परमात्म-ज्योति के द्वारा ज्योतिष्मान् होते हैं, इसी प्रकार शरीर में ये आत्म-ज्तोति से ज्योतिष्मान् होते हैं।

इन्द्रियाँ देवताओं की गौएं हैं

शरीर में इन्द्रिय-स्थानों पर बैठे हुए इन देवों की ज्योतियों को वेद की परि-भाषा में देवताओं की गौएं कहा गया है। इसका भाव यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मनुष्यों को गौएं दूध पिलाती हैं और सूर्य की किरणें औषधि, वनस्पति आदि में से रस लेकर सूर्य को पिलाती हैं, इसी प्रकार शरीर में विद्यमान ये इन्द्रिय-किरणें बाह्य जगत् से तत्तत् सम्बन्धी ज्ञान-रस प्राप्त कर अपने देवताओं को पान कराती रहती हैं। इसलिए वेद की परिभाषा में इन्हें 'गौ' नाम दे दिया गया प्रतीत होता है। इन्हें इन्द्रिय-किरण कहलेवें, इन्द्रिय-प्रकाश कहलेवें, इन्द्रिय-शक्तियां या देवताओं की गौएं कहलेवें बात एक ही है। अब आगे हम इन्हें 'गौ' नाम से भी सम्बोधित करेंगे। मन्त्रों में इन इन्द्रिय-किरणों व शक्तियों को देवों की गौएं कहा गया है। और यह भी आता है कि 'वल' जिसको ब्राह्मण-ग्रन्थों में असुर कहा गया है, इन गौओं को देवताओं से छीनकर छिपा देता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस आधार पर दो एक कथानक भी आते हैं, जिनका स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे। यह 'वल' इन्द्रिय-ज्योतियों पर पड़ाहुआ मल व आवरण है। वैदिक-साहित्य में आता है कि वलरूपी मल या आवरण को हटा देने पर इन्द्रिय-शक्तियां प्रकट हो जाती हैं। और इनको नाना साधनों द्वारा इतना बढ़ाया जा सकता है कि ब्रह्माण्ड में इनका अपने क्षेत्र का कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं बचता जो कि इनकी पहुंच से बाहर हो। परन्तु संसार में हम यह देखते हैं कि

---

१. अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् आदित्य-श्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणीप्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन् ······चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। ऐ० २।४।२

साधारण मनुष्यों की इन इन्द्रियों में ऐसी कोई दिव्य ज्योति व दिव्य शक्ति नहीं होती। इसका कारण यह है कि उनकी इन्द्रियां आदि चिमनियां बहुत मलिन व धुंधली होती हैं। जिस प्रकार काला व मलिन शीशा सूर्य की ज्योति को ग्रहण नहीं कर सकता, उसी प्रकार धुंधली व मलिन इन्द्रियां आत्मज्योति को ग्रहण ही नहीं कर सकतीं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऐसे मनुष्यों में दिव्य ज्योति होती ही नहीं। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि आत्म-ज्योति तो सबके अन्दर है, पर साधारण मनुष्यों के दर्पणों पर 'वल' अर्थात् मैल का जो एक आवरण आया हुआ होता है। मैल के जमते-जमते जो एक पहाड़ बनगया है, इसके कारण वह बाहिर प्रकट होने नहीं पाती।

दिव्य गुरु बृहस्पति द्वारा शिष्य की दिव्य शक्तियों का उद्घाटन

अब प्रश्न यह है कि इन ज्योतियों अर्थात् देवताओं की गौओं को वलरूपी पहाड़ के नीचे से निकाले कौन? साधारण मनुष्य में तो यह शक्ति होती नहीं कि वह वल रूपी असुर के फन्दे से गौओं को छुड़ा सके। और फिर उसे पता भी नहीं होता कि ऐसी कोई दिव्य शक्ति होती भी है कि नहीं। इसलिए प्रायःकर साधारण मनुष्यों में अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी विषयों में श्रद्धा का अत्यन्त अभाव होता है। परन्तु जिन मनुष्यों के अन्दर इन विषयों के प्रति श्रद्धा होती है उनके लिए वेद बृहस्पति-सूक्तों द्वारा यह कहता है कि उन्हें ऐसे गुरु की अन्वेषणा करनी चाहिए जो कि दिव्य-शक्ति-सम्पन्न हो। और समित्पाणि होकर उसको गुरु धारण करना चाहिए। परन्तु किसी दिव्य-शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को गुरु धारण करना भी कोई मामूली बात नहीं है। वेद के शब्दों में यदि हम इसको और भी स्पष्ट कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि, उसे उस दिव्यगुरु का गर्भ बनजाना चाहिए। अर्थात् गुरु में अपनापन खो देना चाहिए। इस प्रकार जब मनुष्य किसी दिव्य व्यक्ति को अपना गुरु बना लेता है, तब गुरु सबसे पहले यह देखता है कि शिष्य में कौनसी शक्ति सुगमता से बाहिर लायी जा सकती है। क्योंकि संसार में हम देखते हैं कि इस जगत् में भिन्न-२ शक्तियों वाले मनुष्य होते हैं। किन्हीं में कोई शक्ति बढ़ीहुई होती है, तो किन्हीं में कोई शक्ति। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि किन्हीं शक्तियों पर तो आवरण की तह मोटी है तो किन्हीं पर सूक्ष्म व विरल होती है। कई ऐसे भी मनुष्य हैं या यूं कहना चाहिए कि प्रायः अधिकतर ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिनकी सभी शक्तियों पर आवरण की मोटी तह जमी हुई होती है। उस तह को हटाने के लिए तो बहुत काल लग सकता है और जन्म-जन्मान्तर तक लग सकते हैं। परन्तु जिन मनुष्यों में किसी शक्ति पर बहुत ही सूक्ष्म आवरण होता है, उसको तो सामान्य प्रहार से फोड़ा जा सकता है। इसलिए सबसे प्रथम गुरु शिष्य को देखकर यह पता लगाता है कि कौनसी शक्ति सुगमता से बाहिर आ सकती है। मन्त्र में आता है कि—

"अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्" ऋ० १०।६८।८

वह बृहस्पति पत्थर से ढके हुए उस दिव्य ज्ञान (मधु) को इस प्रकार देख

लेता है, जिस प्रकार उथले पानी में मछली देख ली जाती है।

और जिन शक्तियों पर आवरण की तह सूक्ष्म होती है वे शक्तियां मनुष्य में खूब बड़ी हुई होती हैं। वे उस मनुष्य में चुप नहीं बैठतीं। बार-बार बोलती हैं। ऐसी शक्तियों के सम्बन्ध में वेद में कहा गया है कि—

"बृहस्पतिरमत त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्" ऋ० १०।६८।७

वह बृहस्पति उन शक्तियों को जान लेता है जो कि गुफा में छिपी हुई बोल रही हैं।

इस प्रकार सबसे प्रथम यह जानने की आवश्यकता है कि, शिष्य के अन्दर छिपी हुई शक्तियों में कौन-सी ऐसी शक्ति है जो कि सुगमता से बाहिर लायी जा सकती है। सर्वप्रथम उसी को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि एक शक्ति के बाहिर आने पर अन्य शक्तियां भी सुगमता से बाहिर आ सकती हैं। दिव्य गुरु ही यह काम सुचारु रूप से कर सकता है। जब गुरु शिष्य को देखकर यह पता लगा लेता है कि आवरण के नीचे दबी अमुक शक्ति सुगमता से बाहिर आ सकती है, तो वह अपनी शक्ति के प्रभाव से सुगमता से उसे बाहिर निकालता है। और उस स्थान पर उस शक्ति का बीज बोता है जहां कि आवरण का पहाड़ न खड़ा हो। इसका भाव यह है कि गुरु को यह चाहिए कि सबसे पहले शिष्य के उस व्यसन व आवरण पर सीधा प्रहार न करे, जो व्यसन व आवरण बढ़ते-बढ़ते पहाड़ का रूप धारण कर चुके हैं। उन पर सीधा प्रहार करने का यह परिणाम निकलेगा कि शिष्य चोरी छिपे उस व्यसन की पूर्ति करेगा। गुरु को यह न पता चल जाये कि मैं निषिद्ध व्यसन की पूर्ति कर रहा हूं, इसको छिपाने में वह असत्य भी बोलेगा। और इस प्रकार शनैः-शनै उसकी गुरु के प्रति श्रद्धा भी जाती रहेगी। इसलिए इन सब बातों को ध्यान में रखकर गुरु को यह चाहिए कि वह शिष्य की उन बातों को अपील करे जो श्रेष्ठ हों। पहले उनको समुन्नत करे। जब श्रेष्ठ बातें बहुत बढ़ जायेंगी तो अन्य सब व्यसन स्वयं जाते रहेंगे। इसी दृष्टि से वेद में वृहस्पति के सम्बन्ध में कहा कि—

"बृहस्पतिः पर्वतेभ्योवितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः" ऋ० १०।६८।३

अर्थात् वृहस्पति ने 'वल' के पर्वतों के नीचे से दिव्य शक्तियों को निकालकर और उनसे दूर हटाकर शिष्य में उनका बीज-वपन किया। जिस प्रकार किसान अन्न का भण्डार भरकर रखने वाले वैश्यों से जौ आदि बीज लेकर खेत में बोते हैं।

दिव्य शक्ति का भण्डार सब मनुष्यों के अन्दर निहित है। केवल मात्र आवरण को हटाकर उसको बाहिर प्रकाश में लाना है। यह कार्य दिव्य गुरु ही बहुत अच्छी प्रकार कर सकता है। इसलिए मन्त्र में दिव्य गुरु वृहस्पति का यह कार्य बताया है। अब प्रश्न यह है कि जब गुरु ने वासनाओं व व्यसनों से आक्रान्त शिष्य की शक्तियों को उनसे पृथक् कर अन्यत्र बीज-वपन कर दिया तो वे शक्तियां कब वृक्ष रूप में बढ़कर पुष्पित व पल्लवित होंगी? अर्थात् वे शक्तियां कब इतनी बढ़ जायेंगी कि संसार की कोई भी विरोधी शक्ति उन्हें दबा न सके और ब्रह्माण्ड में उनकी गति अव्याहत हो।

इस सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं कि एक तो शिष्य ने गुरु के प्रति अपने आपको कितना समर्पण किया है। और दूसरे उसका अपना प्रयत्न व अभीप्सा कितनी है? प्रथम बात के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि गुरु का तीव्रतम प्रयत्न उसी अवस्था में हो सकता है, जब कि शिष्य गुरु में अपनेपन को खो देवे। और वेद के शब्दों में गुरु का गर्भ बन जाये। इसी दृष्टि से ऋ० १०।६८ सू० में गौ और बलासुर का वर्णन करते हुए द्वितीय मन्त्र में कहा कि—

"जने मित्रो न दम्पती अनक्ति"

अर्थात् (मित्रः) निर्माता बृहस्पति (जने) जनन कार्य में दम्पती की तरह अपने आपको व्यक्त करता है। भाव यह है कि जिस प्रकार स्त्री और पुरुष पुत्ररूप में अपने आपको व्यक्त करके दम्पती भाव को चरितार्थ करते हैं, उसी प्रकार यह बृहस्पति शिष्य के निर्माण में अपने को दम्पती की तरह समझता है। इसलिए गुरु की पूर्ण सहायता लेने के लिए आवश्यक है कि शिष्य गुरु में अपनेपन को खो देवे और उसे पूर्ण समर्पण कर देवे। परन्तु इस सम्बन्ध में एक प्रश्न हो सकता है कि शिष्य में पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना भरने के लिए गुरु को यह चाहिए कि वह अपनी दिव्य शक्ति के प्रभाव से या अन्य उपायों से शिष्य में यह विश्वास पैदा कर देवे कि उसका उद्धार यदि होना है तो यहीं होना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत अन्त तक गुरु का भी यह काम है कि वह शिष्य को समर्पण के लिए अनुकूल बनावें। वेद में अनेकों स्थलों पर ऐसा वर्णन भी आता है। परन्तु पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि गुरु का गर्भ बन जाने का क्या भाव है? प्राणियों में जब गर्भ-स्थिति होती है तो पहले पहल वह गर्भ **"कलल"** रूप में होता है। स्वर्ण से कुण्डल आदि बनाने हों, लोहे से मशीनरी बनानी हो तो पहले से सोने व लोहे को पिघलाकर सांचे में डाला जाता है। ऐसी अवस्था में ही लोहे व सोने को जैसे सांचे में डाला जायेगा, वैसा वे रूप धारण कर लेंगे। उपनयन के समय आचार्य ब्रह्मचारी को जब अपना गर्भ बनाता है, तब ब्रह्म-चारी की वह अवस्था बहुत कच्ची होती है। इस समय वह बहुत सख्त व दृढ़ नहीं होता। इसलिए इस समय शिष्य को जैसी शिक्षा दी जायेगी, वैसा वह बन जायेगा। फिर शिष्य के बनाने में आचार्य का तीसरा स्थान है। (**मातृमान् पितृमान् आचार्य-वान् पुरुषो वेद**) कुछ न कुछ माता-पिता से वह संस्कार लेकर आता है। इसलिए आचार्य को भी उसको ठीक-ठीक परिमार्जित व शिक्षित करने में बहुत कठिनाई होती है। परन्तु जो मनुष्य बड़ा होकर अध्यात्म में जाना चाहता है, वह एक प्रकार से पूर्ण परिवर्तन करना चाहता है। उसके लिए गर्भस्थ कलल के समान कोमल बनना अति दुष्कर है। क्योंकि उसके अपने विचार परिपक्व हो चुकते हैं। कुछ सिद्धान्त बने चुके होते हैं। और आदतें दृढ़मूल हो चुकती हैं, जिनको छोड़ना आसान काम नहीं है। इसलिए ऐसे व्यक्ति को सुकोमल बनाने के लिए कुछ तो परिस्थिति ठोकर देती हैं, जिससे उसके परिपक्व विचार व दृढ़ आदतें चकनाचूर हो जाती हैं, ग्रन्थियां टूट-फूट

जाती हैं, उस समय मनुष्य में एकदम परिवर्तन आता है। परन्तु शिष्य को कोमल बनाने में गुरु बहुत बड़ा सहायक है। वेद में आता है कि—

"तद् देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृढहाव्रदन्त वीडिताः"। ऋ० २।२४।३

अर्थात् बृहस्पति ने जब देवों (इन्द्रियों) को देवतम अर्थात् और भी दिव्य बनाना चाहा तो जो अपने अभ्यस्त बातों व आदतों में दृढ़ थे, उन्हें शिथिल कर दिया और जो बलवान् थे, उन्हें कोमल कर दिया। इन्हीं बातों को अन्य मन्त्रों (ऋ० २।२४।२,४) में भी कहा गया है।

इस प्रकार आचार्य भी अपनी दिव्यशक्ति द्वारा शिष्य की परिपक्व आदतों को—जो कि अध्यात्म मार्ग में बाधक हैं, दूर करने का प्रयत्न करता है। शिष्य को यह चाहिए कि वह इन असुरों, वासनाओं आदि से लड़ने के लिए गुरु की शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने देवे। उसका अपनापन कुछ न रहे। इसलिए वेद में कहा है कि **"भरे-भरे अनुमदेम जिष्णुम्"** ऋ० १०।६७।९ हम प्रत्येक संग्राम में उस जयशील बृहस्पति के कार्यों का अनुमोदन करें अथवा उनके अनुकूल रहते हुए शत्रुओं के विनाश में हर्षित हों। इस प्रकार गुरु का प्रयत्न व शिष्य का प्रयत्न ये दोनों बातें होने पर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस दिन या इस तिथि को ये इन्द्रियां असुरों के पाशों से अवश्य छूट जायेंगी। इसलिए वेद में इन्हें 'अतिथिनी' कहा है। अर्थात् इनके प्रकट होने की कोई निश्चित तिथि नहीं है। परन्तु यह निश्चित है कि प्रयत्नशील व्यक्ति को ये अवश्य प्राप्त हो जायेंगी। इन्द्रियों में दिव्यता प्राप्ति की प्रथम शर्त यही है कि वे निर्मल व वासना-रहित हो जायें। □

तृतीय अध्याय

याजुष शाखाओं में बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति

वेदों में बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति ये दोनों नाम एक ही देवता के वाचक प्रतीत होते हैं। परन्तु इन दोनों के सूक्त और मन्त्र वेदों में पृथक्-पृथक् रूप में पठित हुए हैं अत: इनमें कोई सूक्ष्म भेद अवश्य होना चाहिए। वह भेद क्या है? तत्सम्बन्ध में एक दृष्टि यह भी हो सकती है कि देवता व्यक्ति एक ही है। बार्हस्पत्य कार्यों के निर्वाह के समय वह बृहस्पति है तो ब्राह्मणस्पत्य कार्यों में वह ब्रह्मणस्पति नाम से कहा जाता है। अत: इन दोनों के कौन-से पृथक्-पृथक् कार्य हैं, यह विचारणीय है।

कृष्णयजुर्वेद की शाखा संहिताओं में इन दोनों के सम्बन्ध में कुछ कथन हुए हैं जो कि इनके भेद को दर्शाते हैं। हम सर्वप्रथम बृहस्पति-सम्बन्धी प्रकरणों पर विचार करते हैं।

पौरोहित्य में बृहस्पति चरु

मैं० सं० २।२।३ में आता है कि "पौरोहित्य[1] की कामना वाले ब्राह्मण को चाहिए कि वह बृहस्पति देवता को अर्पित करने के लिए चरु (हविर्द्रव्य) तैयार करे। यहां बृहस्पति-सम्बन्धी याज्या और अनुवाक्या नाम के मन्त्र बोले जाते हैं, ये मन्त्र ज्योतिष्मती कहलाते हैं।

उपर्युक्त कथन का रहस्य यह है कि पौरोहित्य की कामना वाले ब्राह्मण को यह चाहिए कि ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी बार्हस्पत्य शक्ति को अपने अन्दर उद्बुद्ध करने के लिए अन्नों द्वारा जो चरु तैयार करे उसमें इस बात का ध्यान रखे कि वह मस्तिष्क-शक्ति को प्रवृद्ध करने वाला हो। वस्तुत: बाह्य यज्ञों में देवता को देने के लिए जो चरु तैयार किया जाता है वह प्रतीक मात्र ही होता है। प्रतीक के व्याज से आन्तरिक भाव को ही अर्पित करना पड़ता है। देवता को अर्पण करने के निमित्त हविर्द्रव्य चरु के तैयार हो जाने पर हवि-अर्पण के समय कुछ मन्त्र बोले जाते हैं जिन्हें याज्ञिक परिभाषा में याज्या या अनुवाक्या कहते हैं।

याज्या

मीमांसा कोष में आता है कि **'यया इज्यते सा याज्या'** अर्थात् जिससे यजन किया जाए वह याज्या होती है। इसी कथन को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है

---

१. **बार्हस्पत्यं चरुं निर्वपेत् पुरोधाकामस्तस्य बार्हस्पत्ये ज्योतिष्मती याज्यानुवाक्ये स्यातां, ब्रह्म वै बृहस्पतिर्बार्हस्पत्यो ब्राह्मणो देवतया, स्वामेव देवतां पुरोधाया उपासरत् ॥ मैं० सं० २।२।३**

"त्यज्यमानहविर्द्रव्यं देवतोद्देशार्थविहितमन्त्रत्वं याज्यात्वम्" अर्थात् देवता को उद्देश्य करके हविर्द्रव्य देते समय जो मन्त्र बोला जाता है वह मन्त्र याज्या कहलाता है। इसी बात को निम्न शब्दों में भी प्रकट किया गया है। **"देवतां यागकाले येन मन्त्रेण उद्दिशति तस्य याज्यात्वम्"** याग के समय जिस मन्त्र से देवता को उद्देश करता है वह मन्त्र याज्या है अर्थात् याज्या से देवता का निर्देश किया जाता है।

अनुवाक्या

जब अध्वर्यु[1] हविर्द्रव्य को जुह्वा (चमचा) में लेता है तब होता को यह आज्ञा देता है कि 'अनुब्रूहि' अनुवचन कर अर्थात् मेरे पीछे-पीछे बोल। तदनुसार होता एक मन्त्र या दो मन्त्रों का पाठ करता है। ये मन्त्र अनुवाक्या कहलाते हैं। कहीं-कहीं होता के स्थान पर मैत्रावरुण पाठ किया करता है। अन्तर्यजन में याज्या से अभीष्ट देवता का निर्देश स्मरण उसका ध्यान किया जाता है और अनुवाक्या से उसका गुणकीर्तन होता है। देवता[2] को ध्यान में लाकर तथा खड़ा होकर याज्या का पाठ करे और बैठ कर अनुवाक्या का। याज्या मन्त्रों का पाठ आरम्भ करके जब तक याग समाप्त न हो तब तक पाठ विच्छेद न करे। अर्थात् याज्या का आरम्भ करके जब तक याग समाप्त न हो तब तक विच्छेद नहीं करना चाहिये। इसी बात को **'अनवानं यजति-अनवानं मध्ये श्वासमकृत्वा पठनम्'** अर्थात् याज्या और अनुवाक्या को एक श्वास में ही बोलना चाहिये। इस उपर्युक्त कथन को अन्तर्याग में इस प्रकार समझ सकते हैं कि जब याज्या मन्त्र द्वारा ध्यान में अभीष्ट देवता को ले आवे तब अनुवाक्या मन्त्र द्वारा उस देवता का चिन्तन और गुणकीर्तन होना चाहिए। मध्य में किसी प्रकार का विचार या व्यवधान नहीं होना चाहिए। इसका सर्वोत्तम उपाय यही बताया कि याज्या और अनुवाक्या मन्त्रों को एक श्वास में ही बोला करे।

ज्योतिष्मती

याज्या और अनुवाक्या नामक मन्त्रों को ज्योतिष्मती कहा गया है अर्थात् ये ज्योति-रूप हैं। वस्तुतः याज्या और अनुवाक्या ये दो आन्तरिक भाव हैं और तदनुसार अभीष्ट देवता का चिन्तन, यजन तथा उनका स्तवन ये दो आन्तरिक कर्म हैं। इन आन्तरिक भावों व कर्मों को दर्शाने वाले मन्त्रों को भी याज्या और अनुवाक्या कह दिया है। ये याज्या और अनुवाक्या नामक भाव व कर्म ज्योतिस्वरूप होने चाहिए। प्रकाशित विचार और प्रकाशित कर्म की स्थिति का यहां दिग्दर्शन हुआ है। ज्योति व प्रकाश के स्वरूप को निम्न शब्दों में दर्शाया है। **"यद्वै लेलाय वीव भाति तज्ज्योति-**

---

१. **अध्वर्युर्यदा हविर्जुह्वां गृह्णाति तदा अनुब्रूहि इति प्रैषं ददाति तदा होता क्वचित् मैत्रावरुणो वा मन्त्रं वा मन्त्रौ वा पठति स तौ वा मन्त्रौ अनुवाक्या नाम।**

२. **तिष्ठन् याज्यामन्वाह, आसीनः पुरोनुवाक्याम्।**
याज्यामारभ्य यावद् यागो न समाप्यते तावत् पर्यन्तं विच्छेदो न कर्त्तव्यः।
—मीमांसा कोष

स्तस्माज्ज्योतिष्मती' मै० सं० २।२।३ जो लपलपाती हुई तथा चमकती हुई-सी प्रतीत हो वह ज्योति है। (वि इव भाति)। सामान्य भौतिक अग्नि के लिए उपमार्थक 'इव' का प्रयोग समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि भौतिक अग्नि तो चमकती ही है। अतः यह आन्तरग्नि है, आन्तरिक ज्योति है। पुनश्च बृहस्पति ज्ञान-विज्ञान का अधिपति है। बुद्धि सर्ग का आदि स्रोत है; ऋतम्भरा प्रज्ञा का स्वामी है। अतः उसके ध्यानकीर्तन से मनुष्य में भी ज्योति का प्रादुर्भाव होता है। यह ज्योति ऊर्ध्व में उद्‌बुद्ध हो चतुर्दिक प्रसृत होती है। शारीरिक अंगों को प्रकाशित करती है।

इस प्रकार याज्या और अनुवाक्या मन्त्रों में प्रतिपादित बृहस्पति स्वरूप को ध्यान में रख ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि करने वाले चरु को भक्षण करने वाला व्यक्ति पुरोहित पद को प्राप्त करता है।

ग्राम तथा पशुओं की प्राप्ति के निमित्त चरु-भक्षण

"बार्हस्पत्यं चरुं निर्वपेत् पयसि ग्रामकामो वा पशुकामो वा"। मै० सं०२।२।३

अर्थात् ग्राम की कामना तथा पशुओं की कामना वाला व्यक्ति चरु को दूध में तैयार करे। दूध ऐसे व्यक्ति के घर से लावे जो सर्व प्रकार से परिपुष्ट हो अथवा अपने घर की गौओं का भी दूध लिया जा सकता है। जल भी अपने घर का हो। इस प्रकार बार्हस्पत्य चरु तैयार करने से पुष्टि होती है और ग्राम तथा पशुओं की उपलब्धि होती है। यहां ग्राम से प्रदेश तथा जन-समूह दोनों का ग्रहण हो सकता है। बृहस्पति के प्रसंग से अन्तर्यजन के ये ग्राम और पशु आन्तरिक होंगे।

एक प्रकरण आता है कि **"ब्रह्म वै बृहस्पति बृहस्पतिश्छन्दांसि छन्दोभिर्बृहस्पतिर्गणी, स्वां वा एतद् देवतां भूयिष्ठेनार्पयति सजातैरेनं गणिनं करोति"** मै० सं० २।२।३ अर्थात् ब्रह्म ही बृहस्पति है, सब छन्दों में विविध प्रकार से ब्रह्म का ही प्रतिपादन होने के कारण ये सब छन्द ब्रह्म रूप हैं अर्थात् बृहस्पति रूप हैं। छन्द प्राणों को भी कहते हैं **'प्राणाश्छन्दांसि'** कौ० ११।८,७।६,१७।२ भिन्न-भिन्न प्राण-समूहों, जीवों तथा प्रदेशों के आच्छादन करने वाले सृष्टि के भिन्न-भिन्न स्तर हैं। और एक छन्द-प्राण स्तर में भी भिन्न-भिन्न जीवों के अनेक गण हैं। इन गणों के कारण यह बृहस्पति गणी (गणमस्यास्तीति) है। मानव-शरीर में ये भिन्न-भिन्न प्राण ही छन्द हैं। जब ये छन्दात्मक प्राण बृहस्पति-सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान में अर्पित होते हैं, तब ये सजात—समान जाति के गण माने जाते हैं। बाह्य यजन में कई प्रकार के छन्दों से छन्दित विद्यार्थी-समूह का भी सजात गण में परिगणन किया जा सकता है अथवा बृहस्पति के प्रसंग से सजात शब्द से ब्राह्मण-समूह का भी ग्रहण हो सकता है।

काठक संहिता में यही प्रकरण कुछ भिन्न रूप में आता है। यथा-आनुषूक धान्यों से बार्हस्पत्य चरु तैयार करे। किसलिए ? क्योंकि बृहस्पति देवों में आनुजावर होता है। अर्थात् अन्य देवों में छोटा होता है, निकृष्ट होता है। पर इस बार्हस्पत्य चरु के भक्षण से वह सब देवों में अग्रणी हो जाता है और देवों का गुरु बन जाता है।

अतः जो व्यक्ति आनुजावर होता है अर्थात् अन्यों की अपेक्षा निकृष्ट होता है यदि वह बड़ा बनना चाहे तो उसका आराध्य देव बृहस्पति होता है ।

इस प्रकरण के भाव को हृदयङ्गम करने के लिए सर्वप्रथम आनुषूक तथा आनुजावर[1] इन दो पारिभाषिक शब्दों को समझना चाहिए ।

आनुषूक

आनुषूक[2] व्रीहि कहलाते हैं । सायणाचार्य लिखता है कि 'धान्यों के कटने के पश्चात् उनके मूल (जड़) से जो पुनः धान्य अंकुरित हो जाते हैं उन्हें आनुषूक कहते हैं । उन आनुषूक धान्यों से निष्पन्न चरु बृहस्पति के लिए होता है ।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि बार्हस्पत्य चरु के लिए आनुषूक धान्यों का ग्रहण क्यों किया गया ? इसके भी दो समाधान हो सकते हैं । एक तो यह कि द्विजन्म की दृष्टि से यह प्रतीकात्मक है और बृहस्पति आचार्य के शिष्य-वर्ग के प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है क्योंकि शिष्य वर्ग भी आचार्य-गर्भ से पुनः जन्म लेता है । (अनु= पुनः, सूयन्ते= उत्पद्यन्ते, जायन्ते) । दूसरा समाधान यह है कि इन धान्यों में मनुष्य का हाथ नहीं लगा है । इसलिए ये अत्यन्त शुद्ध व पवित्र होते हैं क्योंकि जिस-जिस प्रकृति का मनुष्य होता है उस-उस प्रकृति का अंश तत्सम्बद्ध वस्तु में संक्रान्त हो जाता है । हिंसक, पापी व क्रूर व्यक्ति के हाथ से स्पर्श हुई वस्तु में हिंसा तथा पापादि का समावेश हो जाता है, यह स्वाभाविक है । आनुषूक धान्यों के पुनःप्ररूढ़ होने में मनुष्य का हाथ नहीं लगा है । ये ब्रह्म-शक्ति से उत्पन्न होते हैं और उसी की शक्ति से परिपक्व होते हैं अतः ये अत्यन्त पवित्र होते हैं । इन धान्यों का चरु भक्षण करने से बृहस्पति-सम्बन्धी बुद्धि में अत्यन्त निर्मलता, स्वच्छता, तथा दिव्यता होना स्वाभाविक हैं । ऐसे व्यक्ति में ही दिव्य ज्ञान व दिव्य शक्ति प्रादुर्भूत होती है और वह अनुजावरत्व अर्थात् नगण्यता व अप्रमुखता से प्रमुखता को प्राप्त करता है । तथा देवों में सर्वश्रेष्ठ बन जाता है ।

काठ० सं० ११।४ में कहा है कि **"पुनः प्रवृद्धं बर्हिर्भवति पुनः प्ररूढं इध्मः समृध्यै"** अर्थात् दुबारा उगी और प्रवृद्ध हुई बर्हि का ग्रहण करना तथा पुनः प्रवृद्ध इध्म अर्थात् समिधा को यज्ञ के लिए ग्रहण करना समृद्धि कराने वाला होता है । प्रथम धान्य तो मनुष्य द्वारा बोया जाता है पर पुनः प्ररूढ बर्हि व धान्य में मनुष्य का हाथ नहीं लगा होता । ये धान्य श्यामाक व नीवार आदि ही हो सकते हैं और भी कोई धान्य हो सकता है कि नहीं यह अन्वेषणीय है । इससे यह स्पष्ट है कि बृहस्पति बनने के लिए उत्कट कोटि की अपरिग्रह वृत्ति की अत्यन्त आवश्यकता है, आध्यात्मिक क्षेत्र

---

१. **बार्हस्पत्यं चरुं निर्वपेदानुषूकानां व्रीहिणामानुजावरो बृहस्पति र्वै देवानामानुजावरः सोऽग्रं पर्येत् बृहस्पतिरेतस्य देवता य आनुजावरः । काठक० सं० ११।४**

२. **व्रीहिस्तम्बेषु लूनेष्ववशिष्टमूलेभ्योऽनुसूयन्ते पश्चादुत्पद्यन्त इति द्वितीय फलरूपा व्रीहयोऽनुषूकास्तेभ्यो निष्पन्नम् । तै० सं० २।३।४ सायणभाष्यम् ।**

में पुनः प्रवृद्ध बर्हि व पुनः प्ररूढ़ इध्म के ग्रहण करने का यह भी रहस्य हो सकता है कि इन्द्रियां व मन आदि देव अपने पूर्व रूप का परित्याग कर जब पुनः दिव्य तेज तथा दिव्य शक्ति से प्रादुर्भूत होती हैं तब उनमें बृहस्पति-तत्त्व समाविष्ट होता है।

आनुजावर

आनुजावर के सम्बन्ध में सायणाचार्य लिखते हैं कि 'अनुज भ्राता से भी अवर' नगण्य अर्थात् अत्यन्त निकृष्ट को आनुजावर कहते हैं'।

इसी उपर्युक्त प्रकरण में बृहस्पति के सम्बन्ध में कुछ और भी वर्णन हुआ है। तैत्तिरीय संहिता २।४।४ का प्रकरण यहां दर्शाते हैं।

"प्रजापति[1] ने प्रजाओं का सृजन किया। प्रजापति से उत्पन्न होकर ये प्रजायें उससे पराङ्मुख हो गयीं। और उसके पास से दूर चली गयीं। दूर पहुंचकर उन्होंने जहां निवास किया उस स्थान पर गर्मुत् नामक अकृष्टपच्य अरण्य धान्य की उत्पत्ति हुई। तब प्रजापति और बृहस्पति इन दोनों ने सलाह कर इन प्रजाओं का अनुगमन किया। बृहस्पति ने प्रजापति से कहा कि इस गर्मुत् के प्रभाव से मैं तुम्हें प्रतिष्ठित करता हूं, तब इस धान्य से प्रभावित होकर सब प्रजायें तुम्हारे प्रति आकृष्ट होंगी और तुम्हारे पास पहुंचेंगी। यह निश्चय कर उन्होंने ऐसा ही किया।"

इसी प्रकार अगली कण्डिका में पशु की कामना वाले के लिए गर्मुत् नामक चरु के निर्वाप का विधान हुआ है। वहां बृहस्पति के स्थान पर पूषा ने प्रजापति के साथ पशुओं का अनुगमन किया। इस स्थल पर पूषा तथा सोम दोनों के प्रभाव से पशुओं का प्रजापति के प्रति आवर्तन हुआ। परन्तु मै० सं० २।२।४ में पशुओं का अनुगमन प्रजापति के साथ बृहस्पति ही करता है।

उपर्युक्त प्रकरण का रहस्य क्या है यह एक विचारणीय विषय है। प्रजापति से प्रजाओं तथा पशुओं का पराङ्मुख होने का तात्पर्य यह है कि उनका आगे प्रजनन न करना। क्योंकि प्रजापति का धर्म तो सदा प्रजनन करने का है। प्रजापति की ओर प्रजाओं तथा पशुओं का प्रत्यावर्तन हो और वे प्रजनन करने लगें, इसका उपाय यह है कि बृहस्पति प्रजापति का सहायक बने। बृहस्पति ज्ञान-विज्ञान का अधिपति है, आचार्य है। शिष्यों को द्वि-जन्मा बनाता है। अर्थात् उनका द्वितीय जन्म प्रजापति का कर्म है। इस प्रकार वह प्रजापति का सहायक बनता है। दूसरा भाव यह हो सकता है कि जब पुष्टिकर अन्नादि के अभाव में या कुपोषण से प्रजाओं तथा पशुओं में प्रजनन शक्ति का ह्रास हो जाता है तब वृष्टि का अधिपति बृहस्पति (उर्ध्वादिग्-बृहस्पति०) वर्षा करके प्रभूत मात्रा में अन्नादि की उत्पत्ति कर पशुओं के पोषण में

---

१. प्रजापतिः प्रजा असृजत ता अस्मात् सृष्टाः पराचीरायन् ता यत्रावसन् ततो गर्मुदुदतिष्ठत् ता बृहस्पतिश्चान्ववैतां सोऽब्रवीद् बृहस्पतिर् नमा त्वा प्रतिष्ठान्यथ त्वा प्रजा उपावर्त्स्यन्तीति तं प्रातिष्ठत् ततो वै प्रजापतिं प्रजा उपावर्तन्त०"

सहायक बनता है। जिससे कि प्रजनन शक्ति की वृद्धि होती है। इस प्रकार प्रजाओं तथा पशुओं का प्रजननोन्मुख होना प्रजापति की ओर प्रत्यावर्तन कहलाता है।

गर्मुत्

इसी प्रकरण में **'गर्मुत्'** भी एक विवादास्पद शब्द है। प्रजापति से पराङ्-मुख होकर प्रजाओं तथा पशुओं ने जहां निवास किया वहां गर्मुत् धान्य पैदा हो गया। गर्मुत् एक तृणधान्य है जो कि **'अकृष्टपच्या'** कहलाता है। अर्थात् मनुष्यों द्वारा बोया न जाकर स्वतः उत्पन्न होता है। यहां ऊपर दर्शाया गया है कि इस गर्मुत् के प्रभाव से प्रजा और पशु स्वतः प्रजापति की ओर प्रत्यावर्तन करते हैं। अर्थात् प्रजनन करने को उद्यत होते हैं। क्या गर्मुत्-तृणधान्य में प्रजा और पशुओं को प्रजननोन्मुख करने का गुण व शक्ति विद्यमान है, यह एक अन्वेषणीय विषय है।

यह गर्मुत् सोम और पूषा देवताओं का भी चरु बनता है, जिससे पशुओं की प्राप्ति होती है। पूषा पशुओं का अधिपति होता है। सोम रेतोधा होता है। चक्षु आदि इन्द्रियों में दर्शन आदि शक्तियां पशु हैं। सोम रूपी वीर्य जब उनमें पहुंचता है तब उनमें ऐन्द्रियिक शक्ति उत्पन्न होती है और पूषा से पुष्टि होती है। **"सौमापौष्णं चरुं निर्वपेद् गार्मुतं पशुकामः।** मै० सं० २।२।४। आगे कहा कि **"पृश्निर्वै यददुहत् स गर्मुदभवत् इयं वै पृश्नि०"** अर्थात् पृश्नि ने जो दोहन किया वह गर्मुत् हो गया। प्रश्न पैदा होता है कि पृश्नि क्या है? शास्त्रों में पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यु इन तीनों को पृश्नि कहा गया है। इन तीनों में से यहां किसका ग्रहण करें? इसका समाधान **'इयं वै पृश्निः'** से हो जाता है **'इयम्'** के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि यहां पृश्नि से पृथिवी का ग्रहण किया जायेगा। पृश्नि से पार्थिव शक्ति का ग्रहण करना चाहिए। जिस पार्थिव शक्ति के प्रभाव से ये नानाविध रंग-बिरंगे, चित्तकबरे पेड़-पौधे, लता-पुष्प-पल्लव-फल आदि पृथिवी की सतह को फोड़कर बाहिर प्रकट होते हैं। यह पृश्नि नामक पार्थिव शक्ति अकृष्टपच्या तृणधान्यों को दोहन कर बाहिर प्रकट करती है, वे तृणधान्य गर्मुत् कहलाते हैं।

शरीर में पृश्नि और गर्मुत्

मै० सं० २।२।४ में आता है कि **"इयं वै पृश्निर्वाग् वा तस्या वा एतत् शिरो यद् गर्मुतः"** यह वाक् पृश्नि है और इस वाक् का जो सिर (End organs) है वह गर्मुत् है। यह वाक् मस्तिष्कस्थ सप्त द्वारों (२कान+२नाक+२चक्षु+१मुख) में बिखरने वाली वाक् है। इस वाक् के सिरे मस्तिष्कस्थ केन्द्र (Brain Centres) हैं। यह सप्त द्वारों में बिखरी वाक् क्रिया-सूत्रों तथा ज्ञान-सूत्रों (Sensory, Motor Nerves) व नस-नाडियों द्वारा शरीर में सर्वत्र फैली हुई है।

इस वाक् के दो सिरे होते हैं। एक तो (End organs) अर्थात् शरीर में सर्वत्र फैले ज्ञान-सूत्रों के बाह्य सिरे दूसरे मस्तिष्क में विद्यमान आन्तरिक सिरे। ज्ञान सूत्रों के ये दोनों सिरे गर्मुत् हैं। बाह्य सिरों से संसार का सामान्य ज्ञान होता है और

आन्तरिक सिरों से दिव्यज्ञान का प्रजनन होता है। इन दोनों प्रकार के ज्ञानों की उत्पत्ति में बृहस्पति सहायक होता है। प्रत्येक व्यक्ति इन गर्मुत् नामक सिरों में बैठा हुआ संसार से सम्बन्ध रखता है। संसार से सम्बन्ध होते हुए भी प्रायः व्यक्ति कुछ भी ज्ञान-अर्जन नहीं करते अर्थात् प्रजापति से पराङ्मुख होते हैं पर कोई विरला ही मनीषी प्राकृतिक तत्वों व सृष्टिघटकों से सम्पर्क कर अद्भुत रहस्यों का प्रकटन कर देता है। ऐसे दिव्य प्रजनन में यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि बृहस्पति की शक्ति उसमें सक्रिय है। एक प्रकार से बृहस्पति प्रजापति की सहायता कर रहा होता है।

पशु

आन्तरिक क्षेत्र में पशु प्राण है, ये पशु प्राण छन्द रूप हैं[1]। प्राण-छन्द-इन्द्रिय वीर्य-रस ये सब शरीर के आन्तरिक घटक वैदिक भाषा में पशु हैं। जिस प्रकार गौ आदि पशु मनुष्यों को दुग्ध आदि प्रदान करते हैं उसी प्रकार ये रसात्मक छन्द रूपी पशु देवों व दिव्य भावों को रस प्रदान करते हैं[2]।

समाज की दृष्टि से यदि हम उपर्युक्त प्रकरण पर विचार करें तो शास्त्रों के आधार पर यह कह सकते हैं कि बच्चे पशु हैं बृहस्पति रूपी दिव्य गुरु की सहायता से इनका प्रजनन अर्थात् द्वितीय जन्म (दिव्य जन्म) किया जाता है।

इस प्रकार शरीर में वाक् दृष्टि से ज्ञान-सूत्रों के दोनों अन्तिम सिरे (End Organs) गर्मुत् हैं और बाह्य तथा आन्तरिक दोनों सिरों से प्रजनन होता है। और वह ज्ञान का प्रजनन कहा जा सकता है।

अब हम संक्षेप में यह भी प्रदर्शित करते हैं कि 'गर्मुत्' इस नाम से क्या रहस्य पता चलता है? व्युत्पत्ति के आधार पर 'गर्मुत्' शब्द गर्+मुद् गॄ निगरणे तथा मुद् हर्षे धातुओं से बना है। उद्गिरण, प्रस्फुटन, प्रजनन ये सब पर्यायवाची शब्द हैं तथा मुद्, मोद, हर्ष व आनन्द भी एक ही स्थिति के द्योतक हैं। प्रजनन में आनन्द ही होता है। दिव्य प्रजनन में तो आनन्दातिरेक की स्थिति होती है। यह आनन्दानुभूति ही गर्मुत् है। क्योंकि यह ज्ञान-सूत्रों के अन्तिम सिरे से प्रजनन में होती है। अतः यह गर्मुत् है। आनन्दानुभूति न हो तो कोई किसी प्रकार का प्रजनन ही न करे। दिव्य प्रजनन होने पर पूषा उसका पोषण करता है और सोम दिव्य रस प्रदान करता है। इस प्रकार दिव्य तथा अदिव्य प्रजनन में प्रजापति, बृहस्पति, पूषा तथा सोम इन चारों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है।

---

१. प्राणा वै छन्दांसि। कौ० ७।६, पशवो वै छन्दांसि, श०प० ७।५।२।४२, ऐ०ब्रा० ४।२१, तां० ब्रा० १६।५।११ इन्द्रियं वै वीर्यं छन्दांसि। तां० ब्रा० ६।६।२६ रसो वै छन्दांसि। श० प० ७।३।१।३७

२. पशवो वै देवानां छन्दांसि तद् यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति। श० प० १।८।२।८

पौरोहित्य कर्म किसका ?

बृहस्पति के लिए वेदों में पुरोहित पद का प्रयोग नहीं मिलता। ब्रह्मणस्पति[1] के लिए भी केवल ऋ० २।२४।९ में आया है परन्तु यजुर्वेद की शाखा[2] संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में बृहस्पति के लिए पौरोहित्य कर्म प्रमुख रूप से वर्णित हुआ है। वहां यह बृहस्पति देवों का पुरोहित बनता है। कर्मकाण्ड में यह बृहस्पति ब्रह्मा का आसन ग्रहण करता है। वस्तुतः देखाजाए तो यह पुरोहित-पद वेदों में प्रमुख रूप से अग्नि[3] के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। ऐसे बहुत ही विरल स्थल हैं, जहाँ अग्नि के अतिरिक्त अन्य इन्द्रादि देवों तथा वसिष्ठादि ऋषियों के लिए इस पुरोहित पद का प्रयोग हुआ हो। ऋग्वेद के सर्वप्रथम मन्त्र में ही अग्नि को पुरोहित कहा गया है। देवों का पुरोहित यह अग्नि ही माना गया है। यही अग्नि होता, अध्वर्यु, प्रशास्ता आदि बनता है, यही सब आर्त्विज्य कर्म का ज्ञाता है। यही आनुषंगिक रूप से क्रमिक रूप से यज्ञ-विधियों का जानने वाला है। इस प्रकार अनेकों मन्त्र अग्नि के पौरोहित्य को दर्शा रहे हैं। इन्द्रादि देवों के लिए पुरोहित पद का तथा याज्ञिक विशेषणों का प्रयोग अति गौण रूप में मिलता है। इन्द्र का पौरोहित्य केवल कर्म-विधान में है और वह उग्र कर्म में। कहा भी है "**विश्वस्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः**" ऋ० १।५५।३ एक स्थल पर वसिष्ठ[4] को भी पुरोहित पद से सुशोभित किया गया है।

अब शंका यह पैदा होती है कि जब सब प्रकार का पौरोहित्य कर्म अग्नि के लिए ही वर्णित हुआ है तो बृहस्पति का क्या स्थान रहा ? इस सम्बन्ध में हमारा समाधान यह है कि पौरोहित्य का कर्म अग्नि का ही है, पर वह अग्नि से बृहस्पति में संक्रान्त हो गया है। इस तथ्य को समझने के लिए हमें पुरोहित पद की व्युत्पत्ति को देखना चाहिए। निरुक्त में इस पद की व्युत्पत्ति यह दी है—'पुर एनं दधतीति **पुरोहितः**' अर्थात् सबसे पूर्व इसे रखा जाता है। सृष्टि-निर्माण-यज्ञ जब प्रारम्भ हुआ तो सबसे पूर्व अग्नि उपस्थित हुई। कहा भी है—'**स तपोऽतप्यत**' ब्रह्म का यह तप उसका अग्नि रूप ही है। इसी दृष्टि से ऋग्वेद का प्रारम्भ "**अग्निमीळे पुरोहितम्**" अग्नि से है और इसे पुरोहित कहा है। इस अग्नि के पश्चात् बृहस्पति आदि अन्य देवों की उपस्थिति होती है। बृहत् व महद् ब्रह्म का अधिपति बृहस्पति है, यह भी सृष्टि का प्रारम्भ है। और अग्नि का ही परिवर्तित रूप बृहस्पति है। क्योंकि

---

१. **स सन्नयः स विनयः पुरोहितः। ऋ० २।२४।९**
२. **बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः। मै० १।११।५**
३. **पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः, ऋ० १।४४।१०, अग्निर्देवानामभवत् पुरोहितः, ऋ० ३।२।८, १०।१५०।४, त्वमध्वर्युरुत होतासि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः। विश्वा विद्वां आर्त्विज्या धीर पुष्यस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव। ऋ० १।९४।६**
४. **अग्नि वसिष्ठो हवते पुरोहितः। ऋ० १०।१५०।५**

बृहस्पति आंगिरस है, सब आंगिरस अग्नि से ही पैदा होते हैं। **'ते अंगिरसःसूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे"** ऋ० १०।६२।५। इस दृष्टि से यह बृहस्पति अग्नि का ही एक रूप है। और अग्नि का पौरोहित्य-कर्म बृहस्पति के हिस्से में आया ऐसा हम कह सकते हैं। फिर भी पुरोहित पद का प्रयोग करने के लिए हमें यज्ञ का रूप अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म का स्वरूप देख लेना चाहिए। जहां उग्र कर्म की आवश्यकता है, वहां पुरोहित क्षात्र-शक्ति का प्रतिनिधि इन्द्र होगा और ब्राह्म कर्म तथा अन्य कार्यों में ब्रह्म-शक्ति का प्रतिनिधि बृहस्पति होगा। इसी दृष्टि से प्रत्येक क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है।

इस प्रकार पुरोहित पद का वास्तविक भाव क्या है, यह हमने देखा। पुरोहित प्रत्येक कार्य में सबसे पूर्व सेवनीय है, अतः बृहस्पति को ऋ० ४।५०।७ में **पूर्वभाजम्** =सबसे पूर्व सेवनीय, यह विशेषण दिया गया है। संसार का कोई भी व्यवहार धार्मिक कृत्य, राष्ट्र, समाज व जाति-सम्बन्धी सभी समस्याओं के सम्बन्ध में पुरोहित को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। ऐ०ब्रा० ८।२६ के आधार पर ऋ० ४।५०।७—९ इन तीन मन्त्रों में पुरोहित की महिमा गायी गयी है।

पौरोहित्य किसका ? ब्राह्मण का ही

पौरोहित्य का कार्य ब्राह्मण का ही है, ऐसा शास्त्रों से ध्वनित होता है। यथा **"ब्रह्म वै बृहस्पतिर्बार्हस्पत्यो ब्राह्मणो देवतया, स्वामेव देवतां पुरोधाया उपासरत्, स्वैनं देवता पुरोधां गमयति"** मैं० स० २।२।३ ब्रह्म ही बृहस्पति बनता है और बृहस्पति से ही ब्राह्मण की उत्पत्ति होती है। अतः पौरोहित्य की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण स्वकीय आराध्यदेव पितृतुल्य बृहस्पति के पास पहुँचता है। यह उपर्युक्त तथ्य इस वाक्य से स्पष्ट होता है—**"बार्हस्पत्यो ब्राह्मणो देवतया स्वामेव देवतां पुरोधाया उपासरत्"** अतः इससे सिद्ध है कि पौरोहित्य कर्म ब्राह्मण का है, अन्य वर्णों का नहीं। आगे कहा गया है कि यदि किसी प्रकार पौरोहित्य पद प्राप्त न होवे तो इन्द्राबार्हस्पत्य हवि[1] का निर्वाप करे। अर्थात् ब्रह्म और क्षत्र दोनों प्रकार की शक्तियों को सयुज तथा समन्वित कर अपने अन्दर उद्बुद्ध करे; ऐसा व्यक्ति जिसमें ब्रह्म-शक्ति के साथ इन्द्र-शक्ति अर्थात् क्षत्र-शक्ति भी प्रभूत मात्रा में उत्पन्न हो गई है, उस व्यक्ति को ही सब कोई कर्म-विधान में पूछते हैं। सलाह लेते हैं और पौरोहित्य कर्म कराते हैं। परन्तु यह इन्द्राबार्हस्पत्य-चरु का निर्वाप ब्राह्मण ही करता है क्षत्रिय नहीं। क्षत्रिय के लिए तो मनु का यह स्पष्ट आदेश है—

"जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसींवृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्॥"
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥ मनु० १०।९५, ९७

---

१. **यदि नेव पुरोधां गच्छेदथैन्द्राबार्हस्पत्यं हविर्निर्वपेद् ब्रह्म चैव क्षत्रं च सयुजा अकस्ताजगेनं पुरोदधते। मैं० सं० २।२।४**

ब्राह्मणों का अधिपति बृहस्पति —

वैदिक साहित्य में बृहस्पति, ब्रह्म तथा ब्राह्मण प्रायः पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं। बृहस्पति को हम ब्राह्मणों का आदि स्रोत व अधिपति कह सकते हैं। बृहस्पति का स्वरूप-निर्धारण करते हुए हम यह दर्शा चुके हैं कि बृहत् (महत्तत्त्व) बृहस्पति का क्षेत्र है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सच्चा ब्राह्मण वही है जो कि ऊर्ध्वारोहण कर बृहत् अर्थात् महत् तत्त्व व महद् ब्रह्म के क्षेत्र में जा पहुँचा है, एक प्रकार से अहंकार से ऊपर उठ चुका है। अतः ब्राह्मण कौन है ? इस प्रश्न के निर्णय में गुण-कर्म व स्वभाव आदि जो नियामक तथ्य व चिह्न प्रदर्शित किये जाते हैं, उनका केन्द्रबिन्दु व आदर्श एकमात्र यही है कि अहंकार से ऊपर उठ जाना। जो क्षत्रिय व वैश्य आदि वर्णस्थ व्यक्ति अहंकार से ऊपर उठ चुका है और महद् ब्रह्म के क्षेत्र में जा पहुँचा है, वह सच्चा ब्राह्मण है, ऐसा हमें समझना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव सत्त्व-रज-तम आदि त्रिगुण से प्रभावित होता है। जिस गुण का जिसमें प्राबल्य होता है, वही उसके वर्ण-निर्धारण में सहायक होता है। अहंभाव, ममता व आसक्ति आदि अहंकार की उपज है। जो व्यक्ति इनसे ऊपर उठ गया है और जिसमें सत्त्व का प्राबल्य हो गया है वह महद् ब्रह्म के क्षेत्र में पहुँच गया है, ऐसा हम निस्संकोच कह सकते हैं। त्रिगुणातीत भगवान् अथवा वे योगी पुरुष जो त्रिगुणातीत हो चुके हैं मानव-जाति व प्राणिमात्र के कल्याण के लिए सत्त्व, रज व तम में जिस गुण को अपनी लीला का आधार बनाते हैं उसी के आधार पर उनके वर्ण का निश्चय होता है। गीता के भगवान् श्रीकृष्ण त्रिगुणातीत होते हुए भी क्षत्रिय हैं ब्राह्मण नहीं यह हमें भली प्रकार ध्यान में रखना चाहिए।

इसी प्रकार ब्रह्म-विद्या, योग, ऋषित्व व वेद-ज्ञान व विद्वत्ता आदि भी वर्ण के निश्चय में प्रधान साधन नहीं हैं। अजातशत्रु, राजा जनक आदि क्षत्रिय राजाओं से ब्राह्मण ब्रह्म-विद्या, यज्ञ-रहस्य तथा योग आदि की शिक्षा लेने गये, पर यह सब होते हुए भी अजातशत्रु तथा जनक ब्राह्मण व ब्रह्मर्षि नहीं कहलाये, राजर्षि ही रहे। मनुष्य का वृत्त (सदाचार) भी वर्ण निश्चय का एकान्तिक साधन नहीं है। वृत्त तो क्षत्रिय, वैश्य आदि का भी अत्यन्त उत्कृष्ट हो सकता है, तो फिर प्रश्न पैदा होता है कि ब्राह्मणत्व के निर्णय में वह केन्द्र-बिन्दु क्या है ; वह प्रमुख तत्त्व क्या है ? हमारे विचार में वह अहंकार से ऊपर उठना है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर मनु महाराज ने ब्राह्मणों के लिए कहा है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥ मनु० २।१६२

योगर्द्धि-सिद्धिसम्पन्न विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने तब तक ब्रह्मर्षि नहीं कहा जब तक उसमें अहंकार की सत्ता रही। पर जब वसिष्ठ के पैरों में पड़कर उसका अहंकार चूर-चूर हुआ तभी उसे वसिष्ठ ने ब्रह्मर्षि कहा।

अतः अहंकार से ऊपर महद् ब्रह्म व प्रकृति तक भी जो पहुँच गया है वह ब्रह्म के क्षेत्र में पहुँच गया है, ऐसा हमें समझना चाहिए।

वैदिक परिभाषा में परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति इन तीनों को ब्रह्म कहा जाता है। इसी दृष्टि से अथर्व वेद १०।७, ८ सूक्तों में **"तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः"** उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है—यह सूचित करता है कि कोई कनीयान् व कनिष्ठ ब्रह्म भी है। वे जीवात्मा तथा प्रकृति हो सकते हैं। प्रकृति का अगला रूप 'महद् ब्रह्म' भी ब्रह्म ही है। इसी दृष्टि से हमें उपनिषद् के इस वाक्य का तात्पर्य समझना चाहिए कि—**'यदा त्रयं विन्दते ब्रह्ममेतत्'** अतः इन उपर्युक्त कथनों से यह ध्वनित होता है कि 'ब्राह्मणत्व' के निर्णय में केन्द्र-विन्दु अहंकार से ऊपर उठना है। वस्तुतः अहंकार मनुष्य में सब बुराइयों की जड़ है। अहंकार को मारना या उससे ऊपर उठना जटिल अवश्य है किन्तु असम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य सब बातें गौण साधन ही हैं। □

चतुर्थ अध्याय

बृहस्पति-वर्ग की उत्पत्तियाँ

अथर्ववेद ४ काण्ड प्रथम सूक्त के बृहस्पति और आदित्य ये दो देवता माने गए हैं अर्थात् इस सूक्त को इन दोनों देवताओं में घटाया जा सकता है। सायणाचार्य ने अपने भाष्य में इस सूक्त को आदित्य परक लगाया है। हमारे विचार में जब इस सूक्त के बृहस्पति और आदित्य दोनों देवता हैं तो इन दोनों में ही इस सूक्त को घटाना चाहिए। यदि सूक्ष्म दृष्टि से इस पर विचार किया जाए तो हम यह कह सकते हैं कि भौतिक क्षेत्र में महदण्ड के अधिपति बृहस्पति (ब्रह्म) तथा सौरमण्डल के अधिपति आदित्य में केवल महत् तथा अल्प का ही भेद है। दोनों की सृष्टि-प्रक्रिया एक ही है। जिस प्रकार महदण्ड से सौरमण्डल आदि पृथक् हुए हैं उसी भांति सूर्य से ये ग्रह और उपग्रह पृथक् हुए हैं। इस दृष्टि से इन दोनों के वर्णनों में कोई भेद नहीं है।

इस सूक्त का प्रथम मन्त्र **'ब्रह्म जज्ञानं०'** पद से प्रारम्भ होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ ब्रह्म की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। महदण्ड और सौर-मण्डल से विविध प्रकार की उत्पत्तियाँ होती हैं उन सबका यहाँ ग्रहण न करके केवल ब्रह्म-सम्बन्धी उत्पत्ति अर्थात् बृहस्पति, बुद्धि-सर्ग व ब्रह्म-प्रमुख प्रजा की उत्पत्ति तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए। मानव-समाज में जब ब्राह्मण को प्रमुख माना जाता है तब इस सूक्त की चारितार्थता होती है। मै० सं० ३।२।६ में कहा है कि "प्रजापति[1] ने प्रजाओं का सृजन किया तो उसने जो ब्रह्म से पूर्व सृजन किया था उससे उसकी तृप्ति व सन्तुष्टि नहीं हुई और न अपनी सफलता समझी पर जब उसने ब्रह्म-मुख प्रजाओं का सृजन किया तभी उसने अपनी अभीष्ट सिद्धि समझी।"

यहाँ "ब्रह्म-मुख" शब्द समग्र सूक्त के रहस्य को स्पष्ट कर देता है। अर्थात् **'ब्रह्मजज्ञानं'** मन्त्र से तथा तत्सम्बद्ध अन्य मन्त्रों से जो भी उत्पत्ति वर्णित हुई है वह ब्रह्म-बृहस्पति-बुद्धि सर्ग तथा ब्राह्मण की दृष्टि से समझनी चाहिए। ब्रह्म से ब्राह्मण का भी ग्रहण करना है यह तै०सं० ५।२।७ "ब्रह्मजज्ञानमित्याह तस्माद् ब्राह्मणो मुख्यो मुख्यो भवति य एवं वेद" से स्पष्ट है। ब्रह्म बृहस्पति का वाचक है। यह संहिताओं में अनेकों स्थलों पर आता है। इसी कारण इस सूक्त का देवता भी बृहस्पति माना

---

१. **प्रजापतिः प्रजा असृजत याः पुरा ब्रह्मणोऽसृजत ताभिर्नाराध्नोदथ या ब्रह्ममुखा असृजत ताभिरराध्नोत् यद् ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् इति रुक्ममुपदधाति। मै० सं० ३।२।६, तै० सं० ५।२।७, का० सं० २०।५**

गया है। महत् तत्त्व अर्थात् ब्रह्म से जब बुद्धिसर्ग प्रारम्भ होता है तो सृष्टि-क्रम में आदित्य की उत्पत्ति में भी बृहस्पतित्व ही अपेक्षित होता है। इसी कारण अथर्ववेदमें आदित्य-स्थानी द्युलोक के तीन बृहतों का अधिपति बृहस्पति माना है। कहा भी है **"यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्"** अथर्व० ८।६।३

द्युलोक के ये तीन बृहत् मानव-पिण्ड में तीन मस्तिष्क हैं जहाँ कि बृहस्पति का आधिपत्य स्थापित किया जा सकता है। यह बृहस्पति-तत्त्व ऋषियों व परम ज्ञानियों में तो आविर्भूत होता है पर सामान्य मनुष्य में नहीं। महदण्ड की सृष्टि-प्रक्रिया की कल्पना कुछ दुरूह है पर आदित्य-सृष्टि कल्पना में समा सकती है। अतः भाष्यकारों ने मन्त्रों का अर्थ आदित्य-परक ही किया है। बृहस्पति (महत् तत्त्व का अधिष्ठातृदेव) परक नहीं। मन्त्र से ज्ञात होता है कि इस ब्रह्मोत्पत्ति का अधिष्ठाता बृहस्पति है। इसे ही हिरण्यगर्भ, वेन और आदित्य नामों से भी स्मरण किया जा सकता है। जब इस हिरण्यमय अण्डे से सीमा को भेदन कर चहुँ ओर रोचमान किरणें प्रवाहित होती हैं तब वेन[1] के प्रभाव से श्रेष्ठ प्राण ऊर्ध्वाभिमुख हो ऊर्ध्व की ओर गति करते हैं और अवाङ्मुख प्राण नीचे की ओर प्रयाण करते हैं। प्राणों की यह ऊर्ध्वगति ज्योतिर्मय गति है। यह प्रकाश-ज्योति व ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्ध रखती है। इन ऊर्ध्वाभिमुख, ज्योतिर्मय प्राणों का ही दूसरा नाम असत् है। इसी असत् से बृहन्त नामक देव उत्पन्न हुए हैं[2]। एवमेव अवाङ्मुख प्राणों को 'सत्' कहा जाता है। ये असत् और सत् सृष्टि रूपी अश्वत्थ वृक्ष की दो शाखाएँ हैं। असत् परम शाखा है, ऊर्ध्व शाखा है। सत् अवर शाखा है।[3] अधोमुखी शाखा है। ये रोचमान लोक-लोकान्तर इसी महद् ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं और ये महद्ब्रह्म की उपमा रूप हैं अर्थात् जिस प्रकार महदण्ड है उसी का लघु रूप ये ज्योतिर्मय लोक हैं।

इतना पूर्व कथन करने के पश्चात् प्रथम मन्त्र का अर्थ प्रदर्शित करते हैं और क्योंकि शास्त्रकारों ने इस मन्त्र का अनेकों क्षेत्रों में विनियोग किया है, उन सबको न लेकर केवल रुक्मोपधान ज्योति व हिरण्य का उपधान विनियोग पर ही कुछ प्रकाश डालते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

---

१. अयं वै वेनोऽस्माद्वा ऊर्ध्वा अन्ये प्राणा वेनन्त्यवाञ्चोऽन्ये तस्मादेनः।
असावादित्यो वेनो यद्वै प्रजिजनिषमाणोऽवेनत् तस्माद्वेनः॥ ऐ०ब्रा० १।२०
श० प० ७।४।१।१४

२. बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परिजज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परोजनाः॥ अथर्व० १०।७।२५

३. असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते॥ अथर्व० १०।७।२१

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् विसीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥

यजु० १३।३, साम० १।३२१, अथर्व० ४।१।१

(पुरस्तात्) सृष्टि के प्रारम्भ में (प्रथमं) सर्वप्रथम (ब्रह्म जज्ञानं) ब्रह्म पैदा हुआ (ब्रह्म = महत्ब्रह्म) । तत्पश्चात् (वेनः) उस तेजोमय वेन ने (सीमतः) सीमाओं व परिधियों से (सुरुचः) सुरोचमान रश्मियों व लोक-लोकान्तरों को (वि आवः) प्रकट किया (अस्य) इसकी (बुध्न्याः) मूल स्थान से प्रसृत अथवा अन्तरिक्ष में होने वाली (उपमाः) उपमायें स्व-सदृशाकृति पिण्ड उत्पन्न होकर (विस्थाः) विविध दिशाओं में स्थिर हुए (सः) वह वेन (सतश्च योनिमसतश्च) सत् और असत् की योनियों को (विवः) प्रकट करता है ।

ऐ० ब्रा० १।१९ में इस मन्त्र के ब्रह्म पद से बृहस्पति का ग्रहण किया है और बृहस्पति को सायणाचार्य ने अपने भाष्य में ब्राह्मण-जाति का आदि स्रोत व प्रमुख बताया है । याजुष शाखाओं में भी इसके संकेत उपलब्ध होते हैं । वहां प्रवर्ग्यात्मक यज्ञीय शिर की चिकित्सा का भी विधान है, जिससे यह स्पष्ट है कि यह मन्त्र पिण्ड में मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है ।

यजुर्वेद की शाखा-संहिताओं तै० सं० ५।२।७, मै० सं० ३।२।६, काठ० सं० २०।४ में इस मन्त्र का विनियोग रुक्मोपधान में किया गया है । रुक्मोपधान एक प्रतीकात्मक परिभाषा है । इन शाखा संहिताओं व शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में इस मन्त्र के आधार पर रुक्म क्या है ? उसके उपधान का क्या तात्पर्य है ? शरीर में यह किन रहस्यों को प्रकट करता है इत्यादि विषयों पर गूढ़ व प्रतीकात्मक भाषा में विचार किया गया है । तत्सम्बन्ध में संक्षेप में हम इस रहस्य को स्पष्ट करते हैं ।

रुक्म

बाह्य कर्मकाण्ड में रुक्म एक सुवर्णमयी माला है । यथा- **"स्वर्णनिर्मितं फलकाकारमाभरणविशेषं रुक्ममित्युच्यते ।** श० प० ३।५।१।२०

इस माला को कण्ठ में पहिना जाता है । इसमें २१ निर्बाध (पुलक = मणक) लगे रहते हैं । ये प्रतीक रूप में आदित्य की २१ रश्मियों को दर्शाते हैं । सूर्यमण्डल से रश्मियां बाहर की ओर प्रसृत हो रही हैं अतः माला में निर्बाध (मणके) भी बाहर की ओर लटकते हुए लगाए जाते हैं[1] । काठक संहिता में २१ निर्बाध २१ देवलोकों के प्रतीक माने गए हैं । यथा एकविंशतिर्देवलोकाः । का० १९।११ इन्हें निर्बाध[2] इसलिए

---

१. **परिमण्डलो ह्येष एकविंशतिनिर्बाध एकविंशो ह्येष बहिष्ठान्निर्बाधं बिभर्ति रश्मयो वा एतस्य निर्बाधा बाह्यत उ वा एतस्य रश्मयः ।** श० प० ६।७।१।२

२. **ते देवा एतान्निर्बाधानपश्यंस्तैरसुरानेभ्यो लोकेभ्यो निरबाधन्त तन्निर्बाधानां निर्बाधत्वम् । मै०स० ३।२।१।**

कहते हैं कि ये २१ रश्मियाँ असुरों को इन लोकों से परे रखती हैं जिससे लोकों को बाधा न पहुंचा सके। अर्थात् ये २१ रश्मियाँ देवलोकों से सम्बद्ध हैं। मनुष्य-शरीर में ये मस्तिष्क-सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान को निर्बाध बनाती हैं ऐसा कहा जाता है। निर्बाधों से निष्पन्न रुक्ममाला जो कि कण्ठ में धारण की जाती है वह इतनी लम्बी होनी चाहिए कि वह नाभि से ऊपर ही रहे। इसी तथ्य को निम्न शब्दों से कहा है कि **"तमुपरि नाभिर्बिभर्ति"** अर्थात् इस रुक्म को नाभि से ऊपर ही रखे। इसका हेतु यह है कि शरीर में तेजोवीर्य ही रुक्म कहलाता है यह वीर्य तेजोरूप वाला तभी हो सकता है जब वह नाभि से ऊपर ही रहे, नीचे न जावे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानव-शरीर में रुक्म का क्षेत्र सिर से लेकर नाभि तक है। शरीर में रुक्म पर विचार करने से पूर्व बाह्य ब्रह्माण्ड में रुक्म पर संक्षित टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं।

महदण्ड रुक्म—**'ब्रह्म जज्ञानं'** मन्त्र के आधार पर रुक्म धारण का एक भाव तो यह है कि यह महद् अण्ड से ब्रह्मोत्पत्ति का वर्णन कर रहा है। कहा भी है—**'तदण्डमभवद्धैमं सुवर्णसमप्रभम्'** मनु०। यह महदण्ड परिमण्डल है अतः रुक्ममाला भी मण्डलाकार बनायी जाती है।

आदित्य रुक्म—अधिदैवत में यही रुक्म आदित्य का प्रतीक है। यह देदीप्यमान आदित्य[1] समग्र प्रजाओं को अत्यधिक रोचमान (सुरुचः) दृष्टिगोचर होता है अतः रोचन (रुच् दीप्तौ) के कारण इसे रुक्म कहते हैं। इसी आदित्य-रुक्म से ये ग्रह-उपग्रह मालारूप में गुंथे हुए हैं। मन्त्र में भी कहा है—**द्यावाक्षामा रुक्मे। अन्तर्विभाति'** यजु० १२।२ अर्थात् द्यावापृथिवी के मध्य में विद्यमान यह रुक्म (आदित्य) खूब चमक रहा है।

परिमण्डलान्तर्वर्ती पुरुष-रुक्म—वस्तुतः ब्रह्माण्ड व सौरमण्डलान्तर्वर्ती बृहस्पति व आदित्य पुरुष ही रुक्म कहे गये हैं[2]। ये दोनों आदित्य व बृहस्पति हिरण्मय हैं। बृहस्पति हिरण्यगर्भ की अवस्था से सम्बद्ध है। **'हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे'**, यजु० १३।४, २३।१ और आदित्य सौरमण्डल की सृष्टि-प्रक्रिया से। रुक्मोपधान से आदित्य पुरुष का उपधान होता है और वह सुवर्णमय[3] है। शतपथादि शास्त्रों के प्रणेता ऋषि-महर्षि **'ब्रह्म जज्ञानं'** मन्त्र में पठित ब्रह्म से आदित्य को ही प्रायः ग्रहण करते हैं। अतः यहां आदित्य पुरुष की उपमा से मानव बृहस्पति का वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् मनुष्य का वह हिरण्यमय रूप क्या है जिसके उद्बुद्ध होने से वह आदित्य व

---

१. **असौ वा आदित्य एष रुक्म एष हीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते रोचो ह वै तं रुक्म इत्याचक्षते।** श० प० ७।४।१।१०

२. **तं रुक्म उपदधाति। असौ वा आदित्य एष रुक्मो अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः स एष तमेवैतदुपदधाति।** श० प० ७।४।१।१७

३. **एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः।**

बृहस्पति की कोटि में जा पहुंचता है। वह **'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्'** की कोटि में प्रविष्ट हो जाता है।

मानव-पिण्ड में रुक्म—मनुष्य अपने वीर्य के प्रभाव से रुक्म अर्थात् रोचमान व देदीप्यमान होता है। इसी कारण शास्त्रों में तेजोमय रेतस् को रुक्म कहा गया है। यथा—"**रेतो वा इदं सिक्तमयमग्निस्तेजो वीर्यं रुक्मोऽस्मिंस्तद्रेतसि तेजो वीर्यं दधाति।** श० प० ६।७।१।५

अर्थात् सिक्त रेतस् अग्निरूप है और जो तेजोवीर्य है वह रुक्म है। इस रेतस् में तेजोवीर्य को धारण कराया जाता है। अर्थात् यह सामान्य रेतस् जब तेजोमय बनता है तभी उसे रुक्म कहते हैं क्योंकि यह तेजस्वी है, रोचमान है। इस उपर्युक्त वाक्य के रहस्य को समझने के लिए हमें रेतस् व वीर्य की गति व स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए। रेतस् की दो गतियाँ हैं एक ऊर्ध्वगति और दूसरी अधोगति। ऊर्ध्वगति वाले रेतस् को ही तेजोवीर्य तथा रुक्म कहते हैं और यह सदा नाभि से ऊपर ही रहता है। कहा भी है "**तमुपरिनाभिर्बिभर्ति०**" श० प० ६।७।१।८-१० क्योंकि नाभि से ऊपर मनुष्य मेध्य[1] व पवित्र होता है और नाभि से नीचे अमेध्य। अमेध्य इसलिए कि वह मलमूत्र (**पुरीष संहिततरं**) के सम्पर्क में होता है। अमेध्य रेतस् की गति नाभि से नीचे की ओर होती है। इसे अधोगति कहते हैं। ऊर्ध्वगति वाला यह तेजोवीर्य मस्तिष्क में पहुंच आदित्यनाम[2] से सम्बोधित किया जाता है। मानव-शरीर में यह विज्ञानात्मा अर्थात् बुद्धि सूर्य है, आदित्य है। बुद्धि की वृद्धि में कारण होने से ही इस ऊर्ध्वरेतस् को तेजोवीर्य कहते हैं और यही आदित्य बनता है। ऊर्ध्वगति वाला यह तेजोवीर्य नाभि से ऊपर के शक्ति-केन्द्रों में पहुंच दिव्य शक्तियों के प्रजनन में कारण बनता है। ऐसे व्यक्ति पुत्र-प्राप्ति की कामना से ही स्त्री से सम्भोग करते हैं। उनकी सन्तति भी दिव्य-शक्तिसम्पन्न ऋषि-महर्षि, योगी व बृहस्पति समकक्ष होती है। दूसरी ओर सामान्य जन का रेतस् वासना व कामना के वेग से बाहिर फेंक दिया जाता है। उनके रेतस् में दिव्य शक्तियों के प्रजनन की सामर्थ्य ही नहीं होती और सन्तति भी पशु तुल्य होती है। इस प्रकार रेतस् दो प्रकार का हुआ—एक सामान्य और दूसरा तेजोवीर्य, इसे ही रुक्म[3] तथा आदित्य भी कहते हैं।

रेतस् (वीर्य) को नियन्त्रित करने के उपाय

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि इस रेतस् को नियन्त्रित कर ऊर्ध्वगति वाला

---

१. **एतद् वै पशोर्मेध्यतरं यदुपरिनाभि पुरीष संहिततरं यदवाङ् नाभेस्तद् यदेव पशोर्मेध्यतरं तेनैनमेतद् बिभर्ति ॥** श० प० ६।७।१।१०

२. **असौ वा आदित्य एष रुक्म उपरिनाभ्यु वा एषः।** श० प० ६।७।१।८

अथ यदस्माद् वीर्यमुदक्रामदसौ स आदित्यः। श० प० ७।१।२।५

३. **असौ वा आदित्य एष रुक्मो नो हैतमग्निं मनुष्यो मनुष्यरूपेण यन्तुमर्हति।** श० प० ६।७।१।३

बनाने के क्या उपाय हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मनुष्य अपने मानव रूप में रहता हुआ तो इसे नियन्त्रित कर नहीं सकता। उसे देव बनना होगा और देव भी सत्य के धारण करने से बन सकता है[1]। मनुष्य जब मन-वचन और कर्म से सत्यवादी बन जाता है, तब बुद्धिरूपी आदित्य के बल से इस रेतस् को वासना व बुरे विचार रूपी राक्षसों के प्रहारों से बचाता है। इसका उपाय यह बताया कि—'एतमन्तिकाद् गोप्तारमकुर्वन् अमुमेवादित्यम्—उस रेतस् को बुद्धिरूपी आदित्य के सामीप्य में रखना चाहिए[2]। जिस समय मनुष्य गम्भीर अध्ययन तथा बौद्धिक कार्य करता है तब वीर्य की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व को होती है। उस समय वासना नहीं होती। इस प्रकार रात-दिन स्वाध्याय, ईश्वर-चिन्तन आदि में तल्लीन रहने वाले व्यक्ति का रेतस् बुद्धि रूपी आदित्य के समीप होता है और इस प्रकार वह आदित्य उस रेतस् की रक्षा करता है और उसे दिव्य तथा तेजोवीर्य बनाता है। इसी प्रकार यज्ञ छन्द ऋक् और साम भी इस रेतस् को नियन्त्रित करनेवाले होते हैं।

रुक्म को नाभि से ऊपर रखने का रहस्य

तमुपरि नाभिबिभर्ति यद्वेवोपरिनाभि —इत्यादि वाक्य श०प० ६।७।१।८—११ इन चार कण्डिकाओं में प्रारम्भ में दिए गये। अर्थात् सुवर्ण की जो रुक्ममाला है उसे नाभि से ऊपर रखने का रहस्य क्या है? यज्ञोपवीत भी नाभि से ऊपर ही रखा जाता है। एक तो यह है कि नाभि से ऊपर वीर्य रुक्म अर्थात् रोचमान होता है और यही मस्तिष्क में पहुंच आदित्य बनता है। दूसरा यह कि नाभि से नीचे रेतस्[3] प्रजनन शक्ति वाला होता है। यदि वह नाभि से ऊपर पहुंच जाए तो यह भी सम्भव है कि उसकी प्रजनन-शक्ति विनष्ट हो जाए, भस्म हो जाए। इसी कारण संशय वाक्य द्वारा कहा है "नेन्मे रेतः प्रजातिं तेजोवीर्यं रुक्मः प्रदहादिति।" तीसरा हेतु यह दिया कि नाभि से ऊपर का रेतस् मेध्य होता है और नाभि से नीचे का अमेध्य। चौथा हेतु यह है कि जो ऊर्ध्व का प्राण है वह अमृत रूप है। नाभि से ऊपर की ओर गति करने वाले प्राणों से यह रेतस् अमृत[4] बनता है, तेजस्वी व हिरण्य[5] की आभा वाला होता है, यही

---

१. सत्यं हैतद् यद् रुक्मं सत्यं वा एतं यन्तुमर्हति सत्येनैतं देवा अबिभरु सत्येनैवैनमेतद् बिभर्ति। श० प० ६।७।१।१

२. एतद्वैदेवा अबिभयुर्यद् वै न इममिह रक्षांसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एत-मन्तिकाद् गोप्तारमकुर्वन् अमुमेवादित्यम्॥ श० प० ६।७।१।५

३. अवाग्वै नाभेः रेतः प्रजातिस्तेजो वीर्यं रुक्मो नेन्मे रेतः प्रजातिं तेजोवीर्यं रुक्मः प्रदहादिति। श० प० ६।७।१।६

४. यद्वै प्राणस्यामृतमूर्ध्वं तन्नाभेरूर्ध्वैः प्राणैरुच्चरत्यथ यन्मर्त्यं पराक् तन्नाभि-मत्येति०। श० प० ६।७।१।१०

५. अमृतं वै हिरण्यं मृत्योरेतद्रूपं यदग्निः। मै० सं० ३।२।१, का० १९।१

वेन है और यही आदित्य है। जब तक यह रेतस्-अग्नि-वासनाग्निवाला होता है तब तक यह मृत्यरूप होता है और जब यह नाभि से ऊर्ध्व में पहुंच ऊर्ध्वाभिमुख होता है तब यह हिरण्यमय हो जाता है। यह अमृत होता है। समग्र सूक्ष्म-शरीर इसमें समाविष्ट, होता है।

रुक्म का प्रतिमोचन

हम ऊपर दर्शा चुके हैं कि मानव-शरीर में रुक्म एक रोचमान-देदीप्यमान तत्त्व है जो कि ऊर्ध्वगामी वीर्य से उत्पन्न होता है। यह आदित्य रूप है, कभी विनष्ट नहीं होता। एक प्रकार की सुवर्णमयी आभा वाला, ज्योतिर्मय आवरण होता है, जिसमें मानव का सूक्ष्म शरीर आवृत रहता है। यही मानव-सम्बन्धी रुक्म पुरुष है। इसी रुक्म पुरुष के सम्बन्ध में शास्त्रों में आता है—

रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति। श० प० ६।७।१।१
तं तिष्ठन् प्रतिमुञ्चते। श० प० ६।७।२।१
इति रुक्मं प्रति मुञ्चते। मैं० सं० ३।२।१

अब विचारणीय यह है कि 'प्रतिमोचन' का अर्थ क्या है? सायणाचार्य ने अपने भाष्यों में प्रतीकात्मक उस सुवर्णमयी माला को कण्ठ में बांधना अर्थ किया है। हमारे विचार में प्रतीकात्मक माला के लिए सामान्य दृष्टि से बांधना ही अर्थ पर्याप्त हो सकता है। पर मानव में स्थित वीर्यरूपी रुक्म के लिए यह अर्थ पर्याप्त नहीं है। वहां सही अर्थ यह होगा कि तेजोवीर्यरूपी रुक्म को वासना से छुड़ाकर तथा सूक्ष्म-शरीर में स्थित रुक्म पुरुष को स्थूल शरीर के ग्रन्थि-बन्धन से छुड़ाकर शरीर में ही धारण किए रहना।

रुक्म के हिरण्यमय का रहस्य

हम पूर्व में यह देख आए हैं कि महदण्ड हिरण्यमय है। आदित्य भी हिरण्यमय है। वेदों में अनेकों देवताओं को हिरण्यमय कहा गया है। उन देवताओं के अंश रूप हमारा सूक्ष्म शरीर भी हिरण्यमय है। भौतिक सुवर्ण को हिरण्य कहा जाता है। यह रेतस् जब तेजोवीर्य बनता है तब वह सूक्ष्मरूप हो हिरण्यमय हो जाता है, इसे ही रुक्म कहते हैं। हमारे शरीर में विद्यमान सब देव भी इसी हिरण्य में रमण करते हैं। इसी रहस्य को श० प० ७।४।१।१४-१७ में इस प्रकार वर्णित किया गया है। यथा—

'सृष्टि'[1] निर्माण के समय जब प्रजापति का विस्रंसन होने लगा तब उसके मध्य से एक रम्य तनु का उत्क्रमण हुआ। उस रम्य तनु के उत्क्रान्त होने पर देवों ने प्रजापति

---

१. **प्रजापतेर्विस्रस्ताद् रम्या तनूर्मध्यत उदक्रामत् तस्यामेनमुत्क्रान्तायां देवा अजहुस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेतां रम्यां तनूं मध्यतोऽदधुः। श०प० ७।४।१।१६, ७।१।२ भी द्रष्टव्य है।**

का परित्याग कर दिया फिर जब उसका संस्कार किया तो वह रम्य तनु फिर उसमें जा स्थापित हुआ और उस रम्य तनु में वे देव आ विराजे और उसमें रमण करने लगे'। इसी दृष्टि से शास्त्र में इसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी है। **"तद् यदस्यैतस्यां रम्यायां तन्वां देवा आरमन्त तस्माद्धिरम्यं हिरम्यं ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते।** श०प० ७।४।१।१६ उपर्युक्त सन्दर्भ का रहस्य यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में सब देव प्रजापति के अन्दर हिरण्यमयी ऋतात्मक तनु में समाविष्ट थे। परन्तु जब प्रजापति का विस्रंसन अर्थात् महदण्ड में विक्षोभ होकर लोक-लोकान्तर रूप में विस्रंसन होने लगा तो वह ऋतात्मक हिरण्यमयी तनु उत्क्रान्त हुआ। परन्तु जब सृष्टि का निर्माण हो चुका तब सब देव अपने-अपने स्थानों में आ विराजे। यह एक प्रकार से प्रजापति का संस्कार कहा जा सकता है। ऐसा ही मानव-शरीर में समझना चाहिए। मनुष्य के सूक्ष्मशरीर रूपी रम्य तनु में सब देवों का निवास है। इसे ही प्राणात्मक[1] रम्य तनु कहते हैं। सब देवों के साथ यह मानव-पुरुष इस रम्य तनु में रमता है। इसलिए यह पुरुष ज्योति-रूप व अग्नि रूप[2] है। यही '**हिरण्यमय एक हंस०,**' कहलाता है। सायणाचार्य ने हिरण्य की व्युत्पत्ति यह दर्शायी है। '**हितेऽस्मिन् रमते**'। अब हम मन्त्रार्थ प्रदर्शित करते हैं।

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्विसीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः॥

जब ब्रह्म की उत्पत्ति होती है तब मानव शरीर की सीमाओं को भेदन कर सुरोचमान किरणें बाह्य रूप में प्रकट हो जाती हैं और सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं। अब वे शरीर व इन्द्रिय गोलकों में बन्द नहीं रहतीं। वह ब्रह्म बुध्न्य = मूल = हृदय या मस्तिष्क गुहाओं में निवास करता है। आंख, नाक, कान आदि उसकी उपमायें हैं जिनसे चित् रूप ब्रह्म प्रकट हो रहे हैं। और जो कि (विष्ठा) विविध स्थानों में स्थित है और ये सुरोचमान रश्मियाँ क्योंकि शरीर के चारों ओर से प्रादुर्भूत होती हैं अतः सब सुवर्ण ही सुवर्ण है, यह कहा जाता है।

इस प्रकार ऊर्ध्व में अथर्व० ४।१।१ मन्त्र के प्रसङ्ग में निम्न विनियोग पर विचार किया गया जैसा कि सायणाचार्च ने अपने भाष्य में प्रदर्शित किया है—

'अग्निचयने हिरण्मयरुक्मम् उपधीयमानं-ब्रह्म जज्ञानं इत्यनयाऽनुमन्त्रयेत्। उक्तं वैताने ब्रह्म जज्ञानमिति रुक्मं निधीयमानम् वैता श्रौ० २८।३३ वह लिखता है कि **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** तै०आ० ८।१।१ **इति त्रय्यन्तप्रसिद्धं सच्चित् सुखात्मकमपरिच्छिन्नं सर्वं जगत् कारणं यत् परं ब्रह्म तत् पुरस्तात् पूर्वस्मिन् काले सृष्ट्यादौ प्रथमं प्रथम**

---

१. **प्राणो वा अस्य सा रम्या तनूः प्राणमेवास्मिन्नेतां मध्यतो दधाति।**
श० प० ७।४।१।१६

२. **स प्रजापतिः सोऽग्निः स यजमानः स हिरण्यमयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योति-रग्निरमृतं हिरण्यममृतमग्निः पुरुषो भवति।** श० प० ७।४।१।१५

कार्यं हिरण्यगर्भरूपं सूर्यात्मकं जज्ञानं जातम् उत्पन्नम् उक्तं हि-स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते इति ।

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः ।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ।। अथर्व० ४।१।२

(पित्र्या) अम्भृण नामक बृहस्पति पिता की (इयं राष्ट्री) यह राष्ट्रीवाक् (प्रथमाय जनुषे) प्रथमोत्पत्ति के लिए (अग्रे एतु) आगे आवे। (भुवनेष्ठाः) भुवन में विद्यमान अन्य देवशक्तियाँ (तस्मा प्रथमाय धास्यवे) उस प्रथम अन्न के भक्षण के लिए (एतं) इस (सुरुचं) देदीप्यमान (ह्वारं) वक्र गति वाले (अह्यं) तेजो युक्त (घर्मं) देदीप्यमान रसको (श्रीणन्तु) परिपक्व करें।

इस मन्त्र में 'राष्ट्री' वाक् है। ऋ० ८।१००।१० में वाक् के लिए इसका प्रयोग हुआ है। ऐ० ब्रा० १।१९में इस उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा है-"वाग्वै राष्ट्री"। ऋ० १०।१२५ सूक्त में इस राष्ट्रीवाक् के सम्बन्ध में विस्तार से कथन हुआ है। इस वाक् का पिता अम्भृण है। यह बृहस्पति ही है। अम्भृण की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"**अपो बिभर्ति यः**" अर्थात् जो आपस्तत्त्व को धारण करता है वह अम्भृण कहलाता है। ये 'आपः' सामान्य जल नहीं हैं। ये देदीप्यमान हैं, सुरोचमान हैं सृष्टि की सलिलावस्था के ज्योतिर्मय जल हैं। इन हिरण्यवर्ण वाले जलों का वर्णन अथर्व १।३३ सूक्त में हुआ है। यह महद्ब्रह्म की अवस्था है, जिसका अधिपति बृहस्पति है। इस बृहस्पति की वाक् ही राष्ट्री नाम से कही गयी है, जो कि सृष्टि का निर्माण करती है। मन्त्र में कहा भी है—"**अहं वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा**" अथर्व० १०।१२५।६ इस प्रकार प्रथमोत्पत्ति इस राष्ट्री वाक् (प्रथमाय जनुषे) द्वारा सम्पन्न होती है। '**प्रथमाय धास्यवे**' प्रथम अन्न की उत्पत्ति करना तदनन्तर उसे भक्षण के लिए तैयार करना चाहिए। अर्थात् उसका परिपाक होना चाहिए। धासिरित्यन्ननाम निघण्टु।

वह अन्न 'घर्म' है। यह 'घर्म' तपता उबलता रस है। यह 'सुरुच' चमकता तथा देदीप्यमान है। 'ह्वारम्' वक्र गति वाला है। क्योंकि 'ज्योति' सदा वक्र गति में चलती है तथा 'अह्यम्' अहन् गभा ज्योतिर्मय भाग को कहते हैं। 'अहन्' पारिभाषिक शब्द ही ब्रह्माण्ड के ज्योतिर्मय भाग को दर्शाता है। ब्रह्माण्ड का दूसरा भाग रात्रि-भाग है। अह्यम् अहनि भवम्। आगे मन्त्र में कहा है कि भुवन में विद्यमान ऋतोत्पन्न शक्तियाँ इस धर्मरूपी रस का परिपाक करें, जिससे कि यह भक्षण के योग्य होजाए। **श्रीणन्तु-श्रीञ् पाके। ह्वारम् -ह्वृ कौटिल्ये।**

इसी प्रकार यह मन्त्र भी द्रष्टव्य है—

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बंधुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्रतस्थौ ।।

अथर्व० ४।१।३

अर्थात् (अस्य) इस महद् ब्रह्म का (बन्धुः) बांधने वाला और इसका (विद्वान्) ज्ञाता (यः) जो बृहस्पति (प्रजज्ञे) सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ वह (देवानां) देवों के (विश्वा जनिमा) सब जन्मों को (विवक्ति) बताता है। (ब्रह्मणः) इस महद् ब्रह्म के (मध्यात् नीचैः-उच्चैः) मध्यभाग से नीचे से तथा ऊर्ध्व से (ब्रह्म) यह त्रयी विद्या रूप ब्रह्म (उज्जभार) उद्गत हुआ तदनन्तर उस ब्रह्म ने (स्वधा अभि प्रतस्थौ) स्वधा की ओर प्रस्थान किया।

भाव यह है कि महद् ब्रह्म का अधिपति बृहस्पति है। वह इसे बांधकर रखता है और इसे प्रकृष्ट रूप से जानता है। यह बृहस्पति ही अग्नि, इन्द्र आदि देवों के सब जन्मों को जानता है और सबको जताता है। मनुष्य भी योग-साधना द्वारा ऋषि बन-कर बृहस्पति द्वारा ही समग्र देवशक्तियों को जानता है। इस महद् ब्रह्म के उच्च (द्युलोक) मध्य (अन्तरिक्ष) तथा नीचे (पृथिवी) से ऋग्, यजु, साम रूपी त्रयीविद्या को उद्गत करता है। तदनन्तर यह त्रयी रूप ब्रह्म 'स्वधा' प्रकृति से इन लोकों का निर्माण करता है। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में कहा है—

'स (प्रजापतिः) भूरित्येव ऋग्वेदस्य रसमादत्त। सेयं पृथिव्यभवत्"-भुव इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत्त तदिदमन्तरिक्षमभवत्। स्वरित्येव सामवेदस्य रसमादत्त सोऽसौ द्यौरभवत्। जै०उ० १।१।३-५

एक मन्त्र और देखिए—

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत्।
महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः।। अ० ४।१।४

अर्थात् (स) वह बृहस्पति (दिवःपृथिव्याः) द्यु तथा पृथिवी लोक के (ऋतस्था) ऋत-तत्त्व में विद्यमान रहता है। वह (मही रोदसी) महान् द्यावापृथिवी के (क्षेमं अस्कभायत्) कल्याण को थामे हुए है। (महान्) वह महान् बृहस्पति (जातः) उत्पन्न होकर (मही) महती द्यावापृथिवी के (द्यां सद्म) द्युलोक के सदन को तथा (पार्थिव च रजः) पार्थिव लोक को (अस्कभायत्) थामे हुए है।

इस मन्त्र में यह दर्शाया गया है कि वह ब्रह्म रूपी बृहस्पति उत्पन्न होकर द्यावापृथिवी के लोकों को ऋततत्त्व में स्थित होकर थामे रखता है। यह ऋततत्त्व सर्वत्र अभिव्याप्त रहता है।

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

स बुध्न्यादाष्ट्र[1] जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पति र्देवता तस्य सम्राट्।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो विवसन्तु विप्राः।। अथर्व ४।१।५

---

१. **बुध्न्यात्—बुध्नं मूलं मूलप्रकृतिः, तत्र भवं बुध्न्यम्।**
आष्ट्र—अशूङ् व्याप्तौ।

(सः) वह बृहस्पति देव (बुध्न्यात्) मूल प्रकृति से उत्पन्न महद् ब्रह्म से लेकर (जनुषः अग्रं अभि) उत्पत्ति के अग्रिम सिरे तक (आष्ट्र) व्याप्त हो गया (तस्य) उस सब सृष्टि का यह (बृहस्पतिः देवता) बृहस्पति देवता (सम्राट्) सम्राट् बना। (ज्योतिषः) उस महद् ब्रह्म के ज्योतिर्मय भाग से (यत्) जो (शुक्रं) शुद्ध व देदीप्यमान (अहः) अहन् भाग (जनिष्ट) उत्पन्न हुआ था (अथ) अतः (विप्राः) विप्र लोग। (द्युमन्तः) योग आदि साधनों द्वारा दीप्तिमान् होकर वहाँ उस अहर्भाग में (विवसन्तु) निवास करें।

बृहस्पति महद्ब्रह्म का अधिपति है, यह हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। बुध्न—मूल प्रकृति है। उससे उत्पन्न महद् ब्रह्म को बुध्न्य कहा गया है। यह महद् ब्रह्म जब उत्पत्त्युन्मुख होता है, तब वह बृहस्पति मूल प्रकृति से लेकर महद् ब्रह्म तक सर्वत्र अभिव्याप्त होता है अर्थात् बृहस्पति की दृष्टि में समग्र उत्पत्ति प्रक्रिया होती है। क्योंकि वह उस सबका सम्राट् होता है। इस महद् ब्रह्म से उत्पन्न ज्योतिर्मय भाग को 'अहन्' कहा जाता है। विप्र लोग इसी अहन् भाग में निवास करते हैं। यह अहन् भाग शरीर में बुद्धि सत्त्व है तथा ऊर्ध्व के ज्योतिर्मय लोक हैं।

आगे मन्त्र देखिए—

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन् नु॥ अथर्व० ४।१।६

अर्थात् (काव्यः) क्रान्तदर्शी पुरुष (अस्य पूर्व्यस्य देवस्य) इस पूर्वोत्पन्न बृहस्पति देव के (तत्) उस (महः) महान् (धाम) स्थान व तेज को (नूनं) निश्चय से (हिनोति) प्रेरित करता है (इत्था) इस प्रेरणा से (एषः) यह बृहस्पति (विषिते[1]) विशेष रूप में बद्ध (पूर्वे अर्धे) द्युलोक व मस्तिष्क के पूर्वार्ध भाग में (ससन् उ) शयन करताहुआ-सा (बहुभिः साकं) अन्य बहुत-सी देवशक्तियों के साथ (जज्ञे) उत्पन्न हुआ।

वस्तुतः यह बृहस्पति भगवान् द्युलोक व मस्तिष्क के पूर्वार्ध में निवास करता है। हमारे मस्तिष्क का सामने का भाग देव-शक्तियों का निवास स्थान माना जाता है। बृहस्पति के इस निवास-स्थान को काव्य पुरुष अर्थात् क्रान्तदर्शी दिव्य पुरुष ही जान सकता है तथा ध्यान आदि साधना द्वारा वह इस धाम को प्रेरित करता है जिस से कि वह बृहस्पति भगवान् उद्बुद्ध होता है। वह अकेला ही उद्बुद्ध नहीं होता अपितु इसके साथ अन्य देवशक्तियाँ भी प्रकट हो जाती हैं।

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभाय स्वधावन्॥

अथर्व० ४।१।७

(यः) जो (अथर्वाणं) अथर्वा, अचञ्चल निश्चल अटूट (पितरं) सब के पालक (देवबन्धुं) देवों के बन्धु तथा दिव्यशक्तियों को भक्त में बांधने हारे (बृहस्पतिं) ज्ञान-विज्ञान के अधिपति इस बृहस्पति देव को (नमसा) नमन द्वारा स्तवन कर (अवगच्छात्)

---

१. **विषिते—वि+षिञ् बन्धने।**

जान लेता है कि हे देव । (त्वं) तू ही (विश्वेषां) सब लोक-लोकान्तरों का (जनिता) उत्पादक (असः) है वह (स्वधावान्) द्यावा पृथिवी को धारण करने वाला अथवा प्रशस्त अमृत रूप गुणों वाला (कविः) क्रान्तदर्शी (देवः) दिव्यगुणयुक्त (न दभायत्) किसी से दबने वाला नहीं है और न किसी सज्जन की हिंसा करता है ।

स्वधावान् प्रशस्ताः स्वधा अमृतरूपा गुणा विद्यन्ते यस्मिन्त्सः । (स्वामी दयानन्द)

स्वधा—द्यावापृथिव्योर्नाम । निघं० ३।३६

बृहस्पति अथर्वा निश्चल नीरव अपने व्रत में दृढ़ होता है । यह सबका पिता है । यह देवबन्धु है असुरबन्धु नहीं । इसी दृष्टि से मानव बृहस्पति भी उपर्युक्त गुणों वाला होना चाहिये । □

पञ्चम अध्याय

गणेश की मूर्ति

ब्रह्मणस्पति (बृहस्पति)=गणपति-गणेश

आज हिन्दु-समाज में घर-घर गणेश की पूजा होती है। कोई भी मंगल कृत्य हो उसके प्रारम्भ में गणेश की पूजा-अर्चना अनिवार्य होती है। प्रश्न यह उठता है कि हिन्दु-समाज में गणेश की पूजा का प्रचलन कब से हुआ? क्योंकि गणेश नाम से वेद में कोई देवता नहीं है अतः वेद से तो यह आया नहीं यह स्पष्ट है, ऐसा कई पाश्चात्य तथा पौरस्त्य विद्वानों का विचार है। उनकी यह मान्यता है कि यह गणेश आर्येतर[1] जातियों से हमने लिया है। हम यहाँ गणेश के विविध रूपों तथा तत्सम्बन्धी विविध अर्चना-पूजा के प्रकारों आदि पर विचार न करके केवल यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि यह गणेश भी प्रकारान्तर से वैदिक देवता का ही एक परिवर्तित रूप है। विदेशी विद्वानों तथा डा० सम्पूर्णानन्द की यह धारणा भ्रान्त है कि यह गणेश हमने द्रविड़ आदि अनार्य जातियों से लिया है। अब हम सर्वप्रथम वेद में गणपति तत्त्व को दर्शाते हैं।

वेदों में गणपति तत्त्व दो रूपों में दृष्टिगोचर होता है। एक बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति सम्बन्धी और दूसरा रुद्र और इन्द्र-सम्बन्धी। ब्रह्मणस्पति-सम्बन्धी रूप इस प्रकार है—

गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥

ऋ० २।२३।१

इस मन्त्र का विनियोग ब्रह्मणस्पति देवता के लिए हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण ४ अ० ४ खं० में भी—

"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इति ब्राह्मणस्पत्यम्"

इस प्रकार ब्रह्मणस्पति के लिए दर्शाया है।

इस मन्त्र के 'ज्येष्ठराजम् ब्रह्मणाम्' पदों से स्पष्ट है कि यह ब्रह्मणस्पति ब्राह्मणों का अधिपति है, ब्राह्मणों का ज्येष्ठ राजा है 'ज्येष्ठराजम्' पद से यह भी ध्वनित हो रहा है कि ब्राह्मणों में छोटे मोटे राजा अर्थात् गणाधिपति होते हैं जिनमें ब्रह्मणस्पति ज्येष्ठ राजा अर्थात् ब्राह्मणों का प्रमुख अधिपति है। मै० स० २।२।३ में आता है कि

---

१. द्रष्टव्य—श्री डा० सम्पूर्णानन्द-रचित 'गणेश' पुस्तक।

"**बृहस्पतिर्गणी······सजातैरेनं गणिनं करोति**" अर्थात् बृहस्पति गणी है, गणस्वामी है, सजातियों से यह गणी बनता है इसी प्रकार ब्रह्मणस्पति के लिए आता है कि "**ब्राह्मणस्पत्यं चरुं निर्वपेत् संग्रामे**" मै० सं० २।२।३ इससे यह ध्वनित होता है कि संग्राम के समय ब्रह्मणस्पति का गणपतितत्त्व कार्य करता दीखता है। दूसरा गणपति का रूप वेदों में रुद्र के लिए आता है। यजु० ११।१५ में आता है कि "**रुद्रस्य गाणपत्यम्**" अर्थात् रुद्र का गणपति भाव। इसी प्रकार रुद्राध्याय में गणपति शब्द का प्रयोग आता है। यथा—"**नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमः**" यजु० १६।२५ अर्थात् गणों व गणपतियों को नमस्कार है। यहाँ गणपति शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

ऋ० १०।११२।९

हे गणपते ! आप स्तुति करने वाले हम लोगों के मध्य में भली प्रकार स्थित होइये। आप को क्रान्तदर्शी कवियों में अतिशय बुद्धिमान् तथा सर्वज्ञ कहा जाता है। आपके बिना कोई भी कर्म आरम्भ नहीं किया जाता। अतः हे पूजनीय, अर्चनीय मघवन् ! हम आपके महान् व अद्भुत रूप की अर्चना करते हैं।

गणपत्यथर्वशीर्ष में आता है—

ओ३म् नमस्ते गणपते त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि ।
त्वमेव केवलं कर्तासि त्वमेव केवलं धर्तासि ।
त्वमेव केवलं हर्तासि त्वमेव सर्वं खल्विदंब्रह्मासि ॥

इसी प्रकार गणपति पद का प्रयोग एक और मन्त्र में आया है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं
हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम ।
आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ यजु० २३।१९

यह मन्त्र अश्वमेध के प्रसंग में आता है। यजमान की पत्नी राजमहिषी अपने पतिदेव राजा से जो कि गणाधिपति, निधिपति तथा प्रियपति है उससे गर्भधारण कराने के लिए प्रार्थना करती है। इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है। हे गणों के गणपति ! प्रियों के प्रियपति ! निधियों के निधिपति ! हम तुम्हारा आह्वान करते हैं। हे वसुरूप स्वामिन् ! मैं गर्भधारण करने में समर्थ हूँ और तुम भी गर्भ धारण कराने में समर्थ हो गए हो।

यह मन्त्र का सामान्य अर्थ है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ इस मन्त्र के विनियोग की दृष्टि से कुछ विचार करते हैं। उव्वट, महीधर आदि प्राचीन भाष्यकारों ने इस मन्त्र को अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में पढ़ा है। वहाँ विनियोग की दृष्टि से यजमान की पत्नी राजमहिषी मरे घोड़े की परिक्रमा करके उसके समीप लेट जाती है। इसी अवसर पर

वह इस मन्त्र को पढ़ती है। अतः भाष्यकारों के मन में यह मन्त्र अश्वदैवत्यम् है। इस पर हम कुछ संक्षिप्त विचार करते हैं। यदि सामान्य मन्त्रार्थ की दृष्टि से देखाजाए तो यह विनियोग अशुद्ध है। कहीं मृत घोड़ा गर्भधारण कराने में समर्थ हो सकता है? क्या वह गणाधिपति है, प्रियपति व निधिपति हो सकता है? कहीं नहीं। यह मन्त्र अर्थ की दृष्टि से देखाजाए तो राजा को सम्बोधन करके कहा गया है। अतः विचारणीय यह है कि फिर विनियोग की सार्थकता व उसका समन्वय कैसे किया जाए? हमारे मत में इसके दो एक समाधान हो सकते हैं। एक तो यह कि एक ड्रामा है, जिस प्रकार रामलीला में राम-सीता आदि का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति होते हैं, उसी प्रकार गणाधिपति अश्वरूप राजा का यह अश्वपशु प्रतिनिधित्व करता है और तत्प्रसंग से उत्पत्ति शास्त्र की शिक्षा दी गई है। राजा की श्रेष्ठ संतति हो इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए इस मन्त्र में तथा कुछ अगले मन्त्रों में भी सम्भोग प्रक्रिया के कुछ रहस्य दर्शाये गये हैं। अश्लील सम्भाषण सम्भोग की तैयारी के लिए एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव है। दूसरे अश्व तो एक तलवार के समान है। जिस प्रकार शूरवीर योद्धा की तलवार शत्रुओं का विनाश करती है, उसकी प्रशंसा में यदि स्तुति वचन किया जाय तो वस्तुतः वह तलवार के लिए नहीं है तलवार को धारण करने वाले के लिए है। अश्वमेध में अश्व तो निमित्तमात्र है वस्तुतः वह गणाधिपति राजा ही है जो कि चहुं ओर प्रदेशों की विजय करके आता है। अश्वमेधयज्ञ द्वारा यजमान राजा पर अश्वशक्ति को समारूढ़ किया जाता है। वैदिक साहित्य में प्रतीकवाद आहार्यारोपवाद व निदानविद्या का रहस्यों को स्पष्ट करने व आराधना आदि के लिये प्रभूतमात्रा में अवलम्बन किया गया है। इन्हीं का अवलम्बन कर हम वेद-ब्राह्मणग्रन्थ तथा पुराणादि ग्रन्थों में बहुत कुछ समन्वय कर सकते हैं। इसी तथ्य को चित्र में मनुष्य पर अश्व को समारूढ़ करके स्पष्ट किया जाता है। यह चित्र मद्रास-प्रदेशान्तर्गत त्रिचुरापल्ली के मन्दिर से लिया गया है। यह अश्वमेध का क्या रहस्य है, इसे स्पष्ट करता है। यह १८वीं शती का चित्र है। सम्भवतः इससे पूर्व के भी भित्तिचित्र हों, हमें यही मिला था जो कि ग्रन्थ के परिशिष्ट में (चित्र १ में) दे दिया गया है।

अतः अश्व तो राजा है। इसलिए कहा भी है **"यजमानो वा अश्वः"** तै०ब्रा० ३।६।१७।५, **"वीर्यं वा अश्वः"** श०प० २।१।४।२४ इसी प्रकार सूर्य, अग्नि ये सब अश्व कहे गये हैं। अतः उपर्युक्त मन्त्र अश्वदैवत होने पर भी अश्व के अन्य अर्थों को दृष्टि में रखकर गणाधिपति क्षत्रिय यजमान का यहाँ ग्रहण किया जा सकता है। श्री सम्पूर्णानन्द जी ने इस मन्त्र के सन्दर्भ में जो शंका उठायी है कि मन्त्र का उत्तरार्ध **"आहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम्"** निरर्थक हो जायगा।" इसका समाधान यह है कि राजमहिषी अपने अश्वतुल्य बल व वेग वाले गणों के स्वामी यजमान बने पति से गर्भधारण की प्रार्थना करती है न कि मृत अश्व से। यह सम्भोग कामुकतावश नहीं है। प्रत्युत अश्वमेध यज्ञ के प्रभाव से शूरवीर तथा सर्वगुणसम्पन्न पुत्र की उत्पत्ति के लिए प्रार्थना है। वस्तुतः यह उसी प्रकार का प्रसंग है जैसा कि मुण्डन संस्कार में **"स्वधिते**

मैनं हिंसीः"हे उस्तरे ! इस शिशु का हनन न करना—यह उक्ति अन्य महती शक्ति को दृष्टि में रखकर की जाती है। उसी प्रकार **"महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति"** न्याय से मानव-गणों के स्वामी राजा के माध्यम से संसार के सर्वगणों के स्वामी गणपतियों के भी गणपति अश्वरूप भगवान् गणेश से यह प्रार्थना की गई है, ऐसा भी हम समझ सकते हैं।

इसी भाँति **"बृहस्पतिं हवामहे विश्वतः सगणं वयम् ।**
उपनोयज्ञमागमत्" मै०सं० ४।१२।१
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये । ऋ० ५।५१।१२

इत्यादि मन्त्रों में बृहस्पति का सर्वगणाधिपतित्व दृष्टिगोचर होता है।

मन्त्रों द्वारा उपर्युक्त गणपति-सम्बन्धी विवेचन पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वेदों में गणपतितत्त्व के दो रूप हैं, दो विभाग हैं। एक बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति के आधार पर ब्राह्मणों का और दूसरा रुद्र तथा इन्द्र की दृष्टि से क्षत्रियों का। ब्राह्मणों का गणपति बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति है तो क्षत्रियों का राजा। विशेषकर रुद्र-सम्बन्धी कृत्यों में राजा का गणपति तत्त्व अधिक उजागर होता है। दूसरी ओर राष्ट्र में शान्ति-व्यवस्था, शिक्षा, यज्ञ-याग आदि सात्त्विक कार्यों में बृहस्पति-सम्बन्धी गणपतित्व दृष्टिगोचर होता है। मै०सं० का एक वाक्य है **"ब्राह्मणस्पत्यं चरुं निर्वपेत् संग्रामे"** (मै० सं० २।२।३) यहाँ संग्राम-पद से युद्ध-शिक्षा का ग्रहण करना चाहिए। संग्राम का तात्पर्य यह भी है कि जब किसी सामाजिक व राष्ट्रीय समस्या पर विचार करना हो तो अनेकों ग्रामों का समूह एकत्र होकर उस पर विचार करे तो वह संग्राम कहलाता है।

गणपति ही गणेश है

श्री डा० सम्पूर्णानन्द जी ने गणेश पर अनुसंधानात्मक निबन्ध लिखकर महान् उपकार किया है। पर हमें उनका यह कथन विचारणीय प्रतीत होता है कि "वैदिक वाङ्मय में अस्तित्व न रखते हुए भी देवों में अग्रगण्य बन जाना गणेश जी का ही काम था······। विदेशी विद्वानों की राय है कि गणपति भारत के अनार्य निवासियों के उपास्य हैं, मैं भी इसी परिणाम पर पहुंचा हूं। जब आर्य लोग ब्रह्मावर्त के बाहर की ओर बढ़े तो उनकी द्राविड़ आदि अनार्य-जातियों से मुठभेड़ हुई···········अब आर्यों ने अपने विजित पड़ौसियों की देखा-देखी कुछ नये उपास्यों को अपनाया। नाग, शीतला, भैरव अनार्यों की देन है। प्रेत, पिशाच, पशु, पक्षी की पूजा हमने इन्हीं लोगों से पायी। गणेश जी भी हमको इसी प्रकार मिले हैं"—गणेश, अध्याय ८। हमारे विचार में श्री सम्पूर्णानन्द जी का यह कथन उपयुक्त नहीं है। वेदों में गणपति शब्द आता है। यह सही है कि यह एक स्वतन्त्र रूप से देवता के नाम से नहीं आता परन्तु देवतावाची-ब्रह्मणस्पति तथा रुद्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। हमारे विचार में भारतवर्ष के अन्दर महाभारत काल तथा बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव के समय जब गणराज्यों का प्रादुर्भाव व प्राबल्य हुआ तो गणों के प्रमुख को गणपति आदि नामों से सम्बोधित

किया जाने लगा, उसी समय वेदों के इन गणपति-सम्बन्धी दो रूपों का भी प्रमुख रूप में प्रचलन हो गया। जिस प्रकार पुरुष ने भगवान् को भी पुरुष रूप में कल्पना कर उसके हाथ, पांव, सिर आदि कल्पना कर ली। उसी प्रकार अन्धक, वृष्णि आदि गणों के मुखियाओं की तरह भगवान् को भी गणपति नाम से सम्बोधित किया जाने लगा, वेदों के ब्रह्मणस्पति में उसका सौम्य, सात्त्विक, सच्चरित्र, विद्यासम्पन्न आदि का उन्नायक रूप है तो "रुद्रस्य गाणपत्यम्" में रौद्र रूप है। शाकिनी, डाकिनी, भूतप्रेत आदि उसी रौद्र रूप की अभिव्यक्तियाँ हैं। गणेश का विनायक नाम भी नायकों में विशिष्ट इस अर्थ को घोषित करता है। यह भी रौद्र रूप वाले गणपतियों का गणपति है। सामान्य प्रजाजन को उत्पीड़न करना भयभीत करना इन गणों में कईयों का काम था। इनके उत्पीड़न के भय से स्वप्न भी बुरे-बुरे आते हैं। यह स्वाभाविक है कि कोई भी सत्कर्म व धर्मानुष्ठानादि से पूर्व इनको प्रसन्न करना, इनको टैक्स देना अत्यावश्यक है। नहीं तो विघ्न पैदा करके ये सत्कर्म होने ही न दें। क्योंकि रुद्र देवता त्रिगुणात्मक सृष्टि में तमोरूप है अर्थात् तम का स्पर्श कर ये रुद्रदेव तामसिक सृष्टि के नियामक हैं। अतः मक्खी, मच्छर, चोर, डाकू, लुटेरे, मगरमच्छ, घडियाल तथा नाना व्याधियों के जनक हैं। इस सम्बन्ध में यजुर्वेद का रुद्र सूक्त तथा अथर्व का "भवाशर्वो" सूक्त द्रष्टव्य है। अतः तत्सम्बन्धी गणपतितत्त्व भी रुद्र रूप है। इसके विपरीत ब्रह्मणस्पति-सम्बन्धी गणपति-तत्त्व सात्त्विक रूप का है। इसलिए कालान्तर में गणराज्यों के समय भगवान् को गणपति रूप में कल्पना कर सात्त्विक व तामसिक दोनों रूपों व दोनों प्रकार के कार्यों का एक देवता में ही सन्निवेश कर दिया गया, और ये गणपति ही सामान्य जनों में गणेश नाम से कहे जाने लगे। वेद का गणपति शब्द ही गणेश रूप में परिवर्तित हुआ है। गणपति, गणेश इन दोनों शब्दों के अर्थों में कोई भिन्नता नहीं है, दोनों का एक ही अर्थ है केवल गणपति के पति शब्द के स्थान पर ईश-पद लगा दिया गया है। चूंकि वेद में गणेश नाम नहीं आया इसलिए इसे अनार्यों से आया मानना उपयुक्त नहीं है। वेद व वैदिक साहित्य के अनेकों शब्द ऐसे दिखाये जा सकते हैं कि जोकि विलुप्त हुए, विकृत हुए, रूप परिवर्तन हुआ तथा अन्य कई विकृतियाँ आयीं। भाषा के प्रवाह में यह स्वाभाविक है और संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि प्रकृति प्रत्यय के आधार पर एक शब्द व नाम को अनेकों अन्य नामों से भी कहा जाता है। उदाहरण के लिए हम मंगल ग्रह को लेते हैं। यह ग्रह पृथिवी से उत्पन्न हुआ है ऐसी ज्योतिष की मान्यता है। अतः पृथिवी-सम्बन्धी सभी पर्यायों से उत्पत्ति-सम्बन्धी प्रत्ययों को लगाकर मंगल ग्रह को नाम दिये गये हैं। यथा कुजः, क्ष्माजः, भूजः, इराजः, अवनिजः, गोत्राजः, धराजः, पृथिवीजः, भूमिजः, रसाजः, अचलाजः, क्षितिजः, धरात्मजः आदि। इसी प्रकार पृथिवी के जितने भी पर्यायवाची शब्द हैं उनके साथ उत्पत्तिसूचक जन्मा आदि तथा अपत्य सूचक पुत्रः, सूनु आदि शब्दों का योग कर सैकड़ों नाम बनाये जा सकते हैं और बनाये भी गये हैं। यह संस्कृत भाषा की विशेषता है। किसी प्रदेश विशेष में कोई शब्द व कोई नाम व

कोई देवता अधिक प्रसिद्ध है तो कोई गौण है । कोई अत्यधिक महत्त्वशाली बनकर सर्वत्र प्रचलित हो गया है । इसी दृष्टि से गणपति पद गणेश बन गया । गणेश इसी कोटि में आते हैं । वे भारत में सर्वत्र प्रचलित हो गये । जब इस पृथिवी पर ऋषित्व नहीं रहा, विद्या का ह्रास हो गया, सर्वत्र अज्ञान का साम्राज्य छा गया, तब पाखण्डों का प्रचार होना स्वाभाविक है । इस दृष्टि से गणों तथा गणों के अधिपतियों के भी विकृत रूप होते गये, इसी प्रकार उनके आराध्य देव गणेश भी विभिन्न प्रदेशों के विभिन्न स्तरों के आधार पर विभिन्न रूपवाले बने । जैसा कि यह दार्शनिक सूक्ति है ।

"ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्" यह ह्रास सभी क्षेत्रों में हुआ है । अतः हमारे विचार में भारतवर्ष में सर्वत्र उपास्य रूप में प्रचलित गणेश भारतीय आर्यों की ही उपज है, किसी अनार्यजाति की नहीं है । और ब्रह्मणस्पति तथा रुद्र का यह सम्मिलित रूप है ।

हम पूर्व में यह देख चुके हैं कि गणपति अर्थात् गणेश ब्रह्मणस्पति ही है । ब्रह्मणस्पति ब्राह्मणों का आदिस्रोत है । इसी कारण शास्त्रों में ब्रह्म, ब्राह्मण और ब्रह्मणस्पति पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं । इसलिए हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि 'गणेश' ब्राह्मणों का प्रतिनिधि व उनका आदिस्रोत है । प्रचीन काल से लेकर अद्यावधि सनातन जगत् में यह जो परम्परा से प्रचलित विधि है कि किसी भी याज्ञिक कर्म व श्रेष्ठ समारम्भ के प्रारम्भ में गणपति-पूजन होता है, वह ब्रह्मशक्ति व ब्राह्मणों को आदर सत्कार देने के लिए होता था जिसको हमने विस्मृत कर दिया । गणपति व गणेश से भगवान् का ही ग्रहण करें तो भी भगवान् की ब्रह्मशक्ति का ही इससे ग्रहण होता है क्षत्र-शक्ति व वैश्य-शक्ति का नहीं । इसलिए जब कहीं गण-सम्बन्धी कार्य हो, समूह में बैठकर या समाज में सम्मिलित होकर गण रूप में कोई कार्य समारम्भ किया जाये तो सर्वप्रथम भगवान् के गणपति अर्थात् ब्रह्मणस्पति रूप का स्मरण किया जाता है । मन्त्र में भी कहा है—

निषुसीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किंचनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

—ऋ० १०।११२।९

हे गणों के स्वामी, (जब कोई गण-सम्बन्धी अर्थात् समूह व समाज-सम्बन्धी कार्य हो) तब तू गणों—समूहों में व जनसमुदाय के मध्य आकर भली प्रकार विराजमान हो, क्योंकि तुझे सब लोग क्रान्तदर्शियों में सर्वोत्तम विप्र मानते हैं । तेरे बिना कोई भी कार्य सुसम्पन्न नहीं हो सकता । अतः हे पूजनीय, अर्चनीय, दिव्य धन-सम्पन्न (मघवन्) हम आपके महान् अद्भुत रूप की अर्चना करते हैं ।

ऋग्वेद के इस मन्त्र से यह ध्वनित हो रहा है कि शुभारम्भ में गणपति-पूजन होना चाहिए । गणपति से भगवान् का ग्रहण तो किया ही जा सकता है और किया भी जाता है पर यहाँ मन्त्र का स्वारस्य ब्राह्मणों का अधिपति ब्रह्मशक्ति-सम्पन्न

ब्राह्मण में ही अधिक उपयुक्त है। इस गणपति-पूजन में पाप-पुण्य का भाव नहीं है। परन्तु न करने से राष्ट्र में ब्रह्मशक्ति का ह्रास हो जाएगा। जिस राष्ट्र में ब्रह्मशक्ति की अग्रपूज्यता है वही राष्ट्र तेजस्वी, ज्ञान-सम्पन्न तथा दिव्य गुणों से युक्त होता है। आर्य समाज में कोई विद्वान् पुरोहित नहीं बनना चाहता। सनातनियों में भी यह गणपति-पूजन अधूरा है। ब्रह्मनिष्ठ की पूजा वहाँ भी नहीं है। फिर भी सनातनियों में अपने सन्तों तथा विद्वानों के प्रति श्रद्धा है। गणपति-पूजन में जो गणाधिपति है उसी की पूजा है उसका ब्रह्म भाग पृथक् है। यह दक्षिणा नहीं है जो यज्ञान्त में दी जाती है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ब्रह्मशक्ति उपार्जित की जाती है, क्षत्र-शक्ति कुछ उपार्जित होती है पर अधिक स्वाभाविक होती है—पर वैश्य-शक्ति तो प्रायः सम्पूर्ण स्वाभाविक होती है। ब्रह्मशक्ति उद्बुद्ध हो तो उसकी अग्रपूज्यता होनी ही चाहिए।

गणेश की मूर्ति भिन्न-भिन्न प्रदेशों में कुछ विभिन्नता को लिये हुए है पर जो उसका सामान्य रूप है उसे हम ब्रह्मणस्पति के स्वाभाविक कार्यों व शक्तियों का प्रतिनिधि चित्र (भाव चित्र) मानते हैं। ऐसे भावचित्र हमने (मेधातिथि का इन्द्र मेष बना आदि) भी बनाये हैं। इसी दृष्टि से हम गणेश-चित्र की व्याख्या करते हैं।

गणेश जी का मस्तिष्क हाथी का बनाया है यह मस्तिष्क-सम्बन्धी महान् शक्ति को द्योतित करता है, हाथी भी बड़ा बुद्धिमान् माना जाता है। उसके कान बहुत बड़े हैं, यह ब्रह्मणस्पति की दिव्य श्रवण शक्ति को बताता है, श्रुति जो परम-व्योम में निरन्तर उच्चरित हो रही है, न जाने किस अत्यन्त सूक्ष्म आकाशीय तरंगों (Wave length) में उच्चरित हो रही है जो कि सामान्य जन की श्रवण-शक्ति से बाहिर है उसे भी ये सुन लेते हैं। क्योंकि कहा भी है **'तान्यादिवः प्रकीर्णानि अशेरन्'** जै० उ० १।४।१।६ आकाश में ऋचाएं उच्चरित हो बिखरी पड़ी हैं इन्हें 'सत्यश्रुतः कवयः' सत्य का श्रवण करने वाले क्रान्तदर्शी ऋषि ही सुन सकते हैं। इसी को दृष्टि में रखकर कान भी हाथी के लिये गए हैं। चक्षु छोटी है क्योंकि ब्राह्मण तो **"संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः"** ब्राह्मण तो वर्ष भर सोते से रहते हैं। आंखें उनकी मिची रहती हैं। 'ऋभु' जो कि ऋत तत्त्व से भासित होते हैं नये-नये आविष्कार करने वाले हैं उन्हें भी वेद में 'ससन्तः' अर्थात् सोते हुए से कहा है। हाथी की सूंड दो बातों को द्योतित करती है। एक तो गणेश जी की घ्राण-शक्ति प्रबल होनी चाहिए। गण के ऊपर क्या आपत्ति आने वाली है इस बात की गन्ध पहले ही आ जानी चाहिए। दूसरी गन्ध-ग्रहण करने वाली सेना की अग्रिम पंक्ति (Reconnaissance) इतनी प्रबल होनी चाहिए कि गण रूपी शरीर पर प्रहार ही न होने दे। उदर विशाल है, जो भी गण के लिए दान-दक्षिणा आदि आवे सब समाजावे। मोदकप्रिय, मिष्टान्न का सूचक है। मिष्टान्न तो सबको प्रिय होता है। ब्रह्मणस्पति रूपी आचार्य के शिष्य मोदक ही तो बड़े चाव से खाते हैं।

वाहन चूहा गण पर पड़े पाश को काटने में समर्थ होता है। चूहा अपने बिल

के कई मुंह व द्वार बनाकर रखता है। गणेश की बुद्धि अनेक विध है, प्रबल शत्रु से घिर जाने पर कोई-न-कोई बुद्धि का द्वार खुल जाता है।

ऐसे हैं हमारे गणेश जी। गणेश जी को आर्येतर देवता बताने वाले पाश्चात्य विद्वान् तथा डॉ० सम्पूर्णानन्द किस आर्य-भिन्न जाति की बुद्धि की दाद देते हैं, क्या यह कल्पना-शक्ति उनमें विकसित थी ?

गणपति-पूजन का तथा तद्रूप का रहस्य हमने अपनी स्वल्पमति से पाठकों के समक्ष रक्खा है। इसमें कितना अंश युक्त है और कितना अयुक्त, यह सुविज्ञ पाठकजन ही जान सकते हैं। ☐

षष्ठ अध्याय

बृहस्पति के अर्क

ऋ० १०।८।४ में आता है कि 'अवक्षिपन्नर्क उल्काभिव द्योः' अर्थात् वह बृहस्पति शिष्य के प्रति अर्क फैंकता है जिस प्रकार द्युलोक से उलकाएं गिरती हैं। एक दूसरे मन्त्र ऋ० १०।६८।६ में आता है कि बृहस्पति आन्तरिक अग्नि से परितप्त अर्कों द्वारा शिष्य के वल अर्थात् आवरण को विनष्ट करता है। (जसुं भेद् बृहस्पति-रग्नितपोभिरर्कैः)। अब विचारणीय यह है कि अर्क किसे कहते हैं? वैदिक साहित्य में अर्क शब्द के अनेकों अर्थ हमें मिलते हैं। इस अर्क शब्द के अनेकों अर्थ होते हुए भी वेदादि शास्त्रों से हमें यह पता चलता है कि इसके ठीक-२ स्वरूप का निर्णय करना कुछ कठिन कार्य है। वेद में एक स्थान पर अर्क के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया गया है कि अमुक क्षेत्र में अर्क क्या होगा? वह मन्त्र इस प्रकार है—

'कस्ते यज्ञो मनसे शं वराय को अर्क इन्द्र कतमः सः होता' ऋ० ६।२१।४

हे इन्द्र! मन के लिये सुखकारी तेरा कौनसा यज्ञ है? और तेरे वरण के लिये कौनसा अर्क है? और उस यज्ञ को कराने वाला होता कौनसा है?

इस प्रकार वेद-मन्त्र में 'कः अर्कः' यह प्रश्न इस बात का सूचक है कि अर्क कई प्रकार के हैं। प्रत्येक क्षेत्र में कौन से अर्क का ग्रहण करना है, यह निश्चय करने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार श० प० ब्रा० १०।३।४।३ में भी श्वेतकेतु के पिता आरुणि ने वैश्वावसव्य ब्राह्मण से प्रश्न किया है—'वेत्थार्कमिति' अर्थात् क्या तू अर्क को जानता है? इस प्रकार प्रश्न करने से यह पता चलता है कि स्थूल दृष्टि से केवलमात्र शब्दार्थ देखने से अर्क के स्वरूप को हृदयंगम करना बड़ा कठिन है। अब हमारे सामने भी यह प्रश्न है कि बृहस्पति किन अर्कों को शिष्य के प्रति फैंकता है। और किन से शिष्य के आवरण को नष्ट करता है। इसके उत्तर में यदि हम एक वाक्य में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि यह आन्तरिक अर्क है जो कि दिव्य पुरुष की सब इन्द्रियों द्वारा किरण रूप में बाहिर निकलते हैं। अर्क के सम्बन्ध से ये इन्द्रियाँ भी अर्क ही कही गई हैं। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर से इन्द्रियों द्वारा किरणें बाहिर निकलती हैं। परन्तु जिस किसी भी मनुष्य की इन्द्रिय किरणों को अर्क नहीं कहते। अर्कों वाले मनुष्य सामान्य मनुष्यों से पृथक् होते हैं। इसी दृष्टि से वेद में भी अर्कों वाले पुरुषों की स्थिति अलग बतायी है। ऋ० १।१०।१ में अर्की पुरुषों का अलग निर्देश किया है। मन्त्र इस प्रकार है— **'गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः'**।

अर्थात् गायत्री द्वारा गान करने वाले तेरा गान करते हैं और अर्की पुरुष तुझ

अर्क की अर्चना करते हैं। इस प्रकार मन्त्र में अर्की पुरुषों का पृथक् निर्देश किया है। इसकी पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य में अर्क स्वभावतः नहीं होता, अपितु इसकी उत्पत्ति की जाती है। मन्त्रों में इसकी उत्पत्ति का वर्णन आता है। उदाहरणार्थ दो एक मन्त्र इस प्रकार हैं। ऋ० ६।७३।२ में आता है कि **मधोर्धाराभिर्जनयन्तो अर्कम्**' अर्थात् महान् पुरुष मधु की धाराओं से अर्क की उत्पत्ति करते हैं।

कौन पुरुष अर्क की उत्पत्ति कर सकते हैं ? इस सम्बन्ध में ऋ० ८।८८।४ में एक ऋषि का संकेत भी किया है। मन्त्र इस प्रकार है '**आत्वायमर्क ऊतये ववर्तति यं गोतमा अजीजनन्**' जिस अर्क को गोतम पुरुषों ने पैदा किया है, हे इन्द्र ! वह अर्क रक्षा के लिये तुमको हमारी ओर मोड़ता है।

इन उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अर्क की उत्पत्ति की जाती है। और उपर्युक्त मन्त्र में अर्क की उत्पत्ति करने वाले गौतम पुरुष बताये गये हैं। गौतम एक वैदिक ऋषि हैं। इन ऋषियों के स्वरूप के सम्बन्ध में हम पृथक् ही लिख रहे हैं। इस लिये यहां संकेत से यह कहा जा सकता है कि गौतम पुरुष वे हैं जिनकी इन्द्रिय-किरण पवित्रतम व श्रेष्ठतम हैं। इस प्रकार हम यह देख चुके हैं कि अर्क स्वभावतः सब के अन्दर नहीं होता, अपितु इसकी उत्पत्ति की जाती है। अब विचारणीय यह है कि यह अर्क क्या है ? श० प० ब्रा० १०।३।४।५ में अर्क के स्वरूप को इस प्रकार खोला गया है।

'स एषोऽग्निरर्कोयत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निमर्कम्पुरुषमुपास्तेऽयमहमग्निरर्कोऽस्मीति विद्यया हैवास्यैष आत्मन्नग्निरर्कश्चितोभवति।'

अर्थात् यह अग्निरूप पुरुष अर्क है। जो इस अग्निरूप अर्क पुरुष की उपासना करता है, अर्थात् मैं अग्निरूप अर्क हूँ, इस प्रकार अपने अन्दर भावना को जागृत करता रहता है। ऐसे पुरुष की आत्मा में विद्या (पराविद्या) द्वारा अग्निरूपी अर्क का चयन होता रहता है। एक समय आकर वह पुरुष स्वयं अर्करूप बन जाता है। इस लिये जिस मनुष्य के अन्दर अग्नि प्रज्वलित होती है, उस अग्निमय पुरुष को अर्क कहते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि मनुष्य में जिस किसी भी उद्देश्य के प्रति अग्नि प्रज्वलित हो जाये, क्या ऐसे मनुष्य को अर्क कह सकते हैं ? इसके निर्णय के लिये हमें अर्क के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है। बृ० उप० १।२।१ में अर्क का अर्कत्व क्या है ? यह खोला गया है। इस अर्कत्व के स्पष्टीकरण से सब बातें स्पष्ट हो जायेंगी। यह प्रकरण इस प्रकार है—

'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति सोऽर्चन्नचरत् तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कं ह वाऽस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद'।

यहाँ प्रारम्भ में कुछ भी नहीं था। अशनाया रूपी मृत्यु से सब कुछ घिरा हुआ था। तब मन ने यह सोचा कि मुझे आत्मन्वी अर्थात् आत्मा वाला बनना चाहिये। यह सोचकर आत्मा की प्राप्ति के लिये वह अर्चना करता हुआ विचरण करने लगा।

अर्चना करते हुए उसके अन्दर जल उत्पन्न हो गये। और अर्चना करते हुए उस मन को सुख हुआ। यही अर्क का अर्कत्व है। जो इस अर्क के अर्कत्व को जानता है, उसे सुख होता है।

बृहदारण्यकोपनिषत् का यह प्रकरण परमपुरुष परमात्मा तथा मानव-पुरुष दोनों में घटाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों में इसको लगाया जा सकता है। ब्रह्माण्ड में तो इसका भाव यह है कि जिस समय सृष्टि बननी प्रारम्भ हुई तो शक्तियाँ एक-दूसरे का भक्षण करने लगीं। उस समय भूख व भक्षण का ही चारों ओर राज्य था। अर्थात् एक-दूसरे का भक्षण करने से सर्वत्र मृत्यु ही मृत्यु थी। इसके अनन्तर मनस्तत्त्व ने परमात्मा का सम्पर्क चाहा। इसके लिये उसने अर्चना की। तब परमात्मा के सम्पर्क से उसमें अर्क की उत्पत्ति हुई अर्थात् परमात्मा के तदुद्देश्य सम्पर्क से इस ब्रह्माण्ड में अग्नि पैदा हो गई। यही अग्नि अर्क है। इसका आगे परिणाम यह हुआ कि अण्डे में अग्नि के आ जाने से जल की उत्पत्ति हुई। अर्थात् जल रूप में पिघल-२ कर बहुत से पदार्थ अलग होतेगये और वे पृथ्वी आदि बनते गये। इस प्रकार ब्रह्माण्ड में हमने इस अर्क की उत्पत्ति का संक्षिप्त भाव दिखाया। परन्तु हमें यहाँ पिण्ड अर्थात् मनुष्य में आध्यात्मिक पहलू से इस अर्क का स्पष्टीकरण करना है इस लिए मनुष्य में इसका भाव इस प्रकार होगा कि साधारण मनुष्य सदा 'अशना' (भूख, इच्छा (Desire, Appetite) से घिरा रहता है। जब तक मनुष्य में अशना अर्थात् भूख, इच्छाएं आदि बनी रहती हैं, तब तक वह मृत्यु से छुटकारा नहीं पा सकता। इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह इधर-उधर मारा-२ फिरता है। पग-२ पर उसका पतन होता है। इसी प्रकार बहुत सी बातें मनुष्य में इस 'अशना' के कारण आ जाती हैं। परन्तु जब मनुष्य यह अनुभव कर लेता है कि इच्छाओं की पूर्ति असम्भव है। इसके कारण दुःख ही दुःख हैं और ये अनित्य हैं, इसलिये इनके होते हुए मृत्यु से छुटकारा असम्भव है, तब वह इस 'अशना' को छोड़कर भगवान् की खोज करता है, आत्मन्वी बनता है। उस समय वह भगवान् की अर्चना करता हुआ विचरता है। भगवान् की प्राप्ति के लिये वह रोता है। प्रकृति के भोगों को पूर्णतया छोड़कर चारों ओर वह भगवान् की ही खोज करता है। जहाँ पहले इच्छाओं की पूर्ति के लिये वाणी का उपयोग होता था, वहाँ अब भगवान् के गुण-कीर्तन में ही वाणी का उपयोग होता है। जहाँ पहले स्वार्थमयी तथा बुरी दृष्टि से औरों को देखता था, वहाँ अब वह तृषित आँखों से ब्रह्माण्ड के एक-२ कण में भगवान् की खोज करता है। जहाँ पहले झूठी तथा बनावटी कीर्ति को सुनकर फूला न समाता था, वहाँ अब हरिकीर्तन सुनने के लिये सदा उत्सुक रहता है। इसी प्रकार अन्य सब इन्द्रियों का उपयोग वह भगवान् के लिये करता है। इस प्रकार मन आत्मन्वी अर्थात् आत्मा की खोज करने वाला बन जाता है। और भगवान् की अर्चना करता हुआ वह रात-दिन विचरता है। इस अवस्था में आकर यह आन्तरिक अग्नि अर्क कहलाती है। भगवान् की अर्चना में भक्त के आँखों से आँसू भी झरते हैं। यह (अर्चत आपोऽजायन्त) अर्चना करते हुए जल की उत्पत्ति

है। और इस रोने-धोने में उसे दुःख नहीं होता, अपितु सुख ही होता है। इस लिये भगवान् की अर्चना में सुख के अनुभव होने से (अर्च+क) इस आन्तरिक अग्नि को अर्क कहते हैं। इस अर्क रूपी अग्नि का सम्पर्क करके यह आत्मा भी अर्क कहलाती है। यह आन्तरिक अग्नि अन्दर ही न समाकर इन्द्रियों द्वारा बाहिर भी निकलती है। इस लिये इन्द्रियाँ भी अर्क कहलाती हैं। इसी बात को श्वेतकेतु के पिता आरुणि ने वैश्वावसव्य ब्राह्मण से पूछा था। उसका भाव निम्न शब्दों में इस प्रकार है। पुरुष ही अर्क है। दोनों कान अर्कपर्ण हैं। आँखें अर्कपुष्प हैं। नाक अर्ककोश है। ओष्ठ अर्क समुद्ग (पिटारी) हैं। दाँत अर्कधान हैं, जिह्वा अर्काष्ठीला और अन्न अर्कमूल है। इसलिये यह अग्निमय पुरुष ही अर्क है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकरण के आधार पर हमने यह देखा कि जिस किसी भी उद्देश्य के लिये प्रज्वलित अग्नि को अर्क नहीं कहते। भगवान् की प्राप्ति के लिए प्रदीप्त अग्नि को ही अर्क कहते हैं।

अर्क का निवास-स्थान

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि मन आतमन्वी बना अर्थात् आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध हुआ और आत्मा की अर्चना करते हुए उसके अन्दर अग्नि प्रज्वलित हुई। इससे यह अग्नि मानसिक अग्नि है। अब विचारणीय यह है कि इस अर्क का अग्नि रूपी निवास स्थान क्या है? उपर्युक्त श० प० ब्रा० १०।३।४।५ के प्रकरण से, जहां कि अर्क का अर्कत्व बताया गया है यह पता चलता है कि अर्क का स्थान मन है। परन्तु इस मन का मुख्य स्थान हृदय (हृत्प्रतिष्ठम्) होते हुए भी मस्तिष्क भी इसका स्थान है। इसलिये अर्क का स्थान भी हृदय और मस्तिष्क दोनों हैं। परन्तु प्रमाणों से हमें यह पता चलता है कि अर्क की दृष्टि से मन के दूसरे निवास-स्थान मस्तिष्क का ही मुख्य रूप से यहाँ ग्रहण करना है। इसी दृष्टि से ता० ब्रा० में कहा गया है कि—

'अर्कवतीषु गायत्रीषु शिरो भवति'। ता० ब्रा० ५।१।८

अर्थात् अर्कवाली गायत्रियों का स्थान सिर है। इसका भाव यह है कि जिन गायत्रियों में अर्क का वर्णन हो या अर्क के द्वारा भगवान् की अर्चना हो, उन गायत्रियों के गान के समय मनुष्य को सिर में ध्यान करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि अर्क का मुख्य स्थान सिर है। श० प० ब्रा० ८।६।२।१९ में भी अर्क का निवास-स्थान वहाँ मस्तिष्क बताया है।

अर्को देवानां परमे व्योमन्, अर्कस्य देवाः परमे व्योमन्।

इस पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि उत्तम चिति में सब देव अग्निरूपी अर्क के साथ बैठे हुए हैं। उत्तम चिति सिर है। और इस सिर को परम व्योम करके कहा गया है। इस प्रकार अर्क का मुख्य निवास-स्थान सिर है। वेद-मन्त्रों से भी हमें ऐसा ही निर्देश मिलता है। ऋ० १।१८६।४ में एक पद आता है कि 'समाने अहन्

विमिमानो अर्कम्' अर्थात् यह अर्क मस्तिष्क रूपी एक ही भाग में विविध रूप धारण करता है। मस्तिष्क में अर्क के वे विविध रूप कौन से हैं? इसके लिए ऋ० ८।५१। ४ में कहा कि **'यस्मा अर्कं सप्तशीर्षाणमानृचुः'** अर्थात् जिस इन्द्र के लिए मनुष्य सिर में सात रूपों में विभक्त अर्क को प्रकाशित करते हैं या अर्चना करते हैं। परन्तु यदि और गम्भीरता से विचार करें तो हम यह कह सकते हैं कि योग व अध्यात्म में चलने वाले पुरुष के हृदय और मस्तिष्क में भेद नहीं रहता। वहाँ दोनों एक हो जाते हैं। वेद-मन्त्र में अथर्वा पुरुष के लिए भी ऐसा ही कहा है कि वह हृदय और मस्तिष्क को एकरूप में सी देता है अर्थात् एक कर देता है।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्० (अथर्व० १०।२।२६)

इसलिए अध्यात्म में विचरने वाले मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क एक हो जाता है। इस दृष्टि से अर्क हृदय में रहे या मस्तिष्क में रहे, बात एक ही है। या यूँ कह सकते हैं कि अर्क सिर में भी है और हृदय में भी है।

इन्द्रिय-सम्बन्धी अर्क

यह अर्क हृदय और मस्तिष्क में रहता हुआ भी यह आवश्यक नहीं कि इन्द्रियों में भी विद्यमान हो। हम संसार में ऐसे बहुत से व्यक्ति देखते हैं जिनकी बुद्धि बहुत उत्कृष्ट है। गुह्य तथा रहस्यमय बातें उनकी बुद्धि में आती हैं, परन्तु इन्द्रिय व शरीर की दृष्टि से बिलकुल साधारण व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इसमें सम्भवतः यह कारण हो सकता है कि आन्तरिक हृदय गुहा से जो शक्ति बाहिर प्रकट होना चाह रही है, वह केवल अभी तक बुद्धि तक ही आकर रह गई हो। इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि अर्करूपी अग्नि इन्द्रिय तक न पहुचे। इसलिए वेदमन्त्रों में इन्द्रिय-सम्बन्धी अर्क को उत्पन्न करने का विधान किया है। मन्त्र इस प्रकार है--

'अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियम्' ऋ० १।८५।२

अर्थात् अर्चना करते हुए मरुतों ने इन्द्रिय-सम्बन्धी अर्क की उत्पत्ति की। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रियों में अर्क की उत्पत्ति की जाती है। इन्द्रियों में अर्क की उत्पत्ति का भाव यह है कि आन्तरिक अग्नि जो कि अर्क रूप है, अन्दर ही सीमित न रहकर उसका शरीर व इन्द्रियों में भी अवतरण किया जाये। प्रत्येक इन्द्रिय चहुं ओर भगवान् के ही रूपों का दर्शन करे तथा शरीर का एक-एक कण भगवान् की अर्चना कर रहा हो। ऐसी अवस्था अर्की पुरुष की होनी चाहिए। जब अर्की पुरुष की इन्द्रियों में भी अर्क का अवतरण व उत्पत्ति हो जाती है, तब वह अर्क इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् में भी प्रकट होता है। इन्द्रियों में अर्क के उत्पन्न होने पर उनमें दिव्यता आ जाती है। जिस किसी भी व्यक्ति पर अनुग्रह रूप में अर्की पुरुष के अर्क पड़ते हैं, वह पवित्र हो जाता है, उसके सब मल धुल जाते हैं। उन अर्की नामक दिव्य पुरुषों की आँख की दिव्य ज्योति मनुष्यों के मैल को भस्म कर देती है। इसी आधार पर बृहस्पति के लिए भी मन्त्र में कहा गया कि वह बृहस्पति अपनी आन्तरिक अग्नि से परितप्त अर्कों अर्थात्

आँख की दिव्य ज्योति से शिष्य के वलरूपी आवरण को विनष्ट कर देता है—**जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः ।**

अर्क के कार्य

अब हम मन्त्रों द्वारा यह देखते हैं कि अर्क क्या-क्या कार्य कर सकता है ।

ऋ० ३।३१।११ में आता है कि 'उदुस्त्रिया असृजदिन्द्रो अर्कैः' अर्थात् इन्द्र ने अर्कों द्वारा दिव्य किरणों को ऊपर की ओर को गति दी । इस मन्त्र-भाग से यह स्पष्ट है कि दिव्य किरणों के उद्गम में अर्क का बहुत बड़ा स्थान है । बृहस्पति भी अर्कों द्वारा अर्थात् अपनी दिव्य चक्षु द्वारा शिष्य के आवरण को विनष्ट करता है । और शिष्य की दिव्य शक्ति को ऊपर की ओर प्रेरित करता है । बृहस्पति के लिए एक मन्त्र-भाग में कहा गया है कि **'बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः'** ऋ० ६।७३।३ अर्थात् बृहस्पति अर्कों द्वारा शत्रु का हनन करता है । एक मन्त्र में इन्द्र के लिए कहा गया है कि— **'अर्कैरभि प्र णोनुमः समोजसे'** ऋ० ८।१२।२३ अर्थात् श्रेष्ठ ओज की प्राप्ति के लिए अर्कों द्वारा हम इन्द्र को प्रणाम करते हैं । **'शुचिमर्कैर्बृहस्पतिमध्वरेषु नमस्यत'** ऋ० ३।६२।५ उस शुचि बृहस्पति को अध्वरों के अवसर पर नमस्कार करो ।

'स त्वं न इन्द्र धियसानो अर्कैः' ऋ० ५।३३।२

हे इन्द्र ! तू हमें अर्कों द्वारा बुद्धि व कर्मों को देने वाला है ।

'ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ' । ऋ० ५।३१।४

ब्रह्म में विचरने वाले व्यक्ति अहि के हनन के लिए आत्मरूपी इन्द्र को अर्कों द्वारा महान् बनाते हैं ।

सिन्धाविव प्रेरयं नावमर्कैः । ऋ० १०।११६।९

जिस प्रकार नदी व समुद्र में नौका को पतवारों से खेते हैं, उसी प्रकार अर्क-रूपी पतवारों द्वारा इस संसार-सागर में मैं अपनी जीवन-नैय्या को खेता हूं ।

स्वर्यद् वेदि सुदृशीकमर्कैः । ऋ० ४।१६।४

अर्कों द्वारा सुन्दर तथा रमणीय दृश्यों वाले स्वर्लोक को मैं जान लेता हूं । इससे यह स्पष्ट है कि अर्कों की शक्ति इतनी महान् हो सकती है कि ब्रह्माण्ड में विद्य-मान सब वस्तुओं को इनके द्वारा देखा व जाना जा सकता है ।

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोधि । ऋ० ३।६१।६

अर्थात् ऋत को प्रकट करने वाली (ऋत-आवरी) दिव्य उषा मस्तिष्क रूपी द्युलोक के अर्कों द्वारा जागृत की जाती है ।

ब्रह्म कृण्वन्तो गोतमासो अर्कैरूर्ध्वं नुनुद्र उत्सधिं पिबध्यै । ऋ० १।८८।४

अर्थात् (गोतमासः) इन्द्रिय-सम्बन्धी दिव्य शक्ति वाले पुरुष ब्रह्म को साधते हुए दिव्यज्ञान का पान करने के लिए (उत्सधिं) दिव्य ज्ञान के समुद्र व फुव्वारे को अर्कों द्वारा ऊपर की ओर को प्रेरित करते हैं ।

उत्स वह फुव्वारा है जिसमें से दिव्य ज्ञान की धारायें फूटकर निकलती हैं । इस दिव्य ज्ञान की धाराओं को धारण करने वाले को 'उत्सधिं' कहते हैं । लौकिक

भाषा में इसे चाहे कूआ कहलें, समुद्र कहलें, भंडार कहलेवें बात एक ही है। ब्रह्म की साधना करने वाले पुरुष अर्कों द्वारा इस दिव्य ज्ञान के भंडार को ऊपर की ओर को खोलते हैं।

रपत् कविरिन्द्रार्कसातौ० ऋ० १।१७४।७

हे इन्द्र ! अर्क के दान के लिए कवि तेरी स्तुति करता है कि तू उसे अर्क दे। जिस कवि को भगवान् अर्क देता है, उसको भगवान् प्रेरित करता है कि इस अर्क को तू अन्यों को दे। मन्त्र इस प्रकार है—

त्वं कविं चोदयो अर्कसातौ। ऋ० ६।२७।३

हे भगवन् ! तू कवि को अन्यों को अर्क देने के लिए प्रेरित करता है।

सो अर्केण विबबाधे तमांसि। ऋ० १०।६८।६

वह बृहस्पति अर्क द्वारा अन्धकार को दूर करता है।

ऋ० १०।६८।१ मन्त्र में बृहस्पति के अर्कों के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्यर्का अनावन्॥

बृहस्पति के अर्क जल में भीगे व डूबेहुए पक्षी के समान विषय-भोगों में डूबे हुए मनुष्यों की रक्षा करते हैं। मेघ में स्थित विद्युत् के समान पापों के प्रति गरजते हैं। और जिस पर ये अर्क जाकर पड़ते हैं, उसे इस प्रकार विकसित कर देते हैं, जिस प्रकार पहाड़ की चोटी से गिरकर लहरें खिल जाती हैं।

इस प्रकार संक्षेप में हमने अर्कों के सम्बन्ध में विचार किया। दिव्य गुरु के ये अर्क अर्थात् दिव्य किरणें शिष्य के आवरण को विनष्ट करती हैं, और उसकी शक्तियों को विकसित करती है। □

सप्तम अध्याय

बृहस्पति और आसुरी शक्तियाँ

वल-असुर (आवरण)

ऊपर हमने संक्षेप में ऐन्द्रियिक दिव्य शक्तियों के सम्बन्ध में विचार किया। ये शक्तियाँ देवताओं की गौएं हैं, प्रकाश की किरणें हैं। इन शक्तियों व प्रकाश की किरणों को रोकने वाला एक आवरण है, जिसको वैदिक साहित्य में कई नामों व विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। इस आवरण को हम वैदिक साहित्य की परिभाषा में आसुरी-शक्ति कह सकते हैं। संसार में दो ही शक्तियाँ हैं। एक दैवी शक्ति और दूसरी आसुरी शक्ति। दैवी शक्ति प्रकाश की प्रतिनिधि है तो आसुरी शक्ति प्रकाश को रोकने वाली है। यह आसुरी शक्ति रज और तम इन दोनों से सम्बन्ध रखने वाली है। अब प्रश्न यह है कि यह आसुरी शक्ति एक है या अनेक। अर्थात् वृत्र, वल, अद्रि, अहि, पणि आदि नामों से कहे जाने वाले भिन्न-२ असुर हैं, या एक ही आसुरी शक्ति के कार्यभेद या स्थानभेद से विविध नाम हो गये हैं। इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि इन्हें चाहे भिन्न-२ असुर मान लेवें या एक ही शक्ति के स्थान व कार्य की दृष्टि से विविध नाम मान लेवें; इसमें कोई विशेष विरोध की बात नहीं है। इस सम्बन्ध में हम विशेष विचार फिर कभी रक्खेंगे। यहाँ पर हम यही मानकर चलते हैं कि एक ही आसुरी शक्ति के स्थान, कार्य व गुण आदि की दृष्टि से भिन्न-२ नाम हो गये हैं। और वह आसुरी शक्ति 'वल' है। बृहस्पति से वृत्र शम्बर आदि का भी सम्बन्ध है, पर प्रमुख रूप से वल का है। इसलिए हमने वलासुर[1] के ये कई नाम व विशेषण माने हैं। उसकी नगरी व आश्रय स्थानों का भी संकेत मिलता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस वल को असुर कहा गया है। असुर कहने का भाव यह है कि यह प्राण की बुरी शक्ति है जो कि आत्मज्योति को रोकती है। 'वल'[2] के धात्वर्थ से भी यही पता चलता है कि यह एक आवरण है। यह आवरण आत्मज्योति को केवल घेरने वाला ही नहीं अपितु उसे सांसारिक भोग भोगने में साधन भी बनाता है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि मानवीय शरीर का यही वलासुर स्वामी

---

१. **वलः, अलातृणः, पीयतः, पर्वतः, अश्मा, तमः, अद्रिम्, फलिगम् गोव्रजः (गोः पुरा-व्रजः) अश्मन्मयानि नहना, अनृतस्य सेतुः, अवाचीं पुरम्, दुघानां रक्षितारम्, पणिम्, गोधायसम्, मृधः, अर्बुदम्, अहिः, दृभीकम्, कृत्रिमाणि रोधांसि, वलस्य विलम्, वलस्य परिधीन्, वलस्य सानुम्।**

२. **वल-बल संवरणे संचरणे च।**

है। वासनामय जगत् में देवों की गौओं (इन्द्रिय-शक्तियों) को लिए हुए वह घूमता फिरता है यह वलासुर दो कार्य करता है। एक तो आत्मा[१] की सामर्थ्य को नष्ट करता है। और दूसरे गौएं अर्थात् इन्द्रियों की दिव्यता बिल[२] से बाहिर न निकल आवे ऐसा उपाय करता रहता है। अब हम संक्षेप में वलासुर के विशेषणों आदि का स्पष्टीकरण करते हुए उसके स्वरूप पर कुछ प्रकाश डालते हैं।

मनुष्य की कुछ इच्छायें, संस्कार व वासनायें आदि होती हैं, जिनकी सीमा में रहता हुआ ही वह सोचा करता है, और कार्य किया करता है। उसके अपने मन्तव्य उसे बाहिर नहीं जाने देते। जो सिद्धान्त उसके अपने बन चुके हैं वे ही ठीक हैं, ऐसा उसका आग्रह हो जाता है। ये सब "कृत्रिमरोध"[३] हैं, और वलासुर के रूप हैं। दूसरे शब्दों में इनको वलासुर की परिधियाँ[४] भी कह दिया है। इसका भाव यह है कि प्रत्येक साधारण मनुष्य की अपनी-अपनी परिधियाँ होती हैं, जिनके बाहिर वह सोच नहीं सकता और न देख सकता है। यदि ऐसे मनुष्य के सामने उसकी परिधि के बाहिर की बात कही जाये तो वह उसे सुनना पसन्द न करेगा। उसकी हंसी उड़ायेगा या उस पर विश्वास न करेगा अथवा उसको समझ न सकेगा। इसलिए श्रेष्ठ व पारखी पुरुष दूसरे मनुष्य को देखकर तत्काल यह जान लेते हैं कि उसकी परिधि कहाँ तक है। उस परिधि से बाहर की बातें उसे नहीं कहते। क्योंकि वह समझ नहीं सकता। श्रीमद् भगवद्गीता में भी **'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानाम्'** इस श्लोक द्वारा यही बात कही है। वलासुर को 'कृत्रिमरोध' कहने से हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि मनुष्य बाह्य संसार की दृष्टि से कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो यदि उसने भी 'कृत्रिमरोध' बना लिए हैं, तो वह भी इस आध्यात्मिक क्षेत्र में एक मूर्ख मनुष्य के तुल्य ही है। इसलिए जो बाह्य जगत् के लिए कसौटी है, वह आध्यात्मिक जगत् के लिए बिल्कुल निकम्मी है। इस प्रकार यह वलासुर ही मनुष्यों की परिधि बाँधने वाला है।

मनुष्य में जो दिव्य प्रकाश की किरणें हैं, उनके लिए यह वलासुर बाड़े[५] का काम भी करता है। जिस प्रकार गौएं बाड़े में घेर ली जाती हैं, और वे उस बाड़े से बाहिर नहीं जा सकतीं, इसी प्रकार देवों की दिव्य प्रकाश की किरणों को यह वलासुर घेरे रहता है। और जो ऐन्द्रियिक किरणें बाहिर आ रही हैं।' एक तो वे आवरण में से छनकर आ रही हैं अथवा यह भी कह सकते हैं कि उनके आगे-आगे यह वलासुर चलता है। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि जिसको जिसके प्रति पक्षपात होता है, उसी के हक में वह देख व सुन सकता है अर्थात् अपने आवरण के अनुकूल

---

१. अलातृणः (अलमातृणत्ति) ऋ० ३।३०।१०
२. वलस्य बिलम् ऋ० १।११।५
३. कृत्रिमाणि रोधांसि ऋ० २।१५।८
४. वलस्य परिधीन् ऋ० १।५२।५
५. गोः व्रजः (गोः पुरा व्रजः) ऋ० ३।३०।१०

ही वह देखेगा, सुनेगा और सब कार्य करेगा। और फिर यह वलासुर प्रकाश की किरणों को रोक रखने के लिए एक कार्य यह करता है कि वासना आदि के तह पर तह रखता चला जाता है, जिससे कि वे पहाड़[1] व उनके शिखर[2] बन जाते हैं। जिस मनुष्य में वलासुर का पहाड़ व शिखर बन चुका है, उसको देखकर आसानी से पता लगाया जा सकता है कि अमुक व्यसन, पाप व आग्रह उसमें विशेष रूप से हैं। इस प्रकार जब नानाविध व्यसनों व वासनाओं आदि के पहाड़ व शिखर बन जाते हैं, तब उन्हें विदीर्ण[3] करना या भग्न कर देना बड़ा कठिन कार्य हो जाता है। वे एक प्रकार के पत्थर के बांध[4] बन जाते हैं, जिनको लांघना बड़ा कठिन हो जाता है। इसलिए वलासुर को स्वयं अश्मा[5] अर्थात् पत्थर भी कह दिया है। इस वलासुर को तम[6] भी कहा गया है अर्थात् वह अन्धकार रूप है। जिस मनुष्य में तमोगुण की अधिकता से अन्धकार छाया हुआ होता है, उसे विश्वास होता ही नहीं कि कोई दिव्य प्रकाश भी होता है। यह दिव्य प्रकाश हमारी अन्तरतम गुफा में निहित है। इसलिए उस दिव्य प्रकाश को पाने के लिए मनुष्य को अपने अन्दर की ओर जाना चाहिए। परन्तु यह वलासुर मनुष्य को अन्दर न जाने देकर बाहर की ओर ही ले जाता है। इसलिए अन्दर क्या है ? इसका मनुष्य को ज्ञान तक नहीं होता। वेद में भी इस वलासुर की नगरी के द्वार[7] बाहर की ओर ही खुलने वाले बताये हैं। इसी भाव को कठोपनिषद् में दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह दिया है।

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्"
"पराचः कामाननुयन्ति बालाः" कठ० २।१।१-२

अर्थात् भगवान् स्वयम्भू ने इन्द्रियों को बाहिर की ओर खोद दिया है। इस लिए मनुष्य बाहर की ओर को देखता है, अपने अन्दर की ओर नहीं देखता।

बालबुद्धि मनुष्य ही बाह्य कामनाओं के अनुकूल चलते हैं। इसलिए वलासुर का एक गुण वेद में यह भी बताया है कि वह (फलिगम्)[8] फलाभिलाषा से किये गये कर्मों में विद्यमान रहता है। इसलिए मनुष्य में जब तक फलाभिलाषा विद्यमान है तब तक वलासुर का विनाश नहीं हो सकता। और इस प्रकार दिव्यशक्तियों का उद्गम कठिन है। इसी प्रकार वेद-मन्त्र में भी वलासुर की नगरी को बहिर्मुखी बताया है। साधारण मनुष्य इस दिव्य प्रकाश को क्यों नहीं देख सकता ? इसका एक हेतु और भी है, और वह यह कि इस वलासुर की नगरी के द्वार पर बांध है, जो अनृत[9] रूप है। इस अनृत रूपी बांध के कारण अन्दर प्रवेश न कर सकने से सचाई क्या है, मनुष्य यह नहीं देख

---

१. पर्वतनः ऋ० २।१५।८
२. वलस्य सानुम् ऋ० ६।३९।२
३. अद्रिः ऋ० १०।६८।११
४. अश्मन्मयानि नहना ऋ० १०।६७।३
५. अश्मस्य ऋ० १०।६८।४
६. तमः ऋ० १०।६८।५
७. अपाचीं पुरम् ऋ० १०।६७।५
८. फलिगम् ऋ० ४।५०।५
९. अनृतस्य सेतुः ऋ० १०।६७।४

पाता। वह सत्य कुछ और समझता है। वासनाओं से अभिभूत होकर संसार के इन क्षणभंगुर भोगों में असली सुख समझता है, पापों व बुरी बातों की प्रशंसा करता है और इन भोगों के वह इतना पराधीन हो जाता है कि एक प्रकार से पीया[1] जाता है। और इस प्रकार वे भोग आत्मा की शक्ति का विनाश कर देते हैं।

इस प्रकार वलासुर के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वेद में आये उसके विशेषणों, संज्ञाओं आदि द्वारा हमने संक्षिप्त विवेचन किया। इसी प्रकार और भी कई रूपों में वलासुर के स्वरूप का वर्णन वेद-मन्त्रों में आता है। वलासुर सम्बन्धी ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि आधुनिक भाषा में वल को यदि कोई नाम देना चाहें तो 'वासना' नाम दिया जा सकता है। वल वासना का एक रूप है जो कि प्रकाश की किरणों को रोकता है। यह वासना शब्द वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों व प्रमुख उपनिषदों में बिल्कुल नहीं आता। इसलिए भी यह विचारणीय हो जाता है कि वासना के लिए वेदादि शास्त्रों में क्या शब्द आया है? वल के स्वरूप व कार्यों को देखते हुए हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि वेदादि प्राचीन शास्त्रों में वासना के स्थान पर 'वल' या 'वृत्र' प्रयोग हुआ है। वल और वासना को पर्याय बताने वाला अथवा उनमें परस्पर सम्बन्ध जोड़ने वाला एक प्रमाण भी है। "वलन्ति हृदि वासनाः" महोपनिषत् ५।७८ अर्थात् हृदय में विद्यमान वासनाएं मनुष्य को आ घेरती हैं।

इस प्रकार वल धातु का प्रयोग वासना की एक क्रिया के लिए हुआ है। इस 'वल' क्रिया के कर्ता को वासना कह दो या 'वल' कह दो बात एक ही है। इसलिए अब हम वल के स्थान पर वासना शब्द का भी प्रयोग करेंगे।

वल का शरीर में स्थान व स्थिति

वेद में वलरूपी वासना को प्रमुख रूप से विनष्ट करने वाले दो देवता बताये गये हैं। एक इन्द्र और दूसरा बृहस्पति। इन दोनों का निवास व कार्य-क्षेत्र हृदय और मस्तिष्क दोनों स्थान हैं। यह वलरूपी वासना भी इन्हीं दोनों स्थानों पर रहती है। हृदय में यह मन आदि से सम्बन्धित कलारूपी दिव्य प्रकाश की किरणों को घेरती है। और मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली इन्द्रिय-सम्बन्धी दिव्य किरणों को घेरती है। हमें इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिये कि मानव-पिण्ड में हमारी इस आत्मा व आत्मिक शक्ति के स्थान-भेद वा कार्य-भेद से ही इन्द्र व बृहस्पति दो नाम हो गये हैं। हमारी यह आत्मा की शक्ति व परमात्म-शक्ति इन्द्र व बृहस्पति नाम से इन दोनों की वासनाओं को विनष्ट करती हैं। इस वलरूपी वासना की हमारे शरीर में कई प्रकार की स्थितियाँ बताई गई हैं। उदाहरण के तौर पर उनमें कुछ इस प्रकार हैं।

---

१. पीयतः ऋ० १०।६८।६

शीपाल-शैवाल (काई)—(ऋ० १०।६८।५) जिस प्रकार पानी में काई जम जाती है अथवा तालाबों में ठहरे पानी के अन्दर शैवाल व काई जैसी घास उग आती है, और वह तालाब के सम्पूर्ण पानी को घेर लेती है, इसी प्रकार इस वलरूपी वासना ने हमारे प्रकाश के स्थानों को घेर रक्खा है।

भोज्यौज—(ऋ० १०।६८।६) जिस प्रकार भोज्य पदार्थ में उसकी निधि भोज्यौज छिपी रहती है, उस निधि को हम किसी भी नाम से कह लेवें। हमने उसका नाम भोज्य पदार्थ का ओज तत्त्व करके स्मरण किया है। उस निधि के चारों ओर आवरण रहता है।

अण्डा—(ऋ० १०।६८।७) जिस प्रकार अण्डे के अन्दर पक्षी का गर्भ घिरा रहता है, उसी प्रकार वलरूपी वासना ने प्रकाश की किरणों को घेर रक्खा है।

मज्जा—(ऋ० १०।६८।९) जिस प्रकार हड्डी से मज्जा चिपटी रहती है, उसी प्रकार यह वासना भी इन्द्रिय-शक्तियों से चिपटी हुई है।

गोमती—(ऋ० ८।२४।३०) इन्द्रियों के प्रवाह में यह वलरूपी वासना साथ-साथ बहती है और उसमें रमी रहती है।

इस प्रकार उपर्युक्त कुछ स्थितियाँ वलरूपी वासना की हमने दिखाई। इसी प्रकार और भी कई रूपों में इस वासना ने मनुष्य को आक्रान्त कर रखा है। इस वासना रूपी मल से जब मनुष्य का छुटकारा हो जाता है, तब वह दिव्य प्रकाश सब इन्द्रिय-द्वारों में प्रकट होता है जो कि ओझल वस्तु को भी देख सकता, सुन सकता है इत्यादि। □

अष्टम अध्याय

बृहस्पति और वलासुर (वासना) विनाश

वल आदि आसुरी शक्तियों के विनाश के लिए वेदादि शास्त्रों में अनेकों साधन बताये गये हैं। उनमें से कुछ साधनों का हम यहां वर्णन करते हैं।

इन वासनाओं से छुटकारा पाने के लिये कई मनुष्य यह करते हैं कि उन वासनाओं को जबर्दस्ती दबाते हैं। वासनाओं से छुटकारा पाने का यह उपाय ठीक नहीं है। क्योंकि इससे वासनाएं जाती तो नहीं परन्तु मनुष्य के अवचेतनात्मक स्थान (Sub-conscious self) में जा छिपती हैं। मनुष्य यह समझता है कि वासनाएं हट गईं परन्तु वे हटी नहीं होतीं। अवचेतनात्मक भाग में पड़ी हुई अपनी संतुष्टि का अवसर ढूंढती रहती हैं। इस अवचेतनात्मक भाग का वेदादि शास्त्रों में असुरों की पुरि, वल का बिल, इत्यादि कई नामों से संकेत किया गया है। असुरों की पुरि में छिपी हुई वे वासनाएं स्वप्नादि में प्रकट हुआ करती हैं। योग-भ्रष्ट होने का भी यही कारण है। योग-मार्ग में चलने वाला व्यक्ति यदि वासनाओं को दबाता है, उनको निकाल बाहर नहीं करता तो ऐसे योगाभ्यासी के पतन का सदा खतरा बना रहता है। इसी प्रकार वासनाओं को दबाने का परिणाम बड़ी-२ बीमारियों का पैदा हो जाना भी है। इसलिये विचारणीय यह है कि इन वासनाओं से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य को क्या उपाय करना चाहिये ?

इस आवरण या वासना को विनष्ट करने के लिए दो प्रकार के उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है। एक तो यह है कि सीधा इस आवरण पर प्रहार शुरू कर दिया जाये। और दूसरे इस आवरण या वासना ने जिन गौओं अर्थात् इन्द्रिय-शक्तियों को घेरा हुआ है, उनको खूब बढ़ाया जाये जिससे कि वे बढ़कर स्वयं उस आवरण का विनाश कर देवें।

इन दोनों प्रकार के उपायों से वल रूपी वासना व आवरण को विनाश करने का वेद-मन्त्रों में विधान मिलता है। आवरण को विनष्ट करने के लिये ये दोनों प्रकार के उपाय साथ-साथ चलने चाहियें।

भगवान् ने संसार का निर्माण करते हुए अंधकार की प्रतिनिधि आसुरी शक्तियों व प्रकाश की प्रतिनिधि दैवी शक्तियों के लिये काल की दृष्टि से दो विभाग कर दिये हैं। आसुरी शक्तियों के लिए रात्रि है और दैवी शक्तियों के लिए दिन है। मनुष्यों में वासना आदि का वेग प्रायःकर रात्रि में ज्यादह होता है। और दैवी शक्ति का प्रभाव दिन में अधिक होता है। क्योंकि समाज-भय तथा विवेकरूपीदण्ड आदि दिन में दैवी शक्ति का साथ देते हैं। ये दोनों शक्तियां परस्पर लड़ती हैं और एक

दूसरे के समय में भी अपना प्रभाव रखना चाहती हैं। जो मनुष्य जिस शक्ति के प्रभाव में होता है, वह शक्ति रात-दिन के २४ घण्टों में ज्यादह से ज्यादह समय तक रहने का प्रयत्न करती है। इसलिए वल रूपी वासना के विनष्ट करने का सबसे प्रथम पग कहने को यह हो सकता है कि मनुष्य वासना के समय को न बढ़ने दे। भगवान् ने मनुष्य के इन्द्रिय-द्वारों में "रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्" ऋ० १०।६८।११ रात्रि में अन्धकार रख दिया है और दिन में ज्योति रख दी है। इस ज्योति और विवेक का आश्रय लेकर मनुष्य को यह करना चाहिये कि सब से प्रथम वह दिन में होने वाले वासना के अभ्यासों व आक्रमणों को रोके। किसी भी इन्द्रिय से किसी भी प्रकार का उपभोग करते हुए उसमें रस न ले तो उससे यह वासना क्षीण होती जायेगी। परन्तु यह काम आसान नहीं है। ये वासनायें[1] निकाली जाती हुई भी बार-बार आकर इन्द्रियों को आ घेरती हैं। क्योंकि इन्द्रियों के अन्दर विद्यमान परमाणुओं को जो अभ्यास पड़ा हुआ है, अथवा जो वासना उन अंगों में चिपटी हुई है, उस पर जब बाह्य दुनिया का उत्तेजक (Stimulus) पड़ता है, तो वह अभ्यास के अनुसार वैसी ही प्रतिक्रिया (Response) कर देती है। मनुष्य जब और भी स्वाद लेता है तो वह और भी दृढ़ मूल होती जाती है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि यह प्रतिक्रिया (Response) क्षीण हो और यदि कभी हो तो अन्तरात्मा के अधीन हो। इस प्रकार इस वल रूपी वासना से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य कई प्रकार के उपाय करते हैं। वनों व जंगलों में चले जाते हैं जहाँ कि दुनिया के साथ सम्पर्क ही न हो। परन्तु इस सम्बन्ध में भी यह याद रखना चाहिये कि किसी अंश तक वनों में चले जाना भी बेकार हो जाता है, यदि इन वासनाओं को जड़ मूल से उखाड़ न फैंका जाये। क्योंकि जंगल में जाकर वासनाओं को कोई उत्तेजक (Stimulus) मिलता नहीं, इसलिए वे शांत-सी पड़ी रहती हैं। मनुष्य यह समझता है कि वासनाएं समाप्त हो चुकीं परन्तु यह भ्रम है। क्योंकि उसकी परीक्षा तो दुनिया में आकर होती है। अत्यधिक बलवान् उत्तेजक के आने पर भी यदि वासनाएं न भड़कें तभी यह समझना चाहिए कि वासनाओं का अन्त हो गया। इसलिए वनों में जाना इतना तो सहायक है कि वासनाओं में जोर नहीं रहता। और उत्तेजक की गरमी न मिलने से उनमें उबाल शनैः-शनैः कम होता जाता है। उस समय मनुष्य थोड़े से भी प्रयत्न से उन्हें उखाड़ फैंक सकता है।

वासनाओं को उखाड़ फैंकना

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि वासनाओं से छुटकारा पाने के लिए प्रायः कर मनुष्य इन्हें दबाते हैं। वासनाओं से छुटकारा पाने का यह तरीका गलत व हानिप्रद है। इसलिए वासनाओं को दबाना नहीं चाहिए, इन्हें उखाड़ फैंकना चाहिए। अब विचारणीय यह है कि इनको उखाड़ने के लिए हमें क्या उपाय करने चाहियें। इसके लिए वेद-मन्त्रों में कई उपाय बताये गये हैं। जैसा कि वेद-मन्त्रों में आता है कि ये वासनाएं

---

१. एष अपश्रितो वलो गोमतीमवतिष्ठति। ऋ० १०।२४।३०

मनुष्य में अस्थि के अन्दर मज्जा की तरह इन्द्रियों से चिपटी हुई हैं और पानी में काई की तरह तथा अन्न में भोज्यौज की तरह विद्यमान हैं; तो सबसे पहला उपाय यह करना चाहिए कि इनके बन्धन को शिथिल किया जाये। इन्हें ऊपर की ओर को तैराया जाये। इस प्रकार करने से इनके बन्धन ढीले पड़ेंगे। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिए कि एक चिपटी हुई चीज, गहराई में पहुंची हुई या दबायी हुई चीज हमें थोड़ी लग सकती है, परन्तु जब उन्हें शिथिल किया जायेगा या ऊपर तैराया जायेगा तो वे बहुत लगेंगी। जिस प्रकार रूई की गांठ कसी हुई थोड़ी-सी लगती है, परन्तु जब उसे शिकञ्जे से बाहर निकालकर फैलावें तो वह बहुत लगने लगती है। इसी प्रकार ये वासनाएं जब मनुष्य में चिपटी हुई होती हैं, या दबादी गई होती हैं, तो ये थोड़ी लगती हैं। परन्तु जब इन पर से नियन्त्रण कम किया जायेगा तो ये ही ऊपर तैरना शुरू कर देंगी और बहुत लगेंगी। उस अवस्था में यह सम्भव है कि योग-साधना करते हुए मनुष्य में कुछ काल के लिये वासनाएं बहुत प्रबल हो जायें और मनुष्य यह समझे कि योगसाधना करने वाला यह व्यक्ति तो ढोंगी तथा अन्यों की आंखों में धूल झोंक रहा है। परन्तु इसकी परवाह न करते हुए भी जिस मनुष्य के अन्दर योगसाधना की आग निरन्तर जल रही है, वह उन वासनाओं को अवश्य उखाड़ फैंकेगा। उनके विनाश होने से पहले वासनाओं का बढ़ना उसी प्रकार है, जैसे कि कोई डाक्टर अपरिपक्व फोड़े को बढ़ाता है। जब फोड़ा पक जाता है तब उसे आसानी से साफ किया जा सकता है, उसी प्रकार जब वासनाओं को शिथिल कर दिया जायेगा तो वे आसानी से उखाड़ी जा सकेंगी। इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण तथा ताण्ड्य महाब्राह्मण में बलासुर को पहले उद्‌भेदन व शिथिल करने का विधान आता है। अब विचारणीय यह है कि इन वासनाओं को शिथिल कैसे करें? इस सम्बन्ध में कई उपाय बताये जा सकते हैं। एक तो यह कि उन पर नियन्त्रण कम किया जाये, उन्हें दबाया न जाये। ऐसी अवस्था में अपने स्वभाव के अनुसार वे सन्तुष्टि (Fulfilment) के लिए स्वयं ऊपर तैरना शुरू कर देंगी। इन वासनाओं को जब दबाया जाता है; या प्रहार किया जाता है तभी ये अवचेतनात्मक भाग (Subconscious Self) में जा छिपती हैं। यदि इन्हें दबाया न जायेगा तो ये क्यों छिपने लगीं? परन्तु इस सम्बन्ध में कोई यह पूछ सकता है कि इन वासनाओं पर से नियन्त्रण आदि के हटा देने या इनको न दबाने से ये और भी भड़क जायेंगी। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वहां तो यह ठीक है, जहाँ कि मनुष्य में भगवान् की प्राप्ति के लिए आग प्रज्वलित नहीं हुई है। ऐसे निरुद्देश्य व दुनियादार आदमी के लिये तो वासनाओं का दबाना किसी अंश में ठीक है। परन्तु भगवान् की प्राप्ति के लिए रात-दिन बेचैन रहने वाले मनुष्य के लिये इन पर ध्यान न देना ही कुछ समय तक ठीक है। जिस समय वासनाएं शिथिल की जाती हैं, उस समय वे बढ़ती हुई दिखाई देती हैं तो उस समय मनुष्य की क्या अवस्था होती है? इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं—जैसे कि दो सेनाओं में लड़ाई हो रही हो, उनमें से एक सेना किले के अन्दर से लड़ रही है, और पर्याप्त सुरक्षित है। उस अवस्था में

बाहिर से लड़ने वाली सेना की ज्यादह क्षति होती है, और वह किसी हद तक घटिया दिखाई देती है। परन्तु जब यह अवस्था आ जाये कि किले के अन्दर से लड़ने वाली सेना को किला छोड़कर बाहिर मैदान में आना पड़े तो उस समय दोनों सेनाओं के असली बलाबल का निश्चय होता है। उस समय कभी कोई सेना जीतती हुई प्रतीत होती है, और कभी कोई। यही अवस्था मनुष्य के अपने अन्दर देवासुर-संग्राम के समय होती है। जिस समय असुर बलवान् होते हैं, और किले (अवचेतन-भाग) में सुरक्षित होते हैं, तो वे रात-दिन देव-सेना पर आक्रमण के लिये अवसर ढूंढते रहते हैं। रात्रि में तो सब देव सो जाते हैं। इसलिये उस समय उनका निष्कण्टक राज्य होता है। और स्वप्नादि रूपों में वे इस शरीर रूपी राष्ट्र में बहुत ऊधम मचाते हैं। परन्तु यदि देव-सेना काफी निर्बल है तो वे दिन में भी मनुष्य को गड्ढे में गिराते रहते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य को यह चाहिये कि इन असुरों से सीधी लड़ाई न छेड़कर अपनी देव-सेना को शक्तिशाली बनाये। अपनी देव-सेना को शक्तिशाली बनाने के क्या उपाय हैं? यह हम वेद-मन्त्रों के आधार पर आगे दिखायेंगे। जब देव-सेना प्रबल होने लगती है तो स्वभावतः असुरों से लड़ाई छिड़ती है। और जब ऐसी अवस्था आ जाती है कि उन्हें किलों से बाहिर आकर लड़ना पड़े तो मनुष्य के अन्दर देवासुर-संग्राम बहुत भयंकर रूप धारण करता है। कभी वासनाएं मनुष्य को बहुत प्रबल रूप में अपनी ओर खींचती हैं तो कभी दैवी शक्ति उसे अपनी ओर खींचती है। एक समय वह देव है तो दूसरे समय वह आसुरी शक्ति के अधीन होता है। बहुत दिनों तक यही अवस्था मनुष्य की बनी रहती है। इसे आधुनिक शब्दों में जागृत समय का द्विविध मनुष्यत्व (Double Personality) कह सकते हैं। एक समय वह कामासक्त है तो दूसरे समय वह सर्वत्यागी विरही बन जाता है। इस प्रकार परिवर्तनशील अवस्थाएं कुछ समय तक बनी रहती हैं। ज्यों-२ वासनाएं क्षीण होती जाती हैं, त्यों-२ दैवी शक्ति प्रबल होती जाती है। स्थूल शरीर की दृष्टि से देखा जाये तो इसमें भी बड़े-२ परिवर्तन आते हैं। इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि जब किसी एक देश में किसी बाह्य जाति का आधिपत्य हो, यदि उसे उस देश का आधिपत्य छोड़ना पड़ जाये तो वह जाति उस देश का कितना विनाश कर जाती है, यह हम भारतवासी अच्छी प्रकार जानते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर रूपी राष्ट्र में से असुरों को बाहर निकालना पड़ जाये तो वे जाते हुए शरीर में बहुत विकार पैदा कर जाते हैं। योगसाधना करते हुए कई प्रकार की बीमारियाँ भी आ सकती हैं। परन्तु यदि किसी दिव्य गुरु का वरद हस्त ऊपर हो तो ये सब कठिनाइयाँ आसानी से पार की जा सकती हैं।

अब विचारणीय यह है कि देव-सेना को विजयी करने और असुरों को क्षीण करने के लिये क्या-२ उपाय काम में लाने चाहियें? वेदों में अनेकों उपाय बताये गये हैं। अब हम क्रमशः उन उपायों को दिखाते हैं।

असुरों से वाक्-युद्ध

जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं कि वासनाओं को दबाना तो नहीं है पर

उखाड़ फैंकना है। इसलिए कभी-कभी यह भी हो सकता है कि मनुष्य को उनका साथ देना पड़ जाये। परन्तु ऐसी अवस्था में वासनाओं के साथ सम्बन्ध सदा शल्य और कर्ण की तरह का होना चाहिए। अर्जुन के साथ युद्ध के अवसर पर शल्य ने कर्ण का सारथि बनना स्वीकार किया, परन्तु वह अपने कटुवचनों से कर्ण के उत्साह को भंग करता ही रहा। इसी प्रकार मनुष्य भी वासनाओं को सदा बुरा ही कहता रहे। वेद में वल आदि आसुरों से लड़ने का यह उपाय अनेकों मन्त्रों में आता है। और असुरों के साथ वाक्-युद्ध का वर्णन तो बहुत आता है। उदाहरण के रूप में निम्न मन्त्र (ऋ० ६।३९।२, ३।३४।१०, १।६२।४, १।६७।६) देखे जा सकते हैं। ऋ० ६।३९।२ में आता है कि—

"पणीन् वचोभिरभियोधदिन्द्रः"

इन्द्र ने पणियों से वचनों द्वारा युद्ध किया। यह एक प्रकार का वाक्-युद्ध है। जिस प्रकार वाणी द्वारा स्तुति कर भगवान् को अपने वश में किया जा सकता है, उसी प्रकार इस वाणी द्वारा पाप-वासनाओं का भी विनाश किया जा सकता है। इस दृष्टि से वाणी का बड़ा महत्त्व है। जब-जब भी वासनाओं के वेग को पूरा करना पड़े तब-तब मनुष्य वेग के शान्त होने पर इन्हें खूब लताड़े, या कोई न कोई निराशा का चित्र खींच दे। ऐसा करते-करते जब वासनाओं के वेग का तथा लताड़ने व निराशा का अटूट सम्बन्ध हो जाएगा तो यह निराशा का चित्र वासना के वेग के सामने भी आ खड़ा होगा। इससे वासना के वेग में उग्रता न रहेगी। और कालान्तर में जाकर इन्हें आसानी से उखाड़ा जा सकेगा। इनके दबाने से तो परिणाम यही होगा कि ये मनुष्य के अन्दर ही रहेंगी। और स्वप्नादि में या अन्य समयों में अवसर पाकर तृप्ति करती रहें या कोई बीमारी पैदा कर देवें। अथवा यह भी हो सकता है कि योग-साधन रूपी मन्दिर की चिनाई शुरू करने पर न जाने कब ये फूट पड़ें और मन्दिर को ही रसातल में पहुंचा देवें। प्रकृति का यह नियम है कि जो वस्तु जितनी अधिक दबाई जाती है, वह उतना ही अधिक भड़क उठती है। इसलिए अपने अन्दर तो इन्हें किसी भी रूप में रहने देना नहीं चाहिए। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि उस तपस्वी तथा संसार-त्यागी साधु से जिसने अपनी वासनाओं को उखाड़ा तो नहीं है, अपितु दबा दिया है, वह आदमी योग-साधन में ज्यादः सुरक्षित है, जो कि वासनाओं को दबाता तो नहीं, परन्तु उनको शल्य-कर्ण की तरह सदा हतोत्साह करता रहता है। वासनाओं को श्रीमद्भगवद्गीता में मिथ्याचार कहा है। इसलिए वासनाओं को दबाने की अपेक्षा उन्हें उखाड़ फैंकना ज्यादः अच्छा मार्ग है।

कई मनुष्यों की ऐसी धारणा है कि अन्दर की पूर्ण शुद्धि हुए बिना योग-मार्ग में नहीं चलना चाहिए, या चल नहीं सकते। यह एक अटल व स्थिर सिद्धान्त है, ऐसा हमें नहीं प्रतीत होता। आन्तरिक शोधन तो अवश्य होते रहना चाहिए, परन्तु साथ में दिव्यता प्राप्ति के भी उपाय करते रहना चाहिए, पूर्ण शुद्धि तो भगवान् के दर्शन

कर लेने के बाद ही होती है। जैसा कि एक श्लोक में आता भी है कि हृदय[1] की ग्रन्थि का भेदन सर्वसंशयों का छेदन तथा कर्मों का क्षय उस भगवान् के दर्शन कर लेने के बाद ही होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् के दर्शन से पहले तक योग-मार्ग में चाहे कितने ही बढ़े हुए हों, कुछ न कुछ संदेह तथा हृदय की ग्रन्थियां बनी ही रहती हैं। इनका पूर्णरूप से विनाश तो भगवान् के दर्शन कर लेने के बाद ही होता है। इसलिए मनुष्यों को अपने आन्तरिक दोषों को देखकर हताश नहीं हो जाना चाहिए। अपनी दिव्य शक्तियों को बढ़ाने का उपाय करते रहना चाहिए। इस प्रकार सम्यक् उपाय से वे दिव्य शक्तियां बढ़कर स्वयं उन दोषों व वासनाओं आदि का विनाश कर देंगी। इसी दृष्टि से वेद-मन्त्रों में वल रूपी आवरण के विनाश के लिए कुछ साधन ऐसे भी बताये हैं जो कि गौओं (दिव्य शक्तियों) को बढ़ाने वाले हैं। उन साधनों द्वारा आन्तरिक शक्ति बढ़कर स्वयं उस आवरण को भेदन कर बाहर निकल आएंगी।

वेद-मन्त्र में आता है कि बृहस्पति नामक दिव्य गुरु शिष्य में 'गोवपन' अर्थात् दिव्य शक्ति का बीज बोता है (ऋ० १०।६८।३)। और फिर उसका सिंचन करता रहता है (ऋ० १०।६८।४)। और इन शक्तियों का सिंचन वह चमत्कारों व प्रकाश किरणों से करता है। उन चमत्कारों व ज्योति को वेद में 'उल्का' से उपमा दी है (ऋ० १०।६८।४)। जिस प्रकार आकाश में समय-समय पर उल्काएं गिरती हैं और चारों ओर प्रकाश फैला देती हैं, उसी प्रकार गुरु के द्वारा समय-समय पर किये गये चमत्कार शिष्य की अन्दरूनी अंधेरी गुफाओं में प्रकाश कर देते हैं। हम संसार में यह देखते हैं कि मनुष्य वासनाओं से तब तक छुटकारा नहीं पा सकता जब तक कि उस वासना से उत्कृष्ट संतुष्टि व आनन्द देने वाले पदार्थ की झांकी उसे न मिल जाए। उपनिषदों में सभी भोगों व सब अवस्थाओं के आनन्द की मात्राएं दे रक्खी हैं। परन्तु यह सब जानते हुए भी मनुष्य लौकिक आनन्द को छोड़कर आध्यात्मिक आनन्द की तरफ तभी जाता है, जब कि लौकिक आनन्द की अपेक्षा आध्यात्मिक आनन्द की अधिक उत्कृष्ट झांकी उसे मिल जाती है। इस बात को समझते हुए दिव्य गुरु भी शिष्य के प्रति समय-समय पर दिव्य ज्योति फेंकता है, जिससे कि शिष्य को यह विश्वास हो जाता है कि इस लौकिक आनन्द की अपेक्षा आध्यात्मिकता का दिव्य आनन्द कहीं अधिक उत्कृष्ट है। इसलिए दिव्य गुरु द्वारा शिष्य के प्रति फेंकी गई दिव्य ज्योति शिष्य की दिव्य शक्तियों के लिए जीवनीय रस का काम देती है, इसलिए दिव्य गुरु की यह चमत्कृति भी प्रमुख रूप से शिष्य के अन्दर छिपी शक्तियों को ही बढ़ाने वाली है। आगे एक मन्त्र (ऋ० १०।६८।४) में आता है कि जिस प्रकार पक्षी अण्डे को सेकता रहता है, और उसे सेकने से अन्दर का गर्भ परिपुष्ट होकर समय पर आकर अण्डे को फोड़ देता है, और पक्षी रूप में वह बाहर निकल आता है, उसी

---

१. **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मुण्डक० २।२।८

प्रकार वह बृहस्पति नामक दिव्य गुरु शिष्य की आन्तरिक शक्तियों को सेकता रहता है। जब वे शक्तियां वृद्धि को प्राप्त होती हैं तो स्वयं उस वासना रूपी घेरे को फोड़ देती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार अण्डे के ऊपर के आवरण को अपरिपक्वावस्था में नहीं फोड़ना चाहिए, उसी प्रकार मनुष्य को यह चाहिए कि वह वासनाओं को सीधा न छेड़कर पहले आन्तरिक दिव्य शक्तियों को खूब बढ़ावे। इस प्रकार समय पर आकर वे शक्तियाँ स्वयं उस वासना के घेरे को भेदन कर बाहर आ जाएंगी। एक मन्त्र (ऋ० १०।६८।५) में एक उपाय और बताया है, और वह यह है कि जैसे वायु अपने झोंकों से बादलों को घेर लाती है, उसी प्रकार मनुष्य को यह चाहिए कि जिस समय वासना का वेग, प्रभाव आदि कुछ न हो, और मनुष्य का मन शांत हो तो उस समय खूब जोर के चिन्तन रूपी झोंके के प्रभाव से दिव्य शक्तियों को बाहर निकालने का प्रयत्न करे। मन्त्र में इस चिन्तन के झोंके को 'अनुमृश' कहा गया है। 'अनुमृश' का भाव है बार-बार चिन्तन करना और जोर का चिन्तन करना। पातञ्जल योग-दर्शन की परिभाषा में इस अनुमृश को हम 'तीव्र संवेग' कह सकते हैं। अर्थात् जिस प्रकार तीव्र संवेग से समाधि आदि सिद्धियाँ शीघ्र प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार 'अनुमृश' अर्थात् तीव्र चिन्तन भी आंतरिक शक्तियों को बाहिर निकालने में अत्यधिक शक्तिशाली साधन है। ऋ० १०।६८।४ में उन दिव्य शक्तियों के आवरण को फोड़कर बाहर निकलने की एक उपमा यह दी है कि जिस प्रकार पानी पृथिवी की सतह को फोड़कर निकल आता है, उसी प्रकार दिव्य गुरु भी शिष्य के ऊपर के आवरण को फोड़ देता है, और शक्तियाँ बाहिर निकल आती हैं। इस प्रकार उदाहरण के रूप में एक प्रकार के ये उपर्युक्त कुछ उपाय दिव्य शक्तियों को वासना के घेरे से बाहिर निकालने के लिए वेद-मन्त्रों में से हमने यहाँ दिखाए। इन उपायों द्वारा आंतरिक दिव्य शक्तियाँ वृद्धि को प्राप्त होकर अपने-अपने आवरणों को स्वयं विनष्ट कर देंगी।

दूसरे प्रकार के उपाय वे हैं जिनमें गौओं को घेरने वाले आवरणों पर प्रहार करने का विधान है। इस वलरूपी वासना को एक बार में ही उखाड़ा नहीं जा सकता। इसलिये वासना के विनष्ट करने के लिए जो भी उपाय किये जाते हैं, उनका कार्य व प्रभाव कालान्तर में जाकर ज्यादह स्पष्ट होता है। एक मन्त्र (ऋ० १०।६८।८) में आता है कि जिस प्रकार लकड़ी को छीलछाल कर चम्मच बनाया जाता है, उसी प्रकार ऊपरी आवरण को शनैः-शनैः छीलकर आवरण को पूर्णतया नष्ट किया जा सकता है और इन्द्रियों का दिव्य-रूप प्रकट हो सकता है। इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि वलरूपी वासना इन्द्रियों से ऐसी चिपटी होती है कि मानों इन्द्रियाँ व वासना एक ही हों। एक प्रकार से वासना जमते-जमते इन्द्रियों का ही एक अवयव बन जाती हैं। इस वासना को एक मन्त्र (ऋ० १०।६८।६) में बृहस्पति द्वारा भस्म करने का विधान मिलता है। मन्त्र में आता है कि बृहस्पति अपनी आन्तरिक अग्नि से परितप्त आँख की ज्योति से शिष्य के वलरूपी आवरण को भस्म कर देता है। इसलिये इस बात को अवश्य याद

रखना चाहिए कि दिव्य गुरु की दिव्यदृष्टि अध्यात्म मार्ग में चलने वाले के सब विघ्न-बाधाओं को विनष्ट कर सकती है। महोपनिषत्[1] ४।११७ में आता है कि मनरूपी व्योम में फैली हुई वासना रूपी रात्रि का यदि थोड़ा-सा भी अन्धकार क्षीण हो जाये तो चित् रूपी आदित्य के प्रकाश से मन की कालिमा क्षीण हो जाती है।

गुरु की दिव्यदृष्टि भी शिष्य के मनरूपी अन्धेरे आकाश में चित् रूपी आदित्य के समान प्रकाश करने वाली होती है।

वल रूपी आवरण को विनाश करने का एक और तरीका एक मन्त्र (ऋ० १०।६८।५) में बताया गया है। वह यह कि मन को सदा गतिमय रक्खे। खाली व सुस्त न बैठने देवे। मन्त्र में कहा गया है कि जिस प्रकार ठहरे हुए पानी में शैवाल अर्थात् काई जम जाती है, उसी प्रकार मनुष्य के आलसी मन में मैल जम जाता है। जिस प्रकार पानी की शैवाल को दूर करने के लिए वायु का झौंका पानी को गतिमय कर देता है, इससे पानी में लहरें पैदा हो जाती हैं और शैवाल किनारे पर आ जाती है। इसी प्रकार मन को गतिमय रखने से मन का मैल भी ऊपर उभड़ आयेगा। मैल के ऊपर उभड़ आने पर उसको आसानी से दूर किया जा सकता है। यहाँ इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि मन को गति देनी है, शरीर को नहीं। मन की गति से यह आवश्यक नहीं कि शरीर भी गतिमय हो जाये। विचार-प्रवणता तथा बौद्धिक कार्यों में मन व बुद्धि आदि गतिमय होते हैं शरीर नहीं। कई व्यक्ति कठोर व उग्र तपस्या से शरीर को सुखा देते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। यह तो शरीर का शोषण है जिसकी महाभारत आदि ग्रन्थों में निन्दा की गई है। और फिर शरीर के शोषण करने व सदा गतिमय रहने से यह आवश्यक नहीं कि मन भी गतिमय हो या उस गति-वाला हो जो कि योग में अभीष्ट है। हम संसार में जितने भी मनुष्य देखते हैं जिनका कि उद्देश्य रात-दिन भोग-सामग्री जुटाना है, उनका शरीर व प्राण निरन्तर गतिमान् होते हुए भी मन अभीष्ट गतिवाला नहीं होता। और उनके मन में जो गति होती भी है, वह नीचे प्राण व शरीर की तरफ गिरने की होती है। क्योंकि मन के नीचे प्राण व शरीर हैं। परन्तु मन्त्र में जो गति बतायी गई है, वह लहरों की तरह बतायी गई है। लहरों में पानी ऊपर को उठता है और आगे को भागता है। स्वभाव के अनुसार पानी नीचे को आया। हवा ने फिर धक्का दिया, वह फिर ऊपर उठा। इसी प्रकार पानी में गति होती रहती है। यही गति मन में भी होती है और जब मैल को दूर करना हो तो यही गति करनी अभीष्ट है। मनुष्य का मन स्वभावतः नीचे जाने वाला होता है। प्राणायाम तथा आन्तरिक धक्के से मन को गति देते रहना चाहिए। वल रूपी वासना को विनष्ट करने का एक तरीका (ऋ० १०।६८।१०) यह भी बताया है कि जिस प्रकार सरदियों में पहाड़ों पर बर्फ पड़कर पेड़-पौधों व पत्तों को विनष्ट कर देती है जिससे कि गौ आदि पशु भूखे मर जाते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियाँ गौएं हैं, और

---

१. **मनागपि मनो व्योम्नि वासना रजनीक्षये ।**
कालिका तनुतामेति चिदादित्यप्रकाशनात् ॥

उनके भोग एक बीहड़ जंगल हैं, जिसमें कि वल-असुर उन्हें चराता फिरता है। यदि इन्द्रिय-विषयों पर बर्फ पड़ जाये तो वह वलासुर भूखा रहने के कारण शिथिल हो जायेगा और इन्द्रियों को अपने पाश से छोड़ देगा। परन्तु प्रश्न यह है कि इन इन्द्रिय सम्बन्धी भोगों पर बर्फ का काम कौन करे? इस सम्बन्ध में मन्त्र (**हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।** ऋ० १०।६८।१०) में आता है कि दिव्य गुरु की दिव्य-शक्ति ही बर्फ का काम देती है। गुरु की शक्ति से वह अवस्था पैदा हो सकती है कि विषयों में आनन्द ही न आवे। इस प्रकार मनुष्य का वलासुर से छुटकारा हो सकता है। एक तरीका मन्त्र (**विभिद्या पुरं शयथा।** ऋ० १०।६७।५) में यह भी दिया है कि रात्रि को सोते हुए इन असुरों पर प्रहार करना चाहिये। क्योंकि रात्रि में ही इन असुरों की नगरी का दरवाजा खुलता है। रात्रि को सोते हुए किस प्रकार प्रहार किया जा सकता है? यह विचारणीय विषय है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मैस्मरेजम व हिप्नोटिज्म में सुलाकर बहुत कुछ प्रभाव डाला जाता है, बीमारियाँ आदि दूर की जाती हैं, इसी प्रकार बृहस्पति के समान दिव्य गुरु सोतेहुए शिष्य पर बहुत अधिक प्रभाव डाल सकता है। और स्वयं मनुष्य भी सोने से पूर्व जैसा संकल्प करके सोयेगा, वैसा प्रभाव होगा। यदि ओ३म् का जप करते-करते सो जावे तो यह 'ओ३म्' ही दण्ड धारण करके खड़ा हो जायेगा। और जो असुर अपनी नगरी से बाहर निकलेगा, उसे मारेगा। और शनैः-शनैः प्रबल होकर यही ओ३म् असुरों की नगरी को भेदन कर देगा।

बृहस्पति के आयुध

हम पूर्व में यह दर्शा चुके हैं कि बृहस्पति अपने शत्रु वृत्र, वल, शम्बर, पणि, अघशंस, आदि आसुरी शक्तियों का विनाश किया करता है। प्रश्न हो सकता है कि वह किन आयुधों द्वारा इन उपर्युक्त शत्रुओं का हनन किया करता है? इस सम्बन्ध में बृहस्पति सूक्तों में पठित कुछ आयुधों का हम दिग्दर्शन व नामों का संकेत करते हैं।

बृहस्पति का धनुष

बृहस्पति ब्राह्मणदेवता है, उसके शत्रु भी प्रमुख रूप से बाह्यजगत् के न होकर आन्तरिक पाप व वासना आदि होते हैं। जिन मनुष्यों में ये पाप आदि आसुरी शक्तियाँ विद्यमान होती हैं उनके शरीर से बृहस्पति की शत्रुता नहीं होती प्रत्युत उस अमुक व्यक्ति में विद्यमान आसुरी शक्ति से होती है। अतः बृहस्पति उसके शरीर को लक्ष्य न बनाकर आसुरी शक्ति को बनाता है। यदि कदाचित् आसुरी शक्ति के विनाश करते हुए उसका शरीरपात हो जाता है तो यह अपवाद ही समझना चाहिये।

ऋ० २।२४।८ में आता है कि ब्रह्मणस्पति अपने धनुष से शत्रु पर बाण छोड़ता है पर यह धनुष सामान्य भौतिक धनुष नहीं है। यह दिव्य धनुष है। इसमें ऋत की ज्या-प्रत्यञ्चा लगी हुई है और यह इतनी क्षिप्रगति से बाण छोड़ता है कि जहाँ चाहता है वहाँ तत्काल उसका बाण जा पहुँचता है। इस बृहस्पति के बाण अत्यन्त साधु व

श्रेष्ठ हैं, ये प्राय: स्थूलशरीर के विनाशक नहीं हैं आन्तरिक शत्रुओं का हनन करते हैं इसी कारण इन्हें "नृचक्षसः" मनुष्य को देखने वाले व परखने वाले बताया है। और वे बाण 'कर्णयोनि' हैं अर्थात् जब वे कान में आ पहुंचते हैं तब उनका ज्ञान होता है, एक प्रकार से मानों कान से उत्पन्न हो रहे हों। अतः ये बाण मन्त्ररूप हैं, शब्दशक्ति रूप हैं। बृहस्पति ऋत रूप दिव्य तत्त्व पर रखकर मन्त्र-शक्ति का प्रयोग करता है। शाप व वर प्रदान करता है। उसका ओज (ऋ० २।२४।२,४) मन्यु (ऋ० २।२४।२, १४) अर्क (ऋ० ६।७३।३) ब्रह्म (ऋ० २।२४।३) तेजिष्ठा तपनी (ऋ० २।२३।१४) क्रन्दन (ऋ० ४।५०।५) रव। इत्यादि ये सब शत्रुओं के विनाशक साधन हैं। ये बृहस्पति के आयुध हैं।

इस प्रकार उदाहरण के तौर पर संक्षेप में हमने वल अर्थात् दिव्यज्ञान पर आयी वासना के विनाश के कुछ उपाय मन्त्रों के आधार पर दिखाये। और भी कई प्रकार के उपाय हो सकते हैं। मनुष्यों को यह चाहिये कि वे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उपायों का अवलम्बन कर आवरण का विनाश कर दिव्य ज्ञान का आविर्भाव करें। बृहस्पति द्वारा आसुरी शक्ति के विनाश के सम्बन्ध में कुछ मन्त्र-पद इस प्रकार हैं—

उतादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि। ऋ० २।२४।२
अश्मास्यमवतं बृहस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत्। ऋ० २।२४।४
आ चाविशत् वसुमन्त वि पर्वतम्। ऋ० २।२४।२
निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्। ऋ० २।२४।६
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति। ऋ० ६।७३।२

नवम अध्याय

बृहस्पति के पशु

ऋषभ

यजुर्वेद में देवता-सम्बन्धी पशुओं के वर्णन-प्रसंग में बृहस्पति देवता के पशु ऋषभ का निम्न प्रकार से वर्णन हुआ है। "शितिपृष्ठोबार्हस्पत्यः" यजु० २९।५८ अर्थात् शितिपृष्ठ वाला गौ-ऋषभ बृहस्पति देवता का होता है। प्रश्न हो सकता है कि शितिपृष्ठ शब्द से गौ-ऋषभ का ग्रहण क्यों किया गया ? इस सम्बन्ध में कात्यायन श्रौत सूत्र का यह कथन है कि "अलिंगग्रहणे गौः सर्वत्र" अर्थात् जहाँ जाति, रूप, लिंग न दे रक्खा हो, वहाँ पशु से सर्वत्र गौ-जाति समझनी चाहिए। इस दृष्टि से उपर्युक्त मन्त्रभाग में शितिपृष्ठ पद से गौ-जाति विशिष्ट ऋषभ का ग्रहण किया गया है।

शितिपृष्ठ का अर्थ

शितिपृष्ठ की निम्न व्युत्पत्ति हो सकती है। "शितिः पृष्ठं यस्य" अर्थात् जिसकी पीठ शिति हो। शितिपद के यहाँ दो-तीन अर्थ हो सकते हैं। एक श्वेत[1], दूसरा काला[2] तीसरा सूक्ष्म[3]। शब्द रत्नावली में आता है—"शितिस्त्रिषु सिते कृष्णे भूर्जे सारेऽपिच द्वयोः" का० श्रौ०सू० १५।३।१६ में आये शितिपृष्ठ की व्याख्या में विद्याधर शर्मा ने लिखा है—"श्वेतपृष्ठः कृष्णपृष्ठ इत्यपरे" अर्थात् कई आचार्य शितिपृष्ठ पद से श्वेतपीठ वाले बैल का ग्रहण करते हैं तो कई काली पीठ वाले बैल का। इस प्रकार मुख्य रूप से ये निम्न तीन अर्थ होते हैं। कृष्णपृष्ठ (नीलपृष्ठ) श्वेतपृष्ठ तथा सूक्ष्मपृष्ठ। इन उपर्युक्त उद्धरणों में ऋ० ३।७।१ में पठित शितिपृष्ठ पद अग्नि का विशेषण होकर प्रयुक्त हुआ है। अतः इस स्थल पर शितिपृष्ठ का नीलपृष्ठ या कृष्णपृष्ठ अर्थ करना उपयुक्त है। क्योंकि इसी सूत्र के तृतीय मन्त्र में अग्नि के लिए नीलपृष्ठ शब्द आता है, यथा—प्रनीलपृष्ठो अतसस्य धासेः ऋ० ३।७।३ स्वामी दयानन्द के मत से शितिपृष्ठ का अर्थ सूक्ष्म पृष्ठ व सूक्ष्म प्रश्नवाला अर्थ करना अधिक सूक्ष्म-

---

१. शितिः श्यामं पृष्ठं यस्य सः—उव्वट—महीधर
   श्वेत पृष्ठः। यजु० २४।७।
२. नीलपृष्ठः ऋ० ३।७।१—सायणाचार्य—वेंकट
   कृष्णपृष्ठः यजु० २९।५८—स्वामी दयानन्द
३. शितिस्तनूकरणं पृष्ठं यस्य सः। यजु० २४।७ स्वामी दयानन्द
   शितिः सूक्ष्मः पृष्ठं प्रश्नो यस्य सः। ऋ० ३।७।१ स्वामी दयानन्द

रहस्य को प्रकट करता है और सूक्ष्म ज्ञान-विज्ञान के अधिपति बृहस्पति के लिए यह अधिक उपयुक्त है। पर यदि अधिक गहराई से सोचें तो बृहस्पति देवता में ये तीनों अर्थ समन्वित हो जाते हैं। अब हम इन पर विचार करते हैं।

भगवान् की इस सृष्टि में जितने भी पशु, पक्षी तथा अन्य प्राणी हैं उनमें प्रत्येक में अपनी एक स्वाभाविक विशिष्ट शक्ति होती है। वह किसी न किसी प्राकृतिक देवता तथा भागवत शक्ति की ओर संकेत करती है। यदि कोई अमुक-अमुक पशु में विद्यमान शक्ति को अपने में धारण करना चाहता है तो उसे शास्त्र-प्रतिपादित विधि-विधान करने होते हैं जिन्हें कि यज्ञ नाम दिया गया है। इन बाह्य कर्मकाण्ड-सम्बन्धी यज्ञों में जो पशु किसी देवता के उद्देश्य से ग्रहण किये जाते हैं वे सब आन्तरिक पशुओं के प्रतीक मात्र होते हैं। अमुक-अमुक पशु व प्राणी में जो विशिष्ट शक्ति होती है वह हमारे शरीर, प्राण, मन व इन्द्रिय आदि में जहाँ-जहाँ भी उद्बुद्ध होती है, हो सकती व रहती है, तत्तत् अंग को तत्तत् पशु-नाम से कह दिया गया है। उदाहरणार्थ श० प० १२।१।७।४ में आता है कि **"मुखादेवास्य बलमस्रवत् स गौः पशुरभवत् ऋषभः।"** अर्थात् प्रजापति के मुख से जो बल स्रवित हुआ वह ऋषभ नामक गौ पशु बना। यह निश्चित है कि मुख से स्रवित होने वाला बल वाणी का हो सकता है। प्रजापति के तुल्य मनुष्य की वाणी का बल भी ऋषभ कहलायेगा। अतः वाणी का बल ही ऋषभ है। ऋषभ पद से वाणी तथा वाणी का बल दोनों ही ग्रहण किये जा सकते हैं, यही तथ्य निम्न वाक्य से भी पुष्ट होता है। **"मुखतः एवास्य ब्रह्म संश्यति अथो ब्रह्मन्नेव क्षत्रमन्वारम्भयति शितिपृष्ठो दक्षिणा समृद्ध्यै।** तै० ब्रा० १।७।३।२ अर्थात् ब्राह्मण में ब्रह्म-शक्ति का तीक्ष्णीकरण मुख से होता है। ब्राह्मण की वाणी ओजस्विनी बनती है। तदनन्तर वह ब्राह्मण क्षत्रिय का तीक्ष्णीकरण करता है। पर यह ब्रह्मशक्ति की अनुकूलता में होता है। इसके लिए ब्राह्मण को शितिपृष्ठ वाला ऋषभ दक्षिणा में दिया जाता है। किसलिए? समृद्धि के लिए। इस प्रकार इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि मुख अर्थात् वाणी तथा वाणी का बल ऋषभ है। यही तथ्य **चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादाः** ऋ० ४।५८।३ मन्त्र में स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है। अथर्व ९।४ सूक्त तो पूरा का पूरा ऋषभ के सम्बन्ध में आता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऋषभ प्रमुख रूप से बल का वाचक है, गौण रूप में सामान्य बैल पशु का। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्यावस्था से ही नानाभांति के साधनों तप, त्याग तथा वाजपेय याग द्वारा बृहस्पति पद को प्राप्त कर लेता है वह भगवान् की कृपा से ऋषभ (वाणी) के बल को भी प्राप्त होता है। इसी तथ्य की अनुकृति में वाजपेय सम्बन्धी बाह्य कर्मकाण्ड में राजा-महाराजा लोग बृहस्पति अर्थात् ब्रह्मा (ब्राह्मण) को दक्षिणा रूप में शितिपृष्ठ वाले गौ-पशु को दिया करते थे। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि ऋषभ नामक वाक् तथा गौ-पशु में क्या समानता है? शास्त्रों में ब्रह्मशक्ति का प्रतिनिधि बृहस्पति को बताया गया है। और क्षत्र-शक्ति का इन्द्र को। इन दोनों को ही दक्षिणा रूप में ऋषभ नामक बैल दिया जाता है। यह इसलिए कि ऋषभ में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। एक तो भार-वहन

करने की तथा दूसरी वीर्य-सिंचन की। भार-वहन करने की शक्ति अग्नि के कारण है और अग्नि ब्रह्मरूप है। ब्रह्मरूप बृहस्पति वाणी के बल से शिष्यों का वहन करता है। उन्हें अनुशासन व नियन्त्रण में रखता है। क्षत्रिय वीर्य-सिंचन में तथा ऐन्द्रियिक शक्तियों में अधिक समर्थ होता है। इस दृष्टि से इन्द्र को भी दक्षिणा रूप में ऋषभ दिया जाता है। शतपथ में आता है कि "तेज[1] अग्नि है और इन्द्रिय वीर्य इन्द्रत्व को प्रकट करता है। हे इन्द्र ! तू इन दोनों प्रकार के वीर्यों को धारण कर पैदा हो, तुम्हें दक्षिणा रूप में ऋषभ दिया जाता है।"

यह ऋषभ भार-वहन के कारण आग्नेय भी है तथा अण्डकोषों द्वारा वीर्य-सिंचन में अधिक सामर्थ्यवान् होने के कारण इन्द्रत्व का भी सूचक है। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि बृहस्पति को भी वाणियों का इन्द्र माना है "**बृहस्पतिर्वाचामिन्द्रः**" तै० सं० १।८।१०।२ अतः बृहस्पति में जो तेज है, बल है वह वाणी का है। जिस व्यक्ति में वाणी का बल होता है वही जाति, समाज व राष्ट्र का वहन करने वाला होता है।

अब विचारणीय यह है कि शितिपृष्ठ का क्या रहस्य है? इस सम्बन्ध में निम्न कथन द्रष्टव्य है। यथा—**ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक् तदेष उपरिष्टादर्यम्णः पन्थास्तस्मात् शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यस्य दक्षिणा।**" श०प० ५।३।१।२ ऊर्ध्व दिशा बृहस्पति की है जो कि अर्यमा अर्थात् सूर्य का मार्ग है और क्योंकि वह मार्ग किरणों के कारण श्वेत है अतः बृहस्पति याग में दक्षिणा रूप में श्वेतपृष्ठ वाला ऋषभ गौ देना उपयुक्त है। इससे यह स्पष्ट है कि बाह्य कर्मकाण्ड में जो श्वेतपृष्ठ का ऋषभ-पशु दक्षिणा रूप में दिया जाता है वह अधिदैव व अध्यात्म आदि की अनुकृति में ही होता है वह प्रतीक मात्र है। अध्यात्म पक्ष में मस्तिष्क बृहस्पति का स्थान है। बुद्धि सूर्य अर्यमा है। इस बुद्धि सूर्य की किरणें इन्द्रियाँ हैं। क्योंकि ज्ञान सूर्य भी श्वेत माना गया है। अतः श्वेत पृष्ठ वाला ऋषभ दक्षिणा में देना सार्थक होता है। स्वामी दयानन्द की दृष्टि से शिति का अर्थ सूक्ष्म करने पर भाव यह होगा कि बुद्धि के सूक्ष्म व तीक्ष्ण होने पर वागादि इन्द्रियों के बल व ओज में भी सूक्ष्मता व तीक्ष्णता आ जाती है। इस अवस्था में शितिपृष्ठ का अर्थ सूक्ष्म पृष्ठ करना अधिक उपयुक्त हो जाता है। शितिपृष्ठ का अर्थ कृष्ण पृष्ठ करने पर अग्नि का समावेश हो जाता है, क्योंकि जहाँ भी अग्नि होती है वहाँ कालिमा व नीलिमा का होना स्वाभाविक है। ऋषभ के कन्धे जूए की रगड़ रूपी अग्नि से काले व सख्त हो जाते हैं। अग्नि की ज्वाला में भी काली व नीली लपटें निकला करती हैं।

---

१. **तेजो वा अग्निरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र उभे वीर्ये परिगृह्य सूया इति ऋषभो अनड्वान् दक्षिणा स वहेनाग्नेय आण्डाभ्यामैन्द्रस्तस्मादृषभोअनड्वान् दक्षिणा।**

श० प० ५।२।३।८

आर्यम्णः पन्थाः सूर्यस्य पन्थाः। स च किरण-सम्बन्धात् श्वेतः अतो बृहस्पतियाग-दक्षिणाभूतस्य गोः श्वेतपृष्ठत्वं युक्तम्" —सायणाचार्य

स्थूल शरीर की दृष्टि से विचार किया जाय तो जिस ब्राह्मण-पुरोहित की वागिन्द्रिय के ऊपर मूंछ दाढ़ी के बाल काले हों तो दक्षिणा में कृष्णपृष्ठ और यदि वृद्धावस्था के कारण श्वेत हो गये हों तो श्वेत पृष्ठ ऋषभ दिया जा सकता है। वस्तुतः बृहस्पति सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान प्रौढ़ अवस्था के पश्चात् होता है। इस तथ्य की ध्वनि निम्न मन्त्र से भी हो रही है।

"**पुमानन्तर्वानत्स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति।** अथर्व ९।४।३

(अन्तर्वान्) अन्तर्मुखी (पयस्वान्) अन्नवाला (ऋषभः) ऋषभ के तुल्य वाणी-बल को वहन करने वाला (स्थविरः) आयुवृद्ध व ज्ञानवृद्ध (पुमान्) पुरुष (वसोः कबन्धम्) यज्ञ के स्वरूप को (बिभर्ति) धारण करता है।

इस प्रकार बृहस्पति के शितिपृष्ठ ऋषभ का तात्पर्य यह है कि प्रौढ़ अवस्था वाले बृहस्पति की सूक्ष्म तीक्ष्ण बलशाली व ओजयुक्त वाणी।

तै० सं० २।१।६ में आता है कि "**बार्हस्पत्यं शितिपृष्ठमालभेत ग्रामकामो यः कामयेत पृष्ठं समानानां स्यामिति।**" जो ग्राम-समूह की कामना वाला हो और यह चाहे कि अपने बराबर वालों का पृष्ठ अर्थात् आधार बनूं तो वह बृहस्पति-सम्बन्धी शितिपृष्ठ का आलम्भन करे। ग्रामकाम-शिष्य समूह की कामना वाला आचार्य अपने तुल्य प्राध्यापकों का उपर्युक्त विधि से आधार बन सकता है। उसे प्रयत्न यह करना चाहिए कि अपनी बुद्धि तथा वाणी को तीक्ष्ण तथा ओजोबहुल बनावे। वाणी को संयम, सत्य भाषण, सत्याचरण आदि में प्रवृत्त करना तथा मिथ्या प्रलाप आदि निकृष्ट गति से उसे रोकना, एक प्रकार से वाणी का आलम्भन व हिंसन कहा जा सकता है। बृहस्पतित्व के प्रति उसे समर्पित कर देना ऋषभ (वाणी) को दक्षिणा में देना है ऐसा समझना चाहिए।

शितिपृष्ठ और तन्ति

"**यः शितिपृष्ठः सा तन्तिः**" मै० सं० ४।२।१४ अर्थात् जो शितिपृष्ठ है वह तन्ति होता है। अब विचारणीय यह है कि तन्ति किसे कहते हैं? ऋ० ६।२४।४ में "**वत्सानां न तन्तयः**"[1] के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है, तन्ति एक लम्बी फैली हुई रस्सी है, इससे बछड़े बांधे जाते हैं। यदि अनेक शाखाओं अर्थात् लड़ियों वाली रस्सी हो तो अनेकों बछड़े बांधे जा सकते हैं। मै० सं० ४।२।१०[2] में आता है कि ऐश्वर्य-सम्पन्न यह पृथिवी माता तन्ति है, यह हमारी जननी भी तन्ति है, ऐश्वर्य युक्त रस व ओषधियां आदि भी तन्ति रूप हैं क्योंकि पृथिवी ओषधियां तथा हमारी माता ये

---

१. **तन्तिर्नाम दीर्घप्रसारिता रज्जु र्यत्र नियतविशाखदामभि र्बहवो वत्सा बध्यन्ते यथा तन्तयो बहूनां वत्सानां बन्धकाः।**

२. **रेवती तन्तिः पृथिवी माता रेवती राया ओषधयः। ता नो हिन्वन्तु सातये धिये जुषे इति तन्तिं वितनुयात् तामनुमृज्यात्। रय्या त्वा पुष्ट्या अनुमार्ज्मि।**

तीनों वत्सों को बाँधने वाले हैं। अथवा यह भी कह सकते हैं कि अन्न, जल तथा ओषधियों की बहुलता में यह प्राणिजगत् पृथिवी से बंधा हुआ है अतः पृथिवी तन्ति है। कर्मकाण्ड के ड्रामे में गौ के बछड़ों को बाँधने का विधान है, परन्तु इसका वास्तविक रहस्य यह है कि आचार्य की ओजस्वी तथा बलवती वाणी से शिष्य नियम में बंधे रहते हैं। ये शिष्य ही वत्स हैं। ये तन्तियां शिष्यों को किस लिए बाँधती हैं, इसका उत्तर भी वेद-मन्त्र इस रूप में देता है—**"ता नो हिन्वन्तु सातये धिये जुषे"** अर्थात् बुद्धि की प्राप्ति के लिए ये तन्तियाँ हम शिष्यों को प्रेरित करें। आगे इन तन्तियों का वितान किस प्रकार करना है, यह भी जानना आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में मै० सं० ४।२।१० कहा है[1] कि बस्तो रामकायन तन्ति का वितनन-विस्तार व फैलाव को जानता था इसलिए उसने सहस्रों पशु प्राप्त किये। यहाँ सहस्रों से तात्पर्य सहस्रों शिष्यों से है। और सहस्रों प्रकार की शक्तियों से भी हो सकता है। इस प्रकार तन्ति नामक रज्जु को भी शितिपृष्ठ कहा गया है। अतः बृहस्पति रूपी आचार्य में शिष्यों को नियमादि में बाँधकर रखने की शक्ति होनी चाहिए। यह तथ्य उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है।

शितिपृष्ठ और षडहन्

काठक संहिता[2] ३४।१ में आता है कि बृहस्पति-सम्बन्धी शितिपृष्ठ का षष्ठ अहन् में आलम्भन करे क्योंकि ब्रह्म ही बृहस्पति है। इस आलम्भन से अन्ततोगत्वा यज्ञ की ब्रह्म में प्रतिष्ठा करते हैं। षष्ठ अहन् मस्तिष्क है। यह हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। मस्तिष्क में इस ऋषभ वाणी का केन्द्र है। इस केन्द्र को ध्यान के द्वारा पकड़ना तथा उसका आलम्भन करना होता है। आलम्भन का हिंसा अर्थ करने पर भाव यह होगा कि उसे पतन की ओर व निकृष्ट चिन्तन की ओर न जाने देकर ब्रह्म-सम्बन्धी चिन्तन में तथा वेदाध्ययन में प्रवृत्त करना। मस्तिष्क के पुरातन रूप की हिंसा कर उसे नया दिव्य रूप देना। काठक संहिता[3] १३।८ में आता है कि जो भूति-युक्त होना चाहता है उसे बार्हस्पत्य उक्षा का आलम्भन करना चाहिए। जो भूति के लिए समर्थ होता हुआ भी भूति को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता वह रस से विहीन हो जाता है। रस छन्दों का सार है जो कि ब्रह्म रूप है। छन्द का अर्थ वेद है, पिण्ड में सूक्ष्म

---

१. एतद्वै बस्तो रामकायनो विदांचकार तन्त्या वितननं स सहस्रं पशून् प्राप"
मै० सं० ४।२।१०

२. बार्हस्पत्यं शितिपृष्ठं षष्ठेऽहन्नालभेरन् ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मण्येव तद् यज्ञस्यान्ततः प्रतितिष्ठन्ति। काठ० ३४।१

३. बार्हस्पत्यमुक्षाणमालभेत बुभूषन् रसेन वा एष व्यृध्यते योऽलं भूत्ये सन् न भवति छन्दसामेष रसो ब्रह्म बृहस्पति र्ब्रह्मणैवाऽस्मिन् भूतिरसं दधाति।
काठ० सं० १३।८

प्राणों को छन्द कहा गया है। छन्द का वेद अर्थ करने पर वेदों का सार ब्रह्म है ही। शरीर में छन्द प्राण हैं। इनका सर्वोत्कृष्ट रूप मस्तिष्क में ब्रह्मशक्ति के उद्बोधन में कारण बनता है।

बृहस्पति के पशुओं का वास्तविक स्वरूप

रेवती रमध्वमिति। रेवन्तो हि पशवस्तस्मादाह रेवती रमध्वमिति बृहस्पते धारया वसूनीति ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवोवसु तानेतद्देवा अतिष्ठमानान् ब्रह्मणैव परस्तात् पर्यदधुस्तन्नात्यायँस्तथो एवैनानेष एतद् ब्रह्मणैव परस्तात् परिदधाति तन्नातियन्ति तस्मादाह बृहस्पते धारया वसूनीति पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चत्यथातो नियोजनस्यैव।

श० प० ३।७।३।१३

इस उपर्युक्त उद्धरण में बृहस्पति के पशुओं से क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट किया गया है। रेवती रमध्वम् का अर्थ है, हे ऐश्वर्य-सम्पन्न पशुओ ! तुम रमण करो। यहां ऐश्वर्य-सम्पन्न पशु दैवीविश[1]-दिव्य प्रजाएँ तथा दिव्यशक्तियाँ हैं। मानव-इन्द्रियों[2] में जब दिव्य-शक्तियाँ उत्पन्न होजाती हैं तब वे रयि से युक्त (रेवन्तो हि पशवः) दिव्य-पशु नाम से सम्बोधित की जाती हैं। और वसु भी इन्हीं ऐन्द्रियिक दिव्य-शक्तियों को कहा जाता है। इन दिव्य-शक्तियों को बृहस्पति धारण करता है। इसीलिए कहा है कि **"बृहस्पते धारया वसूनीति ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु"** अर्थात् व्यक्ति जब बृहस्पति रूप को धारण कर लेता है अथवा जब ब्रह्मरूप[3] हो जाता है तब वह इन दिव्य-पशुओं व दिव्य ऐश्वर्यों को धारण कर सकता है। दिव्यशक्ति-सम्पन्न ये इन्द्रियां जब इधर-उधर जाती हैं, तब उनके आगे-आगे ब्रह्म होता है। इसलिए कहा कि **"ब्रह्मणैव परस्तात् पर्यदधुस्तन्नात्यायन्"** उस ब्रह्म को वे अतिक्रान्त नहीं कर सकतीं क्योंकि आगे-आगे ब्रह्म चलता है और फिर वह बृहस्पति उन्हें ऋत के पाश से बाँधता है। **ऋतस्य त्वा पाशेन प्रतिमुञ्चामि"** श०प० ३।७।४।१ यह ऋत का पाश वरुण देवता का रज्जु है। वरुण देवता की रज्जु शिष्य को पाप में फंसने नहीं देती। संसार में बड़े-बड़े प्रलोभन हैं। योगी, ऋषि तक पथभ्रष्ट होते देखे गये हैं पर जिसके पशु वारुण रज्जु से बाँध दिये गये हैं वह पापों में नहीं फंसता, वह पथभ्रष्ट नहीं होता। जब इन्द्रिय-पशुओं का विचरण-स्थान ब्रह्म होगा वे ऋत के पाश से बंधी होंगी, तब पतन की सम्भावना नहीं है। जब ये पशु पूषा के अधीन होते हैं तब उनसे पुष्टि का प्राकट्य होता है। और जब ये बृहस्पति के अधीन होते हैं तब इनसे ब्रह्मशक्ति का प्रकटन होता है। आगे कहा कि ब्रह्म[4] ही बृहस्पति है। बृहस्पति ही ब्राह्मण है। सच्चा ब्राह्मण पशुओं अर्थात्

---

१. **दैवी विशः प्रागुरिति दैव्यो वा एता विशो यत् पशवः। श०प० ३।७।३।९**

२. **इन्द्रियं वै वीर्यं रसः पशवः। ता० ब्रा० १३।७।४**

३. **ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति**

४. **ब्रह्म बृहस्पतिस्तस्माद् ब्राह्मणः पशूनभिधृष्णुतमः पुराहिता अस्य भवन्ति मुख आहितास्तस्माद् सर्वं दत्त्वाऽजिनवासी चरति। श०प० ३।९।१।१२**

पशु-वृत्तियों का धर्षण करने वाला होता है। ये सब ऐन्द्रियिक पशु ब्राह्मण द्वारा धर्षित होकर उसके मुख में आ विराजते हैं। ब्राह्मण अपने मुख द्वारा ही दिव्यता का प्रकाश करता है, कहा भी है कि बृहस्पति तुल्य ब्राह्मण सब पशु-वृत्तियों का धर्षण करके मुख में उन्हें स्थापित कर लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी सब पाशविक कामनाएं व वासनाएं समाप्त हो जाती हैं। उसे किसी भी प्रकार के भोग-विलास की इच्छा ही नहीं रहती तो फिर किसके लिये वित्त-संचय करे। अतः वह अपना सर्वस्व दान कर मृगछाला पहिनकर पृथिवी में सर्वत्र विचरता है। क्योंकि बृहस्पति के मुख में सब देव होते हैं अर्थात् इन सब देवों का रहस्य खोलने वाला तथा उनका स्वरूप प्रकट करने वाला वही है, इसलिए शास्त्रों में विश्वेदेवों का मुख बृहस्पति को ही बताया है। शास्त्र में कहा है "**ब्रह्म वै बृहस्पतिः सर्वमिदं विश्वेदेवा अस्यैवैतत् सर्वस्य ब्रह्म मुखं करोति तस्मादस्य सर्वस्य ब्राह्मणोमुखम्**। श० प० ३।६।१।१४

ब्रह्म बृहस्पति है और यह समग्र संसार विश्वेदेवों के अन्तर्गत आता है। इस सकल संसार का मुख अर्थात् सकल संसार का ज्ञान देने वाला ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण है, इसी कारण इस जगत् का मुख ब्राह्मण को माना गया है।

बृहस्पति और विश्वरूपा धेनु

संस्कृत भाषा में गौ और धेनु शब्द पर्यायवाची माने गये हैं। परन्तु वैदिक साहित्य में ये दोनों पृथक्-पृथक् भाव के द्योतक हैं। यहां धेनु शब्द पर विस्तार से विचार न कर बृहस्पति के प्रसंग से संक्षिप्त टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं। यह धेनु विश्व-रूपा है और बृहस्पति की पत्नी है।

वेद में आता है कि बृहस्पति ने विश्वरूपा[1] धेनु को प्राप्त किया। जिन ऋभुओं ने विश्व[2] की प्रेरक तथा विश्वरूपा धेनु का तक्षण किया। यह विश्वरूपा धेनु बृहस्पति की पत्नी[3] है। शास्त्रों में इस विश्वरूपा धेनु को वाक्[4] कहा है

अर्थात् देवताओं ने वाक् को धेनु बनाया अतः इस वाक्-धेनु की उपासना करो। निघं० १।११ में आता है कि 'धेना वाङ्नाम'। "**धेना दधातेः धवते र्वा धिनोते र्वा। वागेषा माध्यमिका**।" —नि० ६।१७, ११।४

---

१. बृहस्पति विश्वरूपामुपाजत। ऋ० १।१६१।६
२. ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्। ऋ० ४।३३।८
३. धेना बृहस्पतेः पत्नी। गो० उ० २।६
४. वाग्वै धेनुः। गो० पू० २।२१, तां० ब्रा० १८।६।२१
वाचमेव तद् देवा धेनुमकुर्वत। श० प० ६।१।२।१४, १४।८।६।१
वाचं धेनुमुपासीत। तां० ब्रा० ८।६।१

विश्व का धारण करने वाली, विश्व-ज्ञान-रस का पान कराने वाली यह मध्यमिका वाक् है। वाक् के सम्बन्ध में निम्न दो मन्त्र अवलोकनीय हैं—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु॥ ऋ० ८।१००।११

देवताओं ने दिव्यवाणी को उत्पन्न किया, उस वाणी को नाना प्रकार के प्राणी-पशु बोलते हैं। सम्यक् स्तुत वह वाणी हमारे लिए आनन्द, अन्न तथा ऊर्जा का दोहन करती हुई हमें प्राप्त हो।

विश्वरूप पशु इस वाक् का प्रयोग करते हैं। अतः इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकार की वाक् का यहां ग्रहण करना है। यास्काचार्य ने भी निरुक्त में यही माना है।

अगला मन्त्र है—

यद् वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्वस्विदस्याः परमं जगाम॥
—ऋ० ८।१००।१०

यह वाक् राष्ट्री है जो कि अज्ञात पदार्थों को बताती है। यह मन्द ध्वनि वाली है या मोदकारिणी है, देवों के अन्दर विराजमान है। चारों दिशाओं में ऊर्ज तथा पय का दोहन करती है। इसका जो सर्वोत्कृष्ट रूप है वह कहां है यह गुप्त है।

यह वाक् राष्ट्री है आम्भृणी वाक् भी राष्ट्री मानी गई है। यही दूसरे शब्द में बृहती वाक् है जो कि बृहस्पति की वाणी है, यही विश्वरूपा धेनु है। ऋभु अर्थात् ऋत से देदीप्यमान व्यक्ति (ऋतेन भान्ति) ही इसका तक्षण करके इसे नाना रूपों, नाना वर्णों में अभिव्यक्त करते हैं। ऋभु आदित्य-रश्मियां भी हैं। बृहस्पति पद को प्राप्त व्यक्ति की बुद्धि सूर्य की ज्योतिर्मय किरणें हैं जिनसे यह विश्वज्ञान प्रदात्री वाक् समुत्पन्न होती है। बृहस्पति के प्रसंग में इस विश्वरूपा धेनु का संक्षिप्त विवेचन किया है, विस्तार से अन्यत्र किया जायेगा।

बृहस्पति की पत्नी ब्रह्मजाया जुहू

ऋग्वेद १०।१०९ सूक्त के द्रष्टा दो ऋषि हैं। इनमें एक ऋषि का नाम ब्रह्म-जाया जुहू है तथा दूसरा ब्रह्मपुत्र ऊर्ध्वनाभ नाम का मुनि। सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्-देवता में आता है—"**तेऽवदन् सप्त जुहूर्ब्रह्मजाया ब्राह्मो वा ऊर्ध्वनाभः**। सर्वा० ६२

तेऽवदन्निति सूक्तस्य ब्रह्मजाया जुहूर्मुनिः।
अथवोर्ध्वनाभो नाम ब्रह्मपुत्र ऋषिः स्मृतः॥ बृहद्देवता

वेदों के ऋषि व्यक्ति-विशेष नहीं है, ये मन्त्रार्थ में सहायक तथा मन्त्रार्थों को दर्शाने वाले एक प्रकार से ऐनकें हैं। जुहू एक विशिष्ट स्रुचा है जो कि घृत को स्वयं धारण करती है और फिर कुण्ड में डालती है। स्रुव पुमान है तो स्रुक् योषा स्त्री है।

पिण्ड में मस्तिष्क के सप्त केन्द्रों (Brain centres) में सोम अर्थात् वीर्य द्वारा समुत्पन्न वाक्-शक्ति है जो कि मस्तिष्क में ब्रह्मज्ञान का उद्बोधन करती है। बृहस्पति मस्तिष्क का अधिपति है इस बृहस्पति की वाक् बृहती कहलाती है। जब यह बृहती वाक् मस्तिष्क के सप्तकेन्द्रों में ब्रह्म को आहुति रूप में डालती है तब इसे जुहू कह देते हैं। उणादि कोष में आता है—**"जुहोति ददात्यत्ति वा यया सा जुहूः स्रुग्भेदो वा" "हुवः श्लुवच्च"** उणा. २।६१ (स्वामी दयानन्द)।

ऊर्ध्वनाभ—इस सूक्त का दूसरा द्रष्टा ऊर्ध्वनाभ है। 'ऊर्ध्वनाभ' का तात्पर्य है कि जब 'नाभानेदिष्ठ' वीर्य नाभि से ऊर्ध्व की ओर-मस्तिष्क की ओर प्रयाण करता है तब उस वीर्य को 'ऊर्ध्वनाभ' कहते हैं क्योंकि नाभि से ऊपर का शरीर-भाग मेध्य कहलाता है, नाभि के नीचे अमेध्य होता है। इस ऊर्ध्वगामी वीर्य का उपयोग ब्रह्म-प्राप्ति में होता है इसलिए इसे ब्राह्म अर्थात् ब्रह्मपुत्र कह देते हैं। क्योंकि यहां हमारा प्रकरण प्राप्त विषय जुहू है इसलिए हम जुहू पर विचार करते हैं। इस सूक्त पर सायणाचार्य एक आख्यान देते हैं जिसका सार यह है 'इस विषय में आख्यान-प्रिय ऋषियों का यह कथन है कि जुहू वाक् है और बृहस्पति की यह पत्नी है। दौर्भाग्यवश बृहस्पति ने इसके पाप की आशंका से इसे त्याग दिया। तत्पश्चात् आदित्य आदि देवों ने परस्पर मन्त्रणा कर और इसे अपापा बनाकर बृहस्पति को देते हुए कहा कि यह जुहू नाम की तुम्हारी पत्नी निष्कलंक व पापरहित है, अतः आप पुनः इसे स्वीकार करें, किसी प्रकार की शंका न करें। इस विषय में हम सब देव साक्षी हैं।'

जुहू बृहस्पति की वाक् है जिसे कि कथानक प्रिय ऋषियों ने बृहस्पति की पत्नी कह दिया है। वाक् होने से स्पष्ट है कि यह एक आलंकारिक कथानक है। जुहू का दूसरा नाम बृहती है जिसका कि बृहस्पति स्वामी है (बृहत्याः पतिः)। बाह्य ब्रह्माण्ड में यह द्युलोक की वाक् है और पिण्ड में मस्तिष्क की वाक् है। यह वाक् स्रुवा बन मस्तिष्क के सात केन्द्रों (Brain Centres) में कर्मकाण्ड की भाषा में अग्नि की सात स्वल्प वेदिकाओं में वर्तमान सात कुण्डों में वीर्य रूपी घृत की आहुति डालती है जिससे कि ब्रह्म की उत्पत्ति होती है अथवा ब्रह्मज्ञान की आहुति देती है जिसे कि सप्तेन्द्रिय रूपी सात ऋषि प्रकट करते हैं। 'जाया' **"यया जायते यस्यां वा जायते सा जाया"** जिसके द्वारा ब्रह्म की उत्पत्ति होती है वह ब्रह्मजाया है। जब वासना आदि की प्रबलता में यह वीर्य रूपी सोम नाभि से ऊर्ध्व में मस्तिष्क में नहीं जा पाता तो इन सात मस्तिष्क केन्द्रों—सप्तर्षियों से ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं होती। ये ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि कराने वाले नहीं होते तो यह कहा जा सकता है कि बृहस्पति ने जुहू नामक वाक् पत्नी का परित्याग कर दिया। यह वाक् पुनः ब्रह्म की उत्पत्ति कराने वाली बन जाये यही सारी प्रक्रिया मन्त्रों में दर्शायी गई है।

यह प्रक्रिया सामाजिक क्षेत्र में निम्न प्रकार क्रिया में परिणत होती है कि बृहस्पति देवगुरु शिष्यों के मस्तिष्क के सात कुण्डों में अपनी वाक् द्वारा ब्रह्मज्ञान की आहुति डालता है तो समाज में ब्रह्मज्ञानी उत्पन्न होते हैं पर जब युग-प्रभाव से योग्य

शिष्य नहीं मिलते अथवा राजा व प्रजा द्वारा बृहस्पति रूपी ब्राह्मण की अवहेलना व तिरस्कार होता है तब बृहस्पति जुहू नामक अपनी पत्नी का परित्याग कर देता है। वह योग्य पात्र न मिलने से किसी को भी ब्रह्म का ज्ञान नहीं देता। शिक्षा में धन का प्राबल्य हो जाता है, वैश्यवृत्ति के व्यक्ति गुरु बन बैठते हैं तो ऐसी अवस्था में ब्रह्म की उत्पत्ति असम्भव है।

यह वाक् ब्रह्म की जाया बने तथा ब्रह्म की उत्पत्ति कराने वाली बने, इसके लिए आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य का मस्तिष्क की ओर ऊर्ध्वारोहण किया जाये। इसी दृष्टि से इस सूक्त के पूर्व मन्त्र में "ब्रह्मचारी चरति" द्वारा ब्रह्मचर्य का माहात्म्य दर्शाया गया है। अब हम सूक्तगत मन्त्रों का प्रमुख रूप से आध्यात्मिक क्षेत्र में अर्थ प्रदर्शित करते हैं।

१. तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बषेऽकू ारः सलिलो मातरिश्वा।
वीडुहरास्तप उग्रो मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतेन॥

(ब्रह्मकिल्विषे) ब्रह्मपाप होने पर, ब्रह्मज्ञानी की अवहेलना होने पर, मस्तिष्क में ब्रह्म की उत्पत्ति न होने पर (ऋतेन प्रथमजाः ते) ऋत द्वारा प्रथमोत्पन्न अर्थात् सृष्टि-प्रारम्भ में ऋत से उत्पन्न देवों, पिण्ड में सप्तेन्द्रिय रूपी उन देवों ने (प्रथमाः) सर्वप्रथम सत्ता में आकर (अवदन्) कहा कि ब्रह्म-सम्बन्धी पाप न रहे इसके लिए आवश्यक है निम्न भावों को मन में सदा जागरूक रखना, वे हैं (अकूपारः) पारावार रहित ब्रह्म व आदित्य आदि पदार्थों का चिन्तन, इससे मन व्यापक बनता है। इससे ब्रह्मचर्य के विघातक वासना आदि शत्रु मन को आक्रान्त नहीं करते। यह योगदर्शन की चित्तस्थैर्य की साधनभूता "अनन्त समापत्ति" है। (सलिलः = सति लीनः) सत् में लीन—अर्थात् यह सब ब्रह्माण्ड सत् में लीन था। यद्वा सलति निरंतर गच्छतीति—निरन्तर गतिशील जल-प्रवाह का चिन्तन करे। सलिलः—सल्यादिभ्य इलच्-सलिकल्य उणा. १।५४ (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु का चिन्तन (वीडुहराः) दृढ़ व तेजस्वी बनने का भाव (तप उग्रः) उग्र तप (मयोभूः) सुख-शान्ति का भाव तथा (आपो देवीः) दिव्य जल, इन सबका चिन्तन आदि मनुष्य के मन व मस्तिष्क में ब्रह्मप्राप्ति के प्रति रुझान पैदा करते हैं और ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने में सहायक होते हैं।

२. सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय॥

(अहृणीयमानः) बिना घृणा व निस्संकोच भाव से (प्रथमः) सर्वप्रथम (सोमो राजा) सोम राजा ने (ब्रह्मजायां) ब्रह्म की उत्पादिका जुहू को बृहस्पति को (पुनः प्रायच्छत्) पुनः प्रदान कर दिया। इस प्रत्यर्पण प्रक्रिया में (होता) दाता (अग्निः) अग्नि (हस्त गृह्य) ब्रह्मजाया का हाथ पकड़कर (निनाय) बृहस्पति के पास ले चला। तब (वरुणः) वरुण (मित्रः) मित्र ये दोनों (अन्वर्तिता आसीत्) उसका अनुगमन करने वाले बने। अन्वर्तिता—अत्र वचनव्यत्ययेन द्विवचनस्थाने एकवचनम्।

इस मन्त्र में कई बातें विचारणीय हैं। इस प्रक्रिया में कई आन्तरिक क्रिया-कलाप हैं। सोम हमारे देह में रस, रक्तादि से लेकर वीर्य तथा ओज रूप में परिणत होता है। यह सोम ही मन बनता है। यथा—**रेतः सोमः** कौ० १३।७, **'सोमो रेतोऽदधात्'** तै० ब्रा०। सोम ही चन्द्रमा है। श० प० १०।४।२।१, कौ० १६।५ चन्द्रमा से ही हमारा मन बना है। वीर्य रूपी सोम ऊर्ध्वारोहण द्वारा जब मस्तिष्क की ओर प्रयाण करता है तब सर्वप्रथम मन का रुझान आध्यात्मिकता की ओर होना चाहिए। इस रुझान को बनाये रखने के लिए अग्नि-संकल्पाग्नि का होना आवश्यक है। एक प्रकार से इस सोम को अग्नि ही ऊर्ध्व की ओर ले चलती है। जिस व्यक्ति में अटूट संकल्पाग्नि नहीं है, उसका ऊर्ध्वरेतस् बनना असम्भव है।

इस यात्रा में वरुण और मित्र ये दोनों अनुगमन करते हैं। वरुण विजातीय तत्त्वों को पकड़कर बाहिर करता है और मित्र अनुकूल तत्त्वों का संग्रह करता है। सोम (वीर्य) मस्तिष्क में पहुंच मस्तिष्क शक्तियों को उद्बुद्ध व बलिष्ठ बनाता है। मस्तिष्क की वाक् बृहती को जुहू रूप में परिणत करता है। सोम में महान् शक्ति है। वेद में यहां तक कहा गया है कि यह सोम आत्मा को जहां चाहे इस ब्रह्माण्ड में जिस लोक में भी चाहे ले जा सकता है। इस विषय पर ऋ० ९।११३ सूक्त अच्छा प्रकाश डालता है। उदाहरण के रूप में **'यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव'** हे इन्दो ! सोम ! जहां द्युलोक के सुखात्मक स्वर्गत्रय में मुक्त पुरुष यथेष्ट विचरते हैं, जहां ज्योतिर्मय लोक है वहां मुझे अमर बनाकर पहुंचा। इस प्रकार सोम की महान् महिमा है। यह सोम रूपी वीर्य ऊर्ध्वारोहण कर मस्तिष्क शक्ति को परिपुष्ट करता है। मस्तिष्क की वाक् बृहती जुहू बनती है अर्थात् मस्तिष्क-केन्द्रों में ब्रह्म स्वरूप का उद्भावन करती है। यह जुहू वाक् सप्त द्वारों में (कर्णाविमौ, नासिके चक्षिणी मुखम्) बंटकर इनके द्वारा ब्रह्म का प्रकाश करती है। यही प्रक्रिया सामाजिक क्षेत्र में गुरु-शिष्य सम्बन्ध से दर्शायी जा सकती है। मन्त्र में जो यह कहा कि **'अग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय'** अर्थात् होता अग्नि जुहू का हाथ पकड़कर ले चलता है—इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि (अग्रणी भवति) अग्रणी होती है। ब्रह्म ज्ञान का मार्ग बड़ा विकट व बीहड़ है। इसे पार करने में अग्नि ही सहायक बनती है।

३. हस्तेनैव ग्राह्यऽआधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य॥

(इयं ब्रह्मजाया) यह जुहू ब्रह्मजाया है (इति चेत्) अगर ऐसा देव लोग (अवोचन्) कहते हैं तो (अस्याः) इस ब्रह्मजाया का (आधिः) आधान, संग्रहण (हस्तेन एव) हाथ द्वारा ही, धारणाकर्षण बल द्वारा यद्वा प्रसन्न मुद्रा से ही (ग्राह्यः) ग्रहण करने योग्य है। (दूताय प्रह्ये) दूत आदि अन्य जन द्वारा संदेश आदि भेजने के योग्य (एषा न तस्थे) यह नहीं है अर्थात् राजा आदि को उसके पास स्वयं उपस्थित होना चाहिए। (तथा) ऐसा होने पर (क्षत्रियस्य राष्ट्रं) क्षत्रिय का राष्ट्र (गुपितं) रक्षित होता है।

इस मन्त्र का रहस्य बाह्य क्षेत्र में तो स्पष्ट है। राष्ट्र के देवपुरुष जब यह निश्चय कर लेते हैं कि बृहस्पति की जुहू नामक ब्रह्मजाया से ही राष्ट्र का कल्याण है तो राष्ट्र के नायक राजा को चाहिए कि बृहस्पति के पास दूत व अन्य जन द्वारा यह संदेश न भेजकर कि आप अपनी वाक् का ग्रहण करें जिससे राष्ट्र में ब्रह्मज्ञानी पैदा हों, प्रत्युत उनके पास स्वयं उपस्थित होकर प्रार्थना करें, उनका मान-सम्मान करें इसी से राष्ट्र की रक्षा होगी। क्योंकि 'यथा राजा तथा प्रजाः' प्रजाजन राजा का अनुसरण करते हैं। राजा द्वारा ब्रह्मज्ञानी का सम्मान होने पर राष्ट्र में सोम-सौम्यता व प्रसाद गुण का आधिक्य हो जाता है। ब्रह्म-सम्बन्धी बातें सबको भाती हैं। ब्रह्म-प्राप्ति तथा वेदों के अध्ययन व अध्यापन में प्रजाजन संलग्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में ही **"राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य"** क्षत्रिय का राष्ट्र रक्षित होता है। इस ब्रह्मजाया को हस्त द्वारा ग्रहण करे—का भाव 'हस्त' पद के अर्थ से स्पष्ट होता है। हस्त शब्द के कई अर्थ हैं। महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में निम्न अर्थ दिये हैं—**'यो हसति स'** अर्थात् ब्रह्मविद्या का ग्रहण प्रसन्न मुद्रा से करे, इसी भांति—उदान-अपान, प्राण-अपान, ग्रहण-विसर्जन, धारण-आकर्षण, उत्साह-पुरुषार्थ आदि। ब्रह्मजाया जुहू के संग्रहण में उपर्युक्त सब साधन हाथ का काम करते हैं। जब यह ज्ञात हो जाये कि यही वास्तविक ब्रह्मजाया है तब उसके ग्रहण में खूब उद्यम व पुरुषार्थ करना चाहिए। आन्तरिक क्षेत्र में मन्त्र का भाव कुछ-कुछ इस प्रकार हो सकता है कि—जब आन्तरिक देव भावों से यह निश्चित हो जाये कि यही ब्रह्मजाया है इसी का अवलम्बन करने से मस्तिष्क में ब्रह्मज्ञान का आविर्भाव हो सकता है तब सर्वतो भावेन उसी ओर लग जाना चाहिए। मन स्वयं तो इधर-उधर डोलता फिरे पर वाणी द्वारा मन्त्रोच्चारण व जप आदि हो यह ठीक नहीं।

४. **देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।**
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥

(सप्तऋषयः) सप्त ऋषि (तपसे निषेदुः) जब तप करने बैठे तब (पूर्वे देवाः) पूर्व देवों ने (एतस्यां अवदन्त) इस ब्रह्मजाया के सम्बन्ध में कहा कि (ब्राह्मणस्य) वेदवेत्ता ब्राह्मण की (उपनीता जाया) उपनीत जाया (भीमा) बड़ी भयंकर है यह (परमे व्योमन्) परम व्योम में (दुर्धां दधाति) दुर्दमनीय रूप को धारण कर लेती है अर्थात् इस अवस्था में इसे कोई दबा नहीं सकता।

पूर्वे देवाः—आन्तरिक क्षेत्र में पूर्व देव सप्तऋषि = मस्तिष्क के सप्त केन्द्रों की पूर्वावस्था से सम्बन्ध रखते हैं। यह मस्तिष्क की बृहतीवाक् जब सप्त द्वारों में बंटकर सप्तविध हो जाती है (**कर्णाविमौ नासिके चक्षिणी मुखम्**) तब यह सप्त ऋषि = सप्तेन्द्रिय कही जाती है। **"सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे"** यजु० ३४।५५। **सप्त शिरसि प्राणाः प्राणा इन्द्रियाणि०** तां० २।१४।२।

मस्तिष्क की वाग्धारा जब सप्त केन्द्रों में बंटकर इन्द्रियों से सम्बद्ध सप्तविध विचारों का उद्‌बोधन करती है तब ये दिव्य तथा आसुरी उभय विध विचार हो सकते

हैं। इसलिए इस सप्तविध उद्‌बोधन से पूर्व मस्तिष्क में जो सूक्ष्म तरंग रूप में उद्‌बोधन होता है वह दिव्यरूप का ही हो सकता है। ये ही पूर्व देव हैं इनका प्रत्यक्ष ज्ञान मनुष्य को मस्तिष्क में केन्द्रित होने पर ही हो सकता है। जब ये सप्तऋषि रूप आन्तरिक प्राण मस्तिष्क में ही चिरकाल तक केन्द्रित रहते हैं अर्थात् ये तप करते हैं तब इन्हें बृहस्पति-सम्बन्धी वाक् (बृहती=जुहू) का ज्ञान होता है अर्थात् वह कितनी भयंकर है यह ज्ञात होता है। परम व्योम—मस्तिष्क का सर्वोच्च स्थल है।

५. ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्म में विचरने वाला ऊर्ध्वरेता (विषः) विविध विद्या-समुद्रों को (वेविषत्) व्याप्त करता हुआ अथवा (विषः) कर्मान्त तक जाने वाली बुद्धि से (वेविषत्) व्याप्त हुआ ब्रह्मचारी (चरति) संसार में विचरता है। (सः) वह ब्रह्मचारी (देवानां) देवों, दिव्य विचारों, दिव्य ज्ञानों व दिव्य शक्तियों का (एकं अंगं भवति) एकमात्र आश्रय होता है (तेन) इससे (देवाः) हे देवपुरुषो! (बृहस्पतिः) वह ज्ञान-विज्ञान का अधिपति (सोमेन नीतां) सोम द्वारा लाई गई (जायां) जाया को (जुह्वं न) जुह्वा—स्रुचा के तुल्य उसे (अविदत्) प्राप्त करता है।

विषः—विषमित्युदकं नाम। निघं० १।१२ **विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्धयर्थस्य विपूर्वस्य वा सचते (षच समवाये, सेचने सेवने वा भ्वादि०) विषा (स्त्रीलिंग) विशेषेण स्यति कर्मान्तं करोतीति विषा बुद्धिर्वा।**

विषाविहा-उणादि ४।३६

—स्वामी दयानन्द

ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी की बुद्धि सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने में सक्षम हो जाती है। वह अनेकों विद्या-समुद्रों में अवगाहन करता है। देवों, दिव्य-विचारों, दिव्य-ज्ञानों व दिव्य-शक्तियों का वह आगार बन जाता है। जब यह ब्रह्मचारी ब्रह्मपद की अन्तिम सीढ़ी पर पहुंच जाता है तब वह बृहस्पति कहलाता है। उस अवस्था में सोम—वीर्य द्वारा मस्तिष्क-शक्ति बृहस्पति की जाया बन ब्रह्म को प्रकट करने तथा उसका उद्‌गम करने लगती है और जुह्वा बन शिष्यों के मस्तिष्क रूपी कुण्ड में ब्रह्म (ब्रह्म-ज्ञान तथा वेद) को आहुति रूप में डालती है।

६. पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥

(पुनः) फिर (वै) निश्चय से (देवाः) विद्वान् लोग (उत) और (मनुष्याः) मनुष्य (पुनः) फिर तथा (राजानः) राजा, क्षत्रिय लोग (सत्यं कृण्वानाः) यही सत्य मार्ग है उसका अवलम्बन कर (पुनः) फिर इस (ब्रह्मजायां) ब्रह्मजाया को (ददुः) बृहस्पति को सौंप देते हैं।

यह मन्त्र सामाजिक क्षेत्र में अधिक सुसंगत है। राष्ट्र के देवपुरुष, सामान्यजन तथा राजा लोग भी जब यह भली-भांति समझ लेते हैं कि ब्रह्मविद्या का दान व वेदाध्ययन व सामान्य शिक्षा-प्रदान का अधिकार केवल ब्राह्मण को है, तब वे पुनः ब्राह्मण को ही ब्रह्मजाया सौंप देते हैं। आजकल पैसे, मान-प्रतिष्ठा के लोभ में सभी शिक्षक बनने लगे हैं।

७. पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्विषम् ।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते ॥

(देवैः निकिल्विषं) देवों विद्वानों द्वारा पापरहित व शुद्ध बनाई गई (ब्रह्मजायां) ब्रह्मजाया बृहस्पति को (पुनः दाय) फिर सौंपकर (पृथिव्या ऊर्जं) पृथिवी का ऊर्ज बल तथा कान्ति (भक्त्वाय) सेवन कर (उरुगायं) महान् स्तुति के योग्य उस ब्राह्मण बृहस्पति की (उपासते) उपासना करते हैं अर्थात् उसका गुणगान करते हैं।

दशम अध्याय

बृहस्पति और वशा

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में वशा का पर्याप्त वर्णन मिलता है। यह वश में करने वाली, आकर्षण करने वाली एक दिव्य शक्ति है। सूर्य की वशा-शक्ति से यह सौर मण्डल उसके वश में है। पृथ्वी की वशा-शक्ति से चन्द्रमा और पार्थिव तत्त्व उसके वश में हैं। राजा की वशा से प्रजा उसके वश में रहती है। बृहस्पति की वशा से शिष्य उसके वश में रहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ और प्राणी में वशा का कुछ न कुछ अंश रहता है। वशा-शक्ति साधना और योगाभ्यास द्वारा मनुष्य में पैदा होती है। योगी और तांत्रिक पंचमहाभूतों को वश में करके संकल्पमात्र से नये पदार्थों का निर्माण कर सकते हैं। सर्वप्रथम अपने शरीर, प्राण और इन्द्रियों को इस शक्ति द्वारा वश में किया जाता है। इस शक्ति के मुख्यतया वश में करने वाली होने से (इससे पैदा कुछ नहीं होता), इसके प्रतीक रूप में यज्ञों में वन्ध्या गौ को ग्रहण किया जाता है। योगियों के मस्तिष्क के चारों ओर जो ज्योतिष्पुञ्ज (aura) होता है उसे वशा कहा जा सकता है। अथर्ववेद का वशा-सम्बन्धी निम्न मंत्र द्रष्टव्य है—

ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि ।
ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत ।। अ० १०।१०।१९

(ब्रह्मणः) ब्राह्मण के (ककुदात्) शिर से [जब] (बिन्दुः) बिन्दु (ऊर्ध्वः अधि उत् अचरत्) ऊर्ध्व की ओर चलता है, (वशे) वशे ! (ततः) तब (त्वम् जज्ञिषे) तू पैदा होती है। (ततः) तत्पश्चात् (होता) [अग्नि-रूप] होता, देवों का आह्वान करने वाला (अजायत) उत्पन्न होता है। इस अवस्था में ध्यान करते हुए मनुष्य के शरीर की गति ऊर्ध्व की ओर होने लगती है। सारा शरीर एक शक्तिशाली वातावरण से, एक छन्द से छन्दित हो जाता है। इस अवस्था में शरीर को थामने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यह अवस्था आरम्भ में वशा की 'जायमान' अवस्था है। इसी दृष्टि से सूक्त के प्रथम मंत्र में कहा है : **नमस्ते जायमानायै जातायाः उत ते नमः ।** (जायमानायै) उत्पन्न होती हुई (ते) तुझे [हे वशे] (नमः) नमस्कार [है] (उत) और (जातायै) उत्पन्न हो चुकी (ते) तुझे (नमः) नमस्कार [है]।

२) वशा को वेदों और वैदिक साहित्य में गौ नाम से सम्बोधित किया गया है। पर वशा गोत्वजातिविशिष्ट कोई प्राणी नहीं है। अथर्ववेद के दो सूक्तों (१०. १०, १२.४) में वशा के सम्बन्ध में अनेक मंत्र आते हैं। उन सब मंत्रों को अविकल रूप से यहां दर्शाना अभीष्ट नहीं है। केवल कुछ मंत्र और मंत्रपद प्रस्तुत हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि वशा गो-प्राणी नहीं हो सकती।

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः ।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ।। अ० १०।१०।४

जिस वशा से द्यौ, पृथिवी, तथा ये जल रक्षित हैं, सहस्र धाराओं वाली उस वशा को ब्रह्मशक्ति से बनाते हैं।

वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा । ६

वशा पर्जन्य की पत्नी है। यह ब्रह्मशक्ति से देवों तक जाती है।

अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा ।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ।। ७

हे वशे ! तेरे अनुकूल रहता हुआ अग्नि तुझ में प्रविष्ट है, सोम प्रविष्ट है। हे भद्रे ! तेरा ऊध पर्जन्य है और विद्युत् तेरे स्तन हैं।

यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि ।
इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद् वशे ।। ९

ऋत में प्रकट होने वाली, हे वशे ! आदित्यों से आह्वान की गई जब तू उपस्थित हुई तब इन्द्र ने सहस्रों पात्रों में भरा सोम तुझे पान कराया।

यत् ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद् वशे ।
इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ।। ११

हे वशे ! क्रुद्ध धनपति इन्द्र ने जो तेरा दूध हर लिया है, उस दूध को आज यह स्वर्गलोक तीन पात्रों में रखे हुए है।

वशा समुद्रे प्रानृत्यद् ऋचः सामानि बिभ्रती । १४

ऋचों तथा सामों को धारण किए हुए, यह वशा समुद्र में नृत्य कर रही है।

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि ।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ।। २८

तीन जिह्वाएं वरुण के मुख के अन्दर चमक रही हैं। उन तीनों के मध्य में जो जिह्वा है, वह वशा है जो मुश्किल से ग्रहण की जा सकती है

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः । ३०

वशा द्यौ है, वशा पृथिवी है, वशा विष्णु है [और वशा ही] प्रजापति है।

इस सूक्त में और भी ऐसे मन्त्र हैं, जो वशा के प्राणी-रूप को प्रकट करते हुए नहीं प्रतीत होते हैं। मन्त्रों में वशा के ऊधस्, स्तन, क्षीर, वत्स आदि का वर्णन होते हुए भी, तद्विपरीत अन्य वर्णनों के होने से यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वशा गो-प्राणी नहीं है। पुत्र, स्तन आदि का प्रयोग प्राणियों से अन्य पदार्थों के प्रसंग में भी वेद में है, यथा, **सहसः सूनुः** = साहस का पुत्र; **यस्ते स्तनः शशयः** [सरस्वती] = विद्या के स्तन। यह तो वेदों की वर्णन करने की अपनी विशिष्ट शैली है[1]।

---

१. पं० सातवलेकर ने तथा अन्य विद्वानों ने शतौदना तथा वशा आदि को गो-प्राणी मानकर जो अर्थ प्रदर्शित किए हैं, वे चिन्तनीय हैं।

३) **सौरी वशा** : सूर्य-सम्बन्धी वशा के लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.९.९.३) में कहा गया है, **सौरी नवश्वेता वशा अनूबन्ध्या भवन्ति ।** सायण ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, '**सूर्यदेवताका नवसंख्याका श्वेतवर्णा बन्ध्या गावोऽनूबन्ध्याख्यपशवः**' अर्थात् सूर्य देवता-सम्बन्धी श्वेत वर्ण की, संख्या में नौ बन्ध्या गौएं **अनूबन्ध्या** कहाती हैं। ये नौ सूर्य-रश्मियां हैं । ये **बन्ध्या** वा **अनूबन्ध्या** हैं क्योंकि इनसे पैदा कुछ नहीं होता है; इनका एक ही कार्य है कि वे वश में करने वाली हैं । सौर परिवार के जो नौ ग्रह हैं उन्हें ये वश में करने वाली हैं[1] ।

हां, ब्रह्मवर्चस् की ये प्रदात्री हैं । ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानमय और ज्योतिर्मय होने के कारण शुभ्र और श्वेत है । अतः ये रश्मियां श्वेत होती हैं। इसी तथ्य को मैत्रायणी संहिता (२.५.७) में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है : **सौरीं श्वेतामालभेत ब्रह्मवर्चस-कामो, ऽसौ वा आदित्यो ब्रह्मवर्चसस्य प्रदाता, तदेव भागधेयेनोपासरत्, सो ऽस्मै ब्रह्मवर्चसं प्रयच्छति । श्वेता भवति, ब्रह्मणो रूपं समृद्ध्यै ।** अर्थात् ब्रह्मवर्चस् की कामना वाला यजमान सूर्य-सम्बन्धी श्वेत वशा का आलंभन करे, [क्योंकि] वह आदित्य ब्रह्मवर्चस् का प्रदाता है । [एवं ब्रह्मवर्चस् को प्राप्ति के लिए] भागधेय (अर्थात् तपस्या आदि द्वारा आतमाहुति का भाग) लेकर उसके पास पहुंचो । [तभी] वह [आदित्य] ब्रह्मवर्चस् देगा । वशा श्वेत इसलिए गृहीत हुई है क्योंकि ब्रह्म का रूप श्वेत है ।

४) वशा के व्युत्पत्तिजन्य भाव की पुष्टि ताण्ड्यब्राह्मण (१८.९.१३) के निम्न वाक्य से भी होती है, **वशा मैत्रावरुणस्य वशं मा नयात्** । सायण ने इसकी व्याख्या की है, **(माम्) यजमानं प्रति समस्तं वस्तुजातं (वशम्) स्वाधीनं (नयात्) नयतु** । अर्थात्, यह वशा समग्र वस्तुओं को मेरे [यजमान के] वश में कर देवे । इस प्रकार, वशा वश में करने वाली एक शक्ति है, जो अपने केन्द्र से निकलकर चहुं ओर प्रवाहित होती है । इसी तथ्य को काठकसंहिता (१३.८) में कहा गया है, **यद् वशमस्रवत् तद् वशाया वशात्वम्**, अर्थात्, सबको वश में करने वाला, चहुं ओर रस-स्रवण ही वशा का वशात्व है । इस दृष्टि से **वश** और **वशा** एक ही हैं । वशा को **वसा** भी कहा गया है, **वशा वै साऽऽसीत्, तद् वसा वा एताः** (मै०सं० २.५.७), अर्थात्, वसा इसलिए है कि इसके प्रभाव से सब इन्द्रियां इस शरीर के अन्दर ही बस जाती हैं, बाह्यविषयों की ओर नहीं भागतीं । अतः अपने केन्द्र से चहुं ओर स्रवित होने वाली शक्ति, जिसे कि **रस** कहा गया है, वशा है । यही वशा इन्द्रियों की वह शक्ति बनती है जिसे **गौ** भी कहा गया है[2] । मै०सं० (२.५.७) में आता है, **इन्द्रियं वीर्यं परापतत् सा बभ्रु र्वशाऽभवत्**, अर्थात् इन्द्रिय-संबंधी वीर्य जब दूर जाकर गिरा तब (वीर्य) वह बभ्रु वशा हुई ।

---

१. **आदित्यरश्मियों को भी गौएं कहा गया है । गौः रश्मिनाम (निघंटु १.५) । सो (आदित्यरश्मिः) ऽपि गौरुच्यते । (निरुक्त २.६) । गावो वा आदित्या : (ऐतरेय-ब्राह्मण ४.१७) ।**

२. **इन्द्रियं वै वीर्य्यं गावः । (शतपथब्राह्मण ५.४.३.१०)**

५) एक और मंत्र है 'वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह' हे वशा तुम पृश्नि-रूप धारण कर द्यौ में जाओ और वहां से वृष्टि लाओ।

मै०सं० (२.१३.१५) में कुछ अन्य वशाओं के भी वर्णन हैं। यथा—'**पृथिव्यसि जन्मना वशा साग्निं गर्भमधत्थाः**' पृथिवी जन्म से ही वशा-रूप है। उसने अग्नि को गर्भ में धारण किया हुआ है। इस प्रकरण में वर्णित वशाओं और उनके गर्भों की तालिका इस प्रकार है—

वशा	वशा का गर्भ
पृथिवी	अग्नि
अन्तरिक्ष	वायु
द्यौ	आदित्य
नक्षत्र	चन्द्रमा
ऋक्	साम
विश (प्रजा)	राजा
वाक्	प्राण
आपः	यज्ञ

६) **वशा की उत्पत्ति**—तैत्तिरीयसंहिता (२.१.७), मै.सं. (२.५.७), काठसं, (१३.८), कपिष्ठल संहिता (४८.५), श.ब्रा. आदि में वशा की उत्पत्ति कथानक द्वारा दर्शायी गई है। इन वर्णनों में भिन्नता तो है, पर सार एक ही है। तै.सं. के संदर्भ का अभिप्राय यह है कि वषट्कार ने गायत्री का सिर काट दिया। उससे जो प्रथम रस निकला वह बृहस्पति ने ले लिया। बृहस्पति से गृहीत वह रस **शितिपृष्ठा** नाम की वशा हुई। इसके अनन्तर जब द्वितीय रस प्रवाहित हुआ, तो वह **द्विरूपा** वशा हुई और मित्रा-वरुणों ने उसे ग्रहण किया। तृतीय रस **बहुरूपा** वशा बनी और विश्वे देवों ने उसे ग्रहण किया। जब चौथा रस वहा तो वह **उक्षवश** बना और बृहस्पति ने उसे ग्रहण किया। पांचवा लोहित रस **रोहिणी** वशा बना जिसे रुद्र ने ग्रहण किया। मैत्रायणी संहिता के प्रकरण में कुछ विभेद है। इन प्रकरणों को तालिकारूप में निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

तै० संहिता

गायत्री-रस	ग्राहक-देवता	वशानाम	आलंभन का फल
प्रथम रस	बृहस्पति	शितिपृष्ठा	ब्रह्मवर्चस्
द्वितीय ,,	मित्रावरुणौ	द्वि(ब्रह्म+क्षत्र)रूपा	वृष्टि, प्रजा

तृतीय रस	विश्वे देवाः	बहुरूपा	अन्न, ग्राम
चतुर्थ ,,	बृहस्पति	उक्षवशः (पार्थिव)	ब्रह्मवर्चस्
पंचम ,,	रुद्र	लोहित रोहिणी	अभिचार

मै० संहिता

प्रथम रस	बृहस्पति	रोहिणी	ब्रह्मवर्चस्
द्वितीय ,,	मित्रावरुणौ	१) द्विरूपा	पशु
	,,	२) कृष्णकर्णी (द्विरूपा)	वृष्टि
तृतीय ,,	विश्वे देवाः	बहुरूपा	यथाकाम
चतुर्थ ,,	अग्निः मरुतश्च	पृश्निः	वृष्टि
		(कृष्णशबली गौ भी)	अन्न
पंचम ,,	बृहस्पतिः	विप्रुट् (प्रथमः द्रप्सः)	उक्षा
	ब्रह्मणस्पतिः	शिरोतेजबभ्रु	अभिचार
	आदित्यः	श्वेता (सौरी)	ब्रह्मवर्चस्

७) इस कथानक में आता है कि वषट्कार ने गायत्री का सिर काट दिया। इसका भाव इस प्रकार है।

वषट्कार : ऐतरेयब्राह्मण (३.८) में आता है, **वाक् च प्राणापानौ च वषट्कारः**, अर्थात्, वाक् और प्राणापान, इन तीन की त्रिपुटी **वषट्कार** है। परन्तु इनमें वषट्कार का रूप उसी अवस्था में उत्पन्न होता है जबकि इनमें ओज तथा सह (बल) पैदा हो जाता है। इसी लिए उस स्थान पर कहा है, **ओजश्च ह वै सहश्च वषट्कारस्य प्रियतमे तन्वौ**, अर्थात्, ओज और सह, ये वषट्कार के प्रियतम तनू हैं। वाक् और प्राणापान में जब ओज और सह पैदा हो जाता है तब ये वषट्कार कहलाते हैं। अब प्रश्न यह है कि वाक् और प्राणापान में ओज और सह कब पैदा होगा ? इसका उत्तर भी वहीं दिया है कि तब, जब इनका व्यानवायु से सम्पर्क होगा। **व्यानेन शरीरम्** (ऐ०ब्रा० ३.८), अर्थात्, व्यान से शरीर युक्त—परिपूर्ण होता है। व्यान ही प्राणापान की गति का आधार है। व्यान ही इन दोनों को धारण करता है। **व्यानेन विधृतौ तिष्ठतः**।

अब फिर प्रश्न पैदा होता है कि व्यान कब सक्रिय होगा। इसका उत्तर यह है कि जब प्राण को अन्दर अवरुद्ध कर दिया जाता है, तब व्यान सक्रिय होता है।

गायत्री : अभीष्ट देव की आराधना के समय जब भक्त तन्मय होकर स्तुतिगान करता है तो उस समय मुख से गायत्री की उत्पत्ति होती है। मुख से उत्पन्न होकर वह गायत्री सर्वप्रथम शरीर के नाभि से लेकर जांघ तक के प्रदेश को आ घेरती है। यह उसका केन्द्रीय निवासस्थान है। पर वह यहां रमण नहीं करती। अतः यहा से फिर वह ऊर्ध्वा-

रोहण कर सिर में जा पहुंचती है; जांघ से लेकर सिरतक का समग्र प्रदेश गायत्री-प्रदेश हो जाता है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि गायत्री, त्रिष्टुप् आदि सभी छन्दों का शरीर में निवास है; उनका अपना-अपना केन्द्रीय स्थान है। पर जिस समय अथवा जिस व्यक्ति में जिस छन्द की प्रधानता होती है, उस समय यह शरीर उस छन्द से छन्दित हो जाता है। गायत्री की प्रधानता में शरीर 'गायत्री-शरीर,' त्रिष्टुप् की प्रधानता में 'त्रिष्टुप्-शरीर' कहलायेगा। इसी भांति अन्य छन्दों के संबंध में भी कहा जा सकता है।

सभी यज्ञों का आश्रय-स्थल होने के कारण शरीर को **यज्ञ** नाम से भी कहा जाता है। अतः गायत्री का सिर कटगया वा यज्ञ का सिर कटगया, एक ही बात है। अतः अन्य स्थल पर यह भी कहा गया है कि यज्ञ का सिर कटगया।

गायत्री-छन्द से जब शरीर छन्दित होता है तब शरीर-गत अग्नि का ग्रहण किया जाता है। इस अग्नि को **गायत्र** अग्नि कहते हैं। यह समग्र शरीर गायत्री के आठ अक्षरों से विभक्त हो जाता है—

शरीर-विभाग	**अक्षर**
आत्मा	४ अक्षर (मूलद्वार से कण्ठ पर्यन्त)
पक्ष	२ अक्षर (१ बायां हाथ बायां पैर, २ दायां हाथ दायां पैर)
पुच्छ	१ अक्षर (त्रिकास्थिप्राण)
शिर	१ अक्षर

गायत्री-छन्द विशेषकर ब्राह्मणों से सम्बन्ध रखता है। वषट्कार से गायत्री के सिर कटने का तात्पर्य यह है कि गायत्री अर्थात् भक्ति में वषट्कार-सम्बन्धी ओज, तेज और बल पैदा हो जाता है; उग्र तन्मयता और तल्लीनता पैदा हो जाती है। उस समय सिर-सम्बन्धी, बुद्धि और इन्द्रियों आदि के सभी कार्य समाप्त हो जाते हैं। एक प्रकार से, सिर नहीं रहा, यह कहा जा सकता है; अर्थात् गायत्री का सिर कट गया, यह कह सकते हैं। इस अवस्था में आगे जाकर गायत्री-छन्द अथवा गायत्री अवस्था से एक रस अर्थात्, दिव्य आनन्द और शक्ति उत्पन्न होती है जो सबको वश में करने वाली होती है। शरीर के सभी कार्य इस शक्ति के वश में हो जाते हैं। उस शक्ति का प्रसार और वृद्धि शनैःशनैः इतनी अधिक हो जाती है कि वह अन्य जड़ और चेतन को वश में करने लगती है। इसी शक्ति को काठक सं० (१३.८) में यों कहा गया है '**यद् वशमस्रवत् तद् वशाया वशात्वम्**' अर्थात्, जो रस स्रवित हुआ वही वशा का वशात्व है। इस वश नामक रस के स्रवित होने के कई स्तर वा रूप हैं, जो ऊपर तालिका में प्रदर्शित किए हैं। यह रस अग्निरूप है; यह अग्नि गायत्र अग्नि है। यही रसाग्नि पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ में, तदनुसार उदर, हृदय तथा मस्तिष्क में क्रमशः घन, तरल और विरल रूप में होती है। यही **रसतमम्,=रथन्तरम्** नामक साम है जो कि पृथिवी वा

गायत्री का साम है, क्योंकि गायत्री पृथिवी=उदर से उर्ध्व को जाती है। यह रस-रूप वशा छन्दों का रस है[1]। 'छन्दों' से यहां प्रमुख रूप से गायत्री का ही ग्रहण करना है। विशेषकर बृहस्पति के सम्बन्ध में तो गायत्री ही प्रमुख है। दूसरे, गायत्री-छन्द से ही अन्य छन्दों की उत्पत्ति होने से सब छन्द गायत्री में समाविष्ट हो जाते हैं। यह गायत्री शरीर में सूक्ष्म प्राण के रूप में रहती है, जिसका भी रस (सार) वशा बनता है। छन्दों के इस रस से कई शक्तियों की उत्पत्ति होती है। अतः उन शक्तियों के उत्पन्न करने के कारण इसे नाना नामों से संबोधित किया गया है, यथा ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस् तेज, देवों के पशु आदि[2]।

सर्वप्रथम गायत्री का सिर कटने, और फिर उसमें से रस के स्रवित होने का तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य के सिर में जो अनन्त शक्तियां आवरण से ढकी हुई हैं, प्रच्छन्न रूप में रहती हैं वे आवरण को फोड़कर बाहर की ओर स्रवित होना प्रारम्भ करती हैं। यही योगी वा दिव्य पुरुष की वशा है।

८) **शितिपृष्ठा वशा** : गायत्री के सिर कटने से जो प्रथम रस स्रवित हुआ वह बृहस्पति ने ग्रहण किया तो वह शितिपृष्ठा वशा हुई। **शितिपृष्ठा** शुभ्रपृष्ठ अथवा तीक्ष्णपृष्ठ को कहते हैं। ब्रह्म, ज्ञान, विज्ञान—ये सब शुभ्र, प्रदीप्त और ज्योतिर्मय हैं। इस वशा के प्रभाव से इन्द्रियां और प्राण वशीभूत होकर ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति तथा ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में व्यापृत होते हैं। बृहस्पति=आचार्य में शिष्यों को अपने वश में करने की शक्ति जागृत होती है। आधुनिक काल में विद्यार्थियों में जो अनुशासन-हीनता दृष्टि-गोचर होती है, उसका कारण यह है कि सर्वप्रथम तो गुरुओं में वशा-शक्ति जाग्रत होती ही नहीं जिससे कि विद्यार्थी वर्ग गुरुओं के प्रति आकृष्ट हो, और गुरुओं का मान करे। दूसरा कारण यह भी है कि यदि वशा का कुछ अंश किसी में हो तो उसे भी राज्य ने तथा राजनीतिक दलों ने छीन लिया है। इसी दृष्टि से ये मन्त्र हैं—

वशां ब्रह्मभ्यो याचद्भ्यस्तत् प्रजावदपत्यवत्। अथर्ववेद १२.४.१
प्रजया स वि क्रीणीते पशुभिश्चोपदस्यति। अथर्ववेद १२.४.२
तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम्। अथर्ववेद १२.४.१०

मानव के निर्माण की दृष्टि से देखा जाये तो सर्वप्रथम वशा-शक्ति का उपयोग ब्रह्मचर्याश्रम में शिष्यों के निर्माण में होता है। अतः सर्वप्रथम रस को बृहस्पति ग्रहण करता है। और वह एकरूपा है, अर्थात्, ब्रह्मचर्याश्रम में सब विद्यार्थी एक-समान हैं। उनका रहन-सहन, खान-पान आदि सब एक-समान है। गुरु भी सब शिष्यों के प्रति सर्वप्रथम

---

१. **छन्दसां वा एष रसो यद् वशा।** (तै.सं. २.१.७)
२. **कहा भी है, छन्दसामेष रसो यद् ब्रह्म** (मै.सं. २.५.८, काठसं १३.८)। **बृहस्पति-र्ब्रह्मणैवास्मिंस्तेजो रसं दधाति; ब्रह्मवर्चसी भवति।** अर्थात्, **बृहस्पति ब्रह्म के द्वारा तेज-रूपी रस को धारण करता है; अतः वह ब्रह्मवर्चस्वी बनता है।**

समभाव और समदृष्टि होने चाहिएं। इस प्रकार, शितिपृष्ठा वशा ज्ञान-विज्ञानसम्बन्धी, तीक्ष्ण और शुभ्ररूपा दिव्य शक्ति होती है।

रोहिणी वशा : बृहस्पति-सम्बन्धी वशा को अन्यत्र **रोहिणी** नाम से भी संबोधित किया गया है। मैसं० (२.५.७) में आता है, **रोहिणीं बार्हस्पत्यामालभेत ब्रह्मवर्चसकामो; ब्रह्म वै बृहस्पतिर्बार्हस्पत्यो ब्राह्मणो देवतया, स्वयैवास्मै देवतयाऽऽत्वा तेजो ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे।** इसका भाव यह है कि ब्रह्मवर्चस् की कामना वाला रोहिणी वशा का आलम्भन करे। यह ब्रह्मवर्चस् तेज बृहस्पति की कृपा से ब्राह्मण ही धारण करता है[1]।

विचारणीय है कि बृहस्पति-सम्बन्धी वशा को रोहिणी क्यों कहते हैं, और ब्रह्मवर्चस् तेज का इसके साथ क्या सम्बन्ध है ? इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है। बृहस्पति की दिशा ऊर्ध्व दिशा मानी जाती है। अतः ऊर्ध्व में स्थित बृहस्पति के पास पहुंचने के लिए वशा आरोहण करने वाली होनी चाहिए। कठ-कपिसं. (६.६) में रोहिणी का रोहिणीत्व इस प्रकार दर्शाया है **'रोहिण्यां वा एतं देवा आदधत तया रोहमरोहयन्। तद् रोहिण्या रोहिणीत्वम्'** अर्थात्, देवताओं ने इस अग्नि का रोहिणी नक्षत्र में आधान किया। इससे वे ऊर्ध्व को आरोहण कर गये। ऊर्ध्व को आरोहण करना ही रोहिणी का रोहिणीत्व है। **सा तत ऊर्ध्वारोहत् सा रोहिण्यभवत्** (तैब्रा. १.१.१०.६), **ऊर्ध्वारोहद् रोहिणी** (तैब्रा. १ २.२.१७)। बृहस्पति ब्राह्मणों का प्रतिनिधि है। ब्रह्म अग्नि होता है। अग्नि का धर्म ऊर्ध्वारोहण होता है। अतः बृहस्पति-सम्बन्धी वशा शक्ति का स्वभाव ऊर्ध्वारोहण ही होता है।

९) **मैत्रावरुणी वशा :** तैसं. (२.१.७) में आता है **'यो द्वितीयं परापतत् तं मित्रावरुणावुपागृह्णीतां सा द्विरूपा वशाभवत्'** अर्थात् गायत्री का सिर कटने से जो द्वितीय रस प्रवाहित हुआ उसे मित्र और वरुण ने ग्रहण किया; वह द्विरूपा वशा हुई। यह वशा द्विरूपा है अर्थात् इसके दो रूप हैं। ये दो रूप मित्र और वरुण, इन दो देवों के कारण हैं। शास्त्रों ने मित्र और वरुण से जिन-जिन तत्त्वों को ग्रहण किया है उसी के आधार पर इस वशा के दो रूपों का निर्णय हो सकता है। इस प्रकरण में मित्र और वरुण क्रमशः अहः (= दिन) और रात्रि के वाचक होकर आये हैं। अहन् से शुक्ल वर्ण का ग्रहण करना है और रात्रि से कृष्ण वर्ण का। इसी बात को मैसं० (२.५.७) में कहा है **'अहोरात्रे अनुवर्षत्येतद् वा अह्नो रूपं यत् शुक्लं, यत् कृष्णं तद् रात्रेर्द्विरूपा भवति समृद्ध्यै'** अर्थात्, दिन और रात्रि को आधार मानकर जो वृष्टि है वह कई प्रकार से बतायी जा सकती है। दिन में ज्ञान-विज्ञानधाराओं की वर्षा होती है, तो रात्रि में तम की, जिससे रात्रि में निद्रा का प्राबल्य होता है। दूसरे, मनुष्य को भी दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। ज्ञान और प्रकाश से सम्बद्ध मानव का मन, बुद्धि आदि अंश 'दिन' है

---

१. काठसं० (१३.८) में भी यही कहा है कि या रोहिणी साभवत्। तस्मात् सा बार्हस्पत्या।

तथा अन्न और प्राणादि का भाग 'रात्रि' है। तीसरे, मैत्रावरुणी वशा में ब्रह्म और क्षत्र, दोनों शक्तियां समाविष्ट हैं[1]।

१०) वशा=वन्ध्या : कर्मकांड में वशा से वन्ध्या गौ का जो ग्रहण किया जाता है वह यज्ञरूपी नाटक में पात्ररूप-मात्र दर्शाने के लिए है। शास्त्रों में वशा से प्राणी गौ का ग्रहण किया ही नहीं गया। उदाहरण के तौर पर शतपथब्राह्मण (५.५.१.११) में आता है कि '**सा हि मैत्रावरुणी यद् वशा···सर्वा ह्येव वशाप्रवीता। तामध्वर्युभ्यां ददाति। प्राणोदानौ वा अध्वर्यू, प्राणोदानौ मित्रावरुणौ, तस्मात् तामध्वर्युभ्यां ददाति**'। इसका भाव यह है कि मैत्रावरुणी वशा वन्ध्या होती है। वैसे तो सारी वशाएं अगृहीतगर्भा (अप्रवीता) होती हैं। परन्तु यदि वन्ध्या न मिले तो अगृहीतगर्भा ले लेवे। इस वशा को अध्वर्युओं को देते हैं। अध्वर्यु क्या हैं? ब्राह्मणकार कहते हैं कि अध्वर्यु प्राण और उदान हैं, और प्राण-उदान मित्र-वरुण हैं। अतः मैत्रावरुणी वशा प्राण और उदान को देनी है। ये दोनों शरीर-रूपी यज्ञ के अध्वर्यु हैं।

---

१. **ब्रह्मणो वै रूपमहः क्षत्रस्य रात्रिः**। (तैब्रा० ३.६.१४.३)

एकादश अध्याय

बृहस्पति और क्रौञ्च पक्षी

शास्त्रों की मान्यता है कि 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब पिण्ड में है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, हरि, नारायण, रुद्र व बृहस्पति आदि देवता जैसे ब्रह्माण्ड में इस सृष्टि का निर्वाह व संचालन कर रहे हैं उसी प्रकार ये सब देवता इस मानव-पिण्ड में सूक्ष्म रूप में स्थित होकर इस पिण्ड का संचालन कर रहे हैं। अथर्व वेद—११।८—सूक्त में मानव-शरीर का वर्णन हुआ है। वहां आता है कि **"रेत: कृत्वाज्यं देवा पुरुषमाविशन्"** देवता रेतस् (वीर्य) को आज्य (घृत) बनाकर पुरुष के अन्दर प्रविष्ट हो गये।

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥ अथर्व० ११।८।३२

इसी कारण विद्वान् लोग पुरुष को भी ब्रह्म कहते हैं (क्योंकि इसमें सब देवता विराजमान हैं) और ये सब देवता शरीर में इस रूप में विराजमान हुए जिस प्रकार गौएँ गौशाला में विराजमान होती हैं।

इस प्रकार इस मानव-शरीर में सब देवता विद्यमान हैं। इनमें बृहस्पति देवता भी है। इन देवताओं के उद्बोधन व आविर्भाव के जहां जप, तप व ध्यान आदि साधन बताये गये हैं वहां ध्वनि व नाद भी एक साधन है। यह 'कुङ्' ध्वनि क्रौञ्च पक्षी की मानी जाती है। वेदों में सब देवताओं के पशु व पक्षी आदि गिनाये गये हैं, वहां बृहस्पति का पक्षी क्रौञ्च माना गया है। बृहस्पति देवों का गुरु है। ज्ञान-विज्ञान व वेदवाणी का अधिपति माना जाता है। इस बृहस्पति देवता का मानव में कुङ् ध्वनि से उद्बोधन होता है इसी सम्बन्ध में इस लेख में कुछ विचार किया गया है।

वैदिक साहित्य में क्रौञ्च[1] पक्षी का सम्बन्ध आंगिरस बृहस्पति से बताया गया है। वहां कुङ्, कुंच तथा क्रौञ्च नामों से इसका उल्लेख हुआ है। वेदोत्तरकालीन कवि लोग नीरक्षीर विवेक की शक्ति हंस में मानते आये हैं। वैदिक युग में वह शक्ति क्रौञ्च पक्षी में मानी जाती थी ऐसा वेदमन्त्र के आधार पर कई विद्वानों का कथन हो सकता है। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि वेदों में क्रौञ्च और हंस दोनों का वर्णन आता है और दोनों में पार्थक्य व विवेचक शक्ति का होना दर्शाया गया है। क्रौञ्च जल में मिश्रित क्षीर को पृथक् करता है तो हंस सोम को। अर्थात् कुङ व

---

१. **क्रौञ्च: बृहस्पते:। (छान्दोग्योपनिषद् २।२२।१)**

क्रौञ्च ने क्षीर[1] को जल से पृथक् कर पान किया तो हंसने सोम[2] को। मन्त्रों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि क्रुङ् और हंस दोनों में जल-मिश्रित क्षीर और सोम को पृथक् करने की शक्ति विद्यमान होती है परंतु हमें इन मन्त्रों को और अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए। मन्त्रों का अन्तिम लक्ष्य केवल पक्षी की ही शक्ति का निर्देश करना नहीं है प्रत्युत पार्थक्य करने की वह शक्ति जिस व्यक्ति में होती है वह क्रुङ् और हंस नाम से व्यवहृत होता है। यह पार्थक्य शक्ति साधना द्वारा आंगिरस बृहस्पति तथा हंस नामक व्यक्तियों में पैदा हो जाती है। यही मन्त्रों का असली तात्पर्य है। मन्त्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बृहस्पति धी (बुद्धि) द्वारा क्षीर=सृष्टि-तत्त्व सोम का पान करता है तो हंस नामक योगी छन्द=सूक्ष्म प्राण-शक्ति द्वारा पान करता है। इस दृष्टि से मन्त्रों (यजु० १९।७३, ७४) का अर्थ निम्न प्रकार हो सकता है।

(आंगिरसः) प्रबल प्राणशक्ति-सम्पन्न बृहस्पति क्रुङ् ध्वनि द्वारा सर्वत्र अभिव्याप्त जल-तत्त्व में से बुद्धि बल से क्षीर रूपी सारतत्त्व को खैंच लेता है। और (अन्धसः) सोम रूप अन्न से उत्पन्न हुए शुक्र को जो कि इन्द्र और इन्द्रियों का एक विशिष्ट पेय है तथा जो सत्य, अमृत तथा मधुर है, इसे ऋतशक्ति से प्राप्त करता है।

यह मन्त्रों का सामान्य अर्थ है। अन्धस् पद प्रायः सोम रूप अन्न के लिए आता है। यह सोमान्न द्युलोक का रस है। (दिवः पीयूषं, दिवः कविः) जो कि सूर्यरश्मियों, चंद्र-रश्मियों तथा अन्तरिक्षस्थ आपस्तत्त्व द्वारा पृथ्वी पर आता है और औषधि-वनस्पतियों को परिपुष्ट करता है[3]। इस भौतिक अन्न के भक्षण से यह सोमतत्त्व रस, रक्त आदि रूप में परिणत होता हुआ अन्त में शुक्र (वीर्य) तथा ओज रूप को धारण करता है यही अन्तिम शुक्र रूप तत्त्व जो कि ऊपर मन्त्र में आता है, वेद के शब्दों में क्षीर है। क्षीरपद क्षरणशील 'क्षर्' धातु से निष्पन्न होता है। अन्नादि से रस रूप में क्षरित होता अर्थात् निचुड़ता है अथवा द्युलोक से यह क्षरित होता है अतः इसे क्षीर कहा जाता है। चरक में कहा है **'ओजः सोमात्मकं स्निग्धं'** अर्थात् वीर्य से समुत्पन्न ओज सोम है। इन्द्रिय[4]—द्रव, मस्तिक[5] द्रव, (Cerebro-spinal fluid) ये सब द्रव सोम रूप हैं, ये ही मनुष्य में सामान्य चेतना व दिव्य चेतना के जनक हैं। अन्न से रस, रक्त आदि क्रमिक रूप से परिणत शुक्र को तो सामान्य व्यक्ति भी किसी अंश में धी—

---

१. अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत् क्रुङ् आंगिरसो धिया। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु।
२. सोममद्भ्यो व्यपिबत् छन्दसा हंसः शुचिषत्। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं०

यजु० १९।७३,७४।

३. पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः—श्रीमद्भगवद्गीता
४. आत्सोम इन्द्रियो रसः—ऋग्वेद
५. सोमो राजा मस्तिष्कः—अथर्ववेद

बुद्धि द्वारा पान करते ही हैं। पर आंगिरस बृहस्पति क्रुङ् ध्वनि के द्वारा सीधा द्युलोकस्थ व अन्तरिक्षस्थ आपस्तत्त्व से लेता है। मन्त्र में भी कहा है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदु र्नतस्याश्नाति पार्थिवः॥ अथर्व० १४।१।३

अर्थात् साधारण जन औषधियां घोटते पीसते और पान कर यह समझते हैं कि हमने सोमपान कर लिया, परन्तु ब्रह्मवेत्ता जिस सोम को जानते व प्राप्त करते हैं उसका पार्थिव भोगों में रमने वाला व्यक्ति भक्षण नहीं कर सकता।

ब्रह्मवेत्ता लोग जिस सोम का पान करते हैं वह दिव्य सोम है, द्युलोक का अमृततत्त्व है। इस सोम रूपी अमृत का पान बृहस्पति बुद्धि द्वारा करता है और इसमें क्रुङ् ध्वनि (क्रौञ्च-साम) सहायक होती है। जिस प्रकार वीणा व सितार आदि की तारें झंकृत होकर मधुर ध्वनि को उत्पन्न कर मानव की मन व बुद्धि पर प्रभाव डालती हैं उसी प्रकार तदनुकृति में मुख से क्रुङ् ध्वनि मस्तिष्कस्थ वीणा की तारों को झंकृत करती रहती है। इसमें मस्तिष्क की नस-नाड़ियां सक्रिय व गतिशील रहती हैं। बुद्धि में प्रखरता आती है। विद्या, ब्रह्मवर्चस्, तेज आदि मनुष्य में प्रादुर्भूत होते हैं। इसी दृष्टि से हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों ने विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के हाथ में वीणा पकड़ायी है।

क्रौञ्च साम और बृहस्पति

वैदिक युग में राग-रागिणी शब्दों के स्थान पर 'साम' शब्द का प्रयोग होता था। भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न शक्तियों के उद्भावन, रोग-निवारण तथा शत्रु-विनाश आदि के लिए नाना प्रकार के सामों का गान किया जाता था। इन सब सामों का वर्णन सामवेदीय ब्राह्मण ग्रंथों में उपलब्ध होता है। क्रौञ्च साम बृहस्पति का साम है। क्रौञ्च शब्द अनुकृति जन्म (Ornomatopoetic) है। अमरकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी ने लिखा है—क्रुञ्चति इति क्रुङ्। पूर्वदेशीय सामान्य सारस 'क्रों क्रां' की ध्वनि करता है। अतः इसी ध्वनि के आधार पर पक्षी का क्रौञ्च नाम पड़ा और क्रौञ्च साम भी इसी ध्वनि के आधार पर है। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १।१६।२।१२[1] तथा १।१२।२।६[2] में आता है कि 'बृहस्पति ने क्रौञ्च साम का वरण किया और इस साम-गान से ब्रह्मवर्चस्वी बना। इसी भांति जो व्यक्ति ब्रह्मवर्चस् की कामनावाला हो वह इस क्रौञ्च नामक वाक् से सामगान करे। क्योंकि यह वाक् बृहस्पति-सम्बन्धी है। बृहस्पति

---

१. अथ बृहस्पतिमब्रवीत् त्वमनुवृणीष्वेतिसोऽब्रवीत् क्रौञ्चं साम्नो वृणे ब्रह्मवर्चसमिति स य एतद् गायत् ब्रह्मवर्चस्येव सोऽसत्॥

२. अथ या क्रौञ्चा सा बार्हस्पत्या। स यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात् स तयोद्गायेत् तद् ब्रह्म वै बृहस्पतिः। तद् वै ब्रह्मवर्चसमृध्नोति। तथा ह ब्रह्मवर्चसी भवति॥

ही ब्रह्म है।' तैत्तिरीय संहिता ५।५।१२।१ में आता है कि 'वाचे क्रौञ्चः' अर्थात् क्रौञ्च पक्षी बृहस्पति सम्बन्धी वाक् के लिए होता है। अब फिर प्रश्न होता है कि क्रौञ्च पक्षी की ध्वनि में क्या विशेषता है कि जिससे मनुष्य उसकी अनुकृति करके अपने अन्दर ब्रह्मवर्चस् की उत्पत्ति व वृद्धि कर सकता है ? यह विषय ध्वनिशास्त्र व सामगान से सम्बन्ध रखता है। किस प्रकार की ध्वनि व नाद से मनुष्य पर क्या प्रभाव पड़ता है यह एक परीक्षणीय सूक्ष्म विषय है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में आता है कि **"गावो रम्भन्ति गंधारं क्रौञ्चाश्चैव तु मध्यमम्"** या०शि० १।८ अर्थात् गौएं गान्धार स्वर में रम्भाती हैं और क्रौञ्च पक्षी मध्यम स्वर में नाद करते हैं। यही बात नारदीय शिक्षा में **'क्रौञ्चो नदति मध्यमम्'** शब्दों में कही गई है। मध्यम स्वर का क्या महत्त्व है, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि 'मध्ये नाभिदेशे भवः मध्यमः' (शब्दकल्पद्रुम)।

नारदीय शिक्षा में आता है कि—

वायुः समुत्थितो नाभेरूरो हृदि समाहतः।
नाभिम्प्राप्तो महानादं मध्यत्वं समश्नुते ॥

अर्थात् नाभि से उत्थित वायु छाती में विद्यमान हृदय पर प्रहार करती है। तदनन्तर नाभि की ओर से गति करता हुआ वायु से उत्पन्न यह नाद मध्यम (म) स्वर के रूप में प्रकट होता है। आगे कहा कि—

मध्यमो मध्यमस्थानात् शरीरस्योपजायते।
नाभिमूलाच्च गंभीरः किंचित्तारः स्वभावतः ॥ (शब्दकल्पद्रुम)

अर्थात् यह मध्यम स्वर शरीर के मध्य स्थान (नाभि प्रदेश) से उत्पन्न होता है। यह स्वभाव से गंभीर तथा कुछ तार अर्थात् ऊँचा होता है। मध्यम के इस तार स्वरूप की अथर्व० ६।६।(५)२ में निम्न शब्दों से कहा है कि 'बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति' अर्थात् बृहस्पति ऊर्ज वाली वाक् से गान किया करता है। प्राचीन शास्त्रकारों व ध्वनि-शास्त्रवेत्ताओं ने क्रौञ्च पक्षी की ध्वनि को इसी रूप में चित्रित किया है। अतः बृहस्पति का स्वर भी ऐसा ही होना चाहिए। वेदों के पठन-पाठन में भी उच्च, गंभीर तथा तार-स्वर होना चाहिए। इस मध्यम स्वर (म) को विप्र-वर्ण माना गया है। अर्थात् यह ब्राह्मण का स्वर है। जो व्यक्ति अपने में ब्राह्मणत्व व ब्रह्मवर्चस् तेज उत्पन्न करना चाहता है उसे मध्यम स्वर में क्रुङ् ध्वनि का आश्रय लेना चाहिए। इस क्रुङ् ध्वनि का तो बड़ा महत्त्व है, यह आदिकवि वाल्मीकि की काव्यधारा का स्रोत है। वाल्मीकि रामायण (१।२।८-१५) में आता है कि एक दिन जब आदि कवि वाल्मीकि-ऋषि तमसा नदी के तीर पर पहुंचे तो वहां उन्होंने रतिकर्म में व्यापृत एक क्रौञ्च युगल को देखा। उसी समय एक शिकारी ने नर पक्षी को मार दिया। तब मादा पक्षी पति-वियोग में क्रन्दन करने लगी। इसी मादा के क्रन्दन (क्रों, क्रां, क्रुङ्) का

महर्षि के मस्तिष्क-तन्त्रियों पर वह प्रभाव हुआ कि काव्यधारा फूट पड़ी। उनके कण्ठ से सरस्वती देवी निम्न श्लोक में प्रवाहित हुई।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

क्रौञ्च निनाद का यह प्रभाव हुआ कि भारतवर्ष में आदिकाव्य-धारा का प्रवाह फूट पड़ा।

क्रौञ्च सामगान की प्रक्रिया

अब विचारणीय यह है कि इस क्रौञ्च साम के गान की प्रक्रिया क्या हो? इस सम्बन्ध में शास्त्रों के आधार पर कुछ संकेत किये देते हैं—

ताण्ड्य महाब्राह्मण में आता है—

वाग्वै क्रौञ्चं वाग् द्वादशाहो वाच्येव तद्वाचास्तुवते यज्ञस्य प्रभूत्यै।
ता० ब्रा० ११।१०।१६

एक वाक् तो ऋुङ् व क्रौञ्च वाक् है जो कि मुख से उच्चरित होती है। दूसरी द्वादशाहनाम की वाक् है। यह मस्तिष्क की वाक् है। ऋुङ् ध्वनि (वाक्) को मस्तिष्क की वाक् से मिलाना होता है जिससे मस्तिष्क की दिव्यवाक् उद्बुद्ध हो और अध्यात्म यज्ञ की प्रभूति (ऐश्वर्य-सम्पन्नता) होती है। इसको सामान्य भाषा में इस प्रकार समझा जा सकता है। जब क्रौञ्च साम का अभ्यास करने बैठे तो मुख से ऋुङ् ध्वनि हो रही हो तानपूरा, सितार व वीणा आदि उसमें सहायक के तौर पर हो और हमारा मन मस्तिष्क में केन्द्रित हो। मस्तिष्क में चेतना द्वारा केन्द्रित होने के पश्चात् चेतना-प्रवाह द्युलोक की ओर अग्रसर होवे तो इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से मनुष्य में ब्रह्मवर्चस् तेज उद्भूत हो जाता है। इसी तथ्य को निम्न वेदमन्त्र में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—

दिवि मूर्धानं दधिषे स्वार्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्। ऋ० १०।८।६

हे अग्नि! तू मस्तिष्क को द्युलोक में रखता है और हव्य को वहन करने वाली जिह्वा को (स्वर्षा)=ऋुङ् स्वर वाली कर देता है।

जिस व्यक्ति में यह अग्नि जागृत है कि मुझे ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति करनी है वही व्यक्ति सफल हो सकता है। इसीलिए मन्त्र में अग्नि को संबोधित किया है। यह अग्नि संकल्पाग्नि है। यही तथ्य निम्न मंत्र से भी उजागर हो रहा है। यथा **'दिवस्पृष्ठमधितिष्ठन्ति चेतसा'** ऋ० ९।८३।२। अर्थात् चित्त के द्वारा द्युलोक के पृष्ठ पर अधिष्ठित होते हैं। यह स्थिति तभी संभव है जब की मन अत्यन्त एकाग्र हो, तानपूरा आदि वाद्य की ध्वनि तथा तत्सम्बद्ध ऋुङ् ध्वनि के अतिरिक्त अन्य कोई भी बाह्य ध्वनि

कान में न पड़े। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने पर साधक में ब्रह्मतेज का उदय हो जाता है।

चेतना-प्रवाह का द्युलोक की ओर ऊर्ध्वारोहण इसलिए है कि दिव्यज्ञान व दिव्यशक्ति आदि का मनुष्य में अवतरण द्युलोक से ही होता है। द्वादशाह पद भी इसी तथ्य को प्रकट कर रहा है। 'द्वादशाह' पद के स्पष्टीकरण के लिए संक्षिप्त टिप्पणी यहां दिये देते हैं।

यह 'द्वादशाह' कर्मकाण्ड सम्बन्धी एक पारिभाषिक शब्द है। ब्राह्मण ग्रंथों में इसे देवों का निवास-स्थान द्युलोक बताया गया है। यथा **'ओको वै देवानां द्वादशाहो यथा वै मनुष्या इमं लोकमाविष्टाएवं देवता द्वादशाहमाविष्टा···गृहा वै देवानां द्वादशाहः**। ता० ब्रा० १०।५।१५,१६

अर्थात् द्वादशाह देवों का गृह है। जिस प्रकार यह पृथ्वीलोक मनुष्यों का निवास स्थान है, उसी प्रकार द्वादशाह देवों की निवास-भूमि है। ब्रह्माण्ड में यह द्वादशाह द्युलोक है तो पिण्ड में यह हमारा मस्तिष्क भी द्वादशाह कहा गया है। क्यों कि सब देवता भी अपने अंश रूप में यहां मस्तिष्क में भी विद्यमान हैं। **द्वादशाह-द्वादश अहन् द्युलोकस्थज्योति तथा मस्तिष्क ज्योति** के १२ विभागों की ओर संकेत है। अहन् पद ज्योति-विभाग का सूचक है। द्वादशाहादित्या—इसी भांति बुद्धि-सूर्य के भी १२ विभाग किये जाते हैं। द्युलोक की वाक् को भी द्वादशाह कहते हैं। तै० सं० ७।३।१।३।। में कहा है कि 'वाग् वा एषा वितता यद् द्वादशाहः' अर्थात् इस द्युलोक रूपी द्वादशाह में क्रुङ् ध्वनि का मेल होता है जिससे कि मस्तिष्क का वाक् सक्रिय होकर दिव्य ज्ञान का आविर्भाव होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस द्वादशाह अहन् को एष्य (एषणीयम्-सायणाचार्य) कहा है। एष्य का अर्थ प्रापणीय है। अर्थात् क्योंकि यह स्वर्ग है। सभी व्यक्ति स्वर्ग जाना चाहते हैं। इस स्वर्ग-प्राप्ति में जहां अन्य साधन हैं वहां क्रुङ् ध्वनि भी एक साधन है। कहा भी है **क्रुङ्ष्यमहरविन्दत् एष्यमिववैषष्ठमहरेवैतेन विन्दन्ति** ता० ब्रा० १३।६।११ यहां हम एक प्रासंगिक समस्या का समाधान करना उपयुक्त समझते हैं। वह यह कि ताण्ड्यब्राह्मण से क्रौञ्च साम षष्ठ अहन् (द्यु-मस्तिष्क) से सम्बन्ध रखता है, ऐसा निर्देश किया है, और जै०ब्रा० ३।३२ में यह क्रौञ्च साम द्वितीय अहन् में बताया है। प्रश्न यह है कि कौनसा कथन ठीक है। हमारे विचार में दोनों ही ठीक हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में पृथिवी से लेकर द्युलोक तक तथा पिण्ड में नीचे जांघ से लेकर सिर तक ६ विभाग चिति—(अग्नि-चयन) की दृष्टि से किये हैं पर जैमिनीय ब्राह्मण में बृहत् और रथन्तर की दृष्टि से ही दो विभाग किये हैं। इसी प्रकार मानव-पिण्ड में भी समझना चाहिए। अतः मध्यम स्वर में गठित क्रौञ्च साम के गान में मस्तिष्क की वाक् का उद्बोधन होता है जिससे कि दिव्य शक्तियां व दिव्य-ज्ञान प्रस्फुटित होता है। बृहस्पति बनने के इच्छुक व्यक्ति को यह क्रौञ्च साम अत्यन्त सहायक है।

ता० ब्रा० १३।६।१७ में क्रौञ्च साम को रज्जु भी कहा है। (रज्जुः क्रौञ्चम्) रज्जु कहने का प्रयोजन यह है कि देवों द्वारा प्रदत्त गौ (प्रत्ता गौ) को यह साम बांधे रखता है। प्रत्ता गौ ऐन्द्रियिक दिव्य शक्तियां हैं जो कि यह आवश्यक नहीं कि उत्पन्न होकर सदा विद्यमान रहें। यह क्रौञ्च साम उनको मस्तिष्क में बांधे रखता है। क्रौञ्च साम जिन ऋचाओं पर गाया जाता है वे तृच रूप में कई हैं। विस्तार-भय से उन्हें यहां दर्शाना उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार यहां संक्षेप में क्रौञ्च पक्षी की क्रुङ् ध्वनि की अनुकृति में निर्मित क्रौञ्च साम से ब्रह्मवर्चस् तेज का प्रादुर्भाव तथा स्वर्ग-प्राप्ति होती है, यह दर्शाया गया है।

द्वादश अध्याय

बृहस्पति और देवापि

बृहस्पति ऊर्ध्व दिशा का अधिपति है। ऊर्ध्व दिशा से ही पृथिवी पर वृष्टि होती है, अतः बृहस्पति से भी वृष्टि का सम्बन्ध है, ऐसी विद्वानों की मान्यता है। बृहस्पति की सहायता से होने वाली ऐसी ही वृष्टि का वर्णन ऋ० १०।९८ सूक्त में भी हुआ है। वहाँ ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि द्वारा अपने भाई शन्तनु के राज्य में वृष्टि कराने का वर्णन हुआ है। यहाँ ऐतिहासिक लोग देवापि और शन्तनु का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। इसका संकेत निरुक्त[1] बृहद् देवता[2] महाभारत[3] तथा पुराणों[4] में मिलता है। यहाँ हम निरुक्त २. १० में प्रतिपादित इतिहास को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

निरुक्त के अनुसार कुरु-वंश में उत्पन्न ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि और शन्तनु ये दो भाई थे। इनमें देवापि बड़े तथा शन्तनु छोटे थे। यह प्राचीन मर्यादा है कि बड़ा भाई राजगद्दी का अधिकारी होता है, इसका उल्लङ्घन करके शन्तनु ने अपना अभिषेक कराया और देवापि वन में तप करने चला गया। इस मर्यादा के उल्लङ्घन के कारण शन्तनु के राज्य में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं हुई। ब्राह्मणों ने उससे कहा कि तूने मर्यादा का उल्लङ्घन कर अधर्म का आचरण किया है, इसलिये वर्षा नहीं होती। इस पर पश्चात्ताप कर उसने देवापि को राज्य देना चाहा। देवापि ने राज्य तो स्वीकार न किया पर पुरोहित बन वृष्टि-यज्ञ कराने को उद्यत हो गया। इससे राज्य में वर्षा हो गई। ऋ० १०।९८ सूक्त के आधार पर निरुक्त प्रतिपादित कथानक का यह संक्षिप्त सार है।

हमारी दृष्टि में यह मानवीय अनित्य इतिहास नहीं है। वैदिक साहित्य में प्राकृतिक घटनाओं, मानवीय भावों, गुण-धर्मों आदि को मानवीय चोला पहना कर (Personify) आख्यान शैली से वर्णन करना उनके गुह्य रहस्यों को समझाने के लिये होता है। एतदर्थ निर्मित आख्यानों में भिन्नता होना स्वाभाविक है। अतः इस प्रकार के आख्यानों में मानवीय इतिहास ढूँढना उपयुक्त नहीं है। और कथानकों में आये नामों के आधार पर निरुक्त व महाभारत आदि ग्रन्थों की पूर्वापरता का निर्धारण

---

१. २. १०

२. ७. १४८

३. ५ ५०४४=१४९, १५ तथा १-३७५१ = ९४, ९२, ९, २२८५ = ४०.१

४. अग्नि पु० ३४, ब्रह्म० पु० १३, ११४, ११८, मत्स्य पु० १.३९
भागवत पु० ९.२२, १२.१३, वायु० २३४, २३७ २.३७, २३० विष्णु पु०

करना भी समीचीन नहीं है जैसा कि राजवाड़े ने अपनी निरुक्त-भूमिका में प्रदर्शित किया है। मि० जीग[1] का मत है कि प्रतीप के पुत्र देवापि तथा ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि की कथाओं का परस्पर मिश्रण कर दिया गया है अतः उलझन पैदा हो गई है। जीग का यह मत भी उपर्युक्त दृष्टि में समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि अध्यात्म, अधिदैव आदि क्षेत्रों के गुह्य रहस्यों को समझाने के लिये जो आख्यान-प्रणाली ऋषियों द्वारा अपनाई गई है, उसमें गुण-धर्मों व शक्तियों को उद्देश्य कर निर्मित पात्रों के नामकरण में भिन्नता होनी स्वाभाविक है। इससे गुह्य रहस्य के प्रकाशन में बाधा न आकर कुछ स्पष्टीकरण ही होता है। यह हम आगे दिखाने का प्रयत्न करेंगे।

अब हम सर्वप्रथम कथानक के पात्रों पर विचार करते हैं।

ऋष्टिषेण—

निरुक्त के प्राचीन टीकाकार श्री स्कन्दस्वामी आर्ष्टिषेण पद की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दर्शाते हैं—

"ऋष्टिः रेषणा हिंसा च कामादीनाम् अन्तश्चरः शत्रूणां सेना समुदायः स चेन्द्रियाणाम्। एतदुक्तं भवति-विषयाभिलाषवैमुख्यात् कामादिचित्तमलरेषणप्रधाना सेना इन्द्रियग्रामो यस्य। इषिता प्रेषिता गता पराङ्मुखीभूता प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियसेना यस्य।"

इसका भाव यह है कि ऋष्टिषेण वह आत्म-रूप है जिसकी इन्द्रियसेना आन्तरिक शत्रुओं अर्थात् कामवासना आदि मलों पर विजय प्राप्त कर चुकी है। प्रत्याहारादि साधनों द्वारा जिसका चित्त विषय-वैतृष्ण्य हो गया है, जिसे अब वासनाएं नहीं सतातीं यह अवस्था ऋष्टिषेण की है। इस प्रकार स्कन्दस्वामी की दृष्टि में भी ऋष्टिषेण कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। ऋष्टिषेण की निम्न व्युत्पत्तियां की जा सकती हैं।

(ऋष्टिः शस्त्रविशेषः विद्युन्मयः)
ऋष्टयः सेनायां यस्य सः। ऋष्टिमती सेना यस्य सः।
ऋष्टिभिर्युक्ता सेना यस्य सः। इषिता प्रेषिता सेना यस्य सः।

ऋष्टि बाह्य भौतिक जगत् में विद्युन्निर्मित एक शस्त्र विशेष है जो कि मरुत् नामक सैनिकों के पास होता है। आधिदैविक क्षेत्र में बादलों को छिन्न-भिन्न करने वाली विद्युत् शक्ति ऋष्टि है। अध्यात्म क्षेत्र में मनुष्य की इन्द्रियों में समुत्पन्न कामादि वासनाओं को भस्मसात् करने वाली तेज व ओज ऋष्टि है। दूसरे शब्द में इस तेज को 'अर्क' भी कहा जा सकता है। इस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में ऋष्टिषेण मनुष्य की वह अवस्था है जिसके काम-क्रोध आदि मल धुल चुके हैं, अन्य सभी आसुरी शक्तियां विनष्ट हो चुकी हैं अथवा विनष्ट की जा रही हैं। मनुष्य की इस ऋष्टिषेण अवस्था से आगे दो और अवस्थाएं पैदा होती हैं और वे हैं देवापि और शन्तनु। देवापि

---

१. वैदिक कोष (डा० सूर्यकान्त)

अवस्था में मनुष्य देवों की प्राप्ति की ओर झुकता है, दिव्य शक्तियों की प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्न करता है। और दूसरी शन्तनु अवस्था में मनुष्य शारीरिक कल्याण, शान्ति, नीरोगता आदि के प्रयत्न में लगा रहता है। अतः इन दोनों अवस्थाओं में शरीर रूपी साम्राज्य पर आधिपत्य शन्तनु का ही रहता है। और देवापि दिव्य भावों व शरीर से ऊपर दिव्य-स्तरों में ही विचरण करता है। अतः देवापि स्वभावतः ही शरीर के साम्राज्य को छोड़ बैठा है। अब हम देवापि और शन्तनु पर विचार करते हैं—

देवापि

नि० २. ११ में देवापि की निम्न व्युत्पत्ति दी गई है—

"देवानामाप्त्या स्तुत्या प्रदानेन च"

अर्थात् देवों की प्राप्ति से, देवों की स्तुति से अथवा देवों के प्रति आत्मदान से मनुष्य की देवापि अवस्था पैदा होती है। अतः सर्वप्रथम देवों की स्तुति करनी चाहिये और अपने को देवों के प्रति समर्पित कर देना चाहिये। और क्योंकि यह देवापि अवस्था ऋष्टिषेण अवस्था के अनन्तर पैदा होती है इसलिये देवापि को ऋष्टिषेण का पुत्र कह दिया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब इन्द्रियों में से विषयाभिलाषा समाप्त हो जाती है, काम, क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश हो जाता है, तब ही व्यक्ति देवों की स्तुति में प्रवृत्त होता है, इस अवस्था से पूर्व देवों की कोई भी स्तुति देवों की प्राप्ति में सफल नहीं होती, यह निश्चित रूप से समझना चाहिये। वस्तुतः मनुष्य को देवों की स्तुति करनी ही नहीं आती। स्तुति का क्या रूप है, क्या प्रकार है, इत्यादि बातों को उसे समझना चाहिये। स्तुति के स्वरूप व प्रक्रिया को समझने के लिये इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में निर्देश हुआ है। देवापि सर्वप्रथम बृहस्पति के पास पहुंचता है और प्रार्थना करता है—

**"बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद् वसुभिर्मरुत्वान्त्स पर्जन्यं शन्तनवे वृषाय" ॥**

ऋ० १०-९८-१

हे बृहस्पते ! तू मुझे देवताओं को प्राप्त करा। मुझे यह ज्ञान नहीं कि मित्र कौन है, वरुण कौन है, पूषा कौन है ? आदित्यों व वसुओं वाले मरुत्वान् इन्द्र का नाम सुनते हैं पर मुझे उनका भी ज्ञान नहीं, मेरे तो तुम ही मित्र हो, वरुण हो, पूषा हो तथा इन्द्र हो।

उपर्युक्त मन्त्र की संरचना से यह इङ्गित होता है कि देवापि पूर्ण रूप से देवापि नहीं बना है, देव उसे अभी प्राप्त नहीं हुए हैं, अतः देवापि की निम्न व्युत्पत्ति भी ध्यान में रखनी चाहिए—यथा **"देवान् आप्तुमिष्टे, देवानां प्राप्त्यै प्रयतते वा"**। देवापि की यह प्रारम्भिक अवस्था होगी। क्योंकि बृहस्पति देवों का गुरु है, देवों का ब्रह्मा है, उसकी कृपा से ही सब देवों का ज्ञान होना स्वाभाविक है। इसीलिये देवापि ने बृहस्पति की स्तुति की है। अब प्रश्न पैदा होता है कि देवापि को जब मित्र, वरुण आदि

देवताओं का ज्ञान ही नहीं तो बृहस्पति का कैसे ज्ञान हो गया ? क्योंकि बृहस्पति भी तो देवता है । इस प्रश्न का समाधान अगले मन्त्र से हो जाता है । बृहस्पति देवापि से कहता है कि हे देवापि[1] तेरे द्वारा प्रेषित एक देवदूत (अग्नि) मेरे पास आया था, वह बड़ा गतिशील तथा सब देवों का जानकार था, उसी के द्वारा उद्‌बोधन से मैं तेरे समक्ष उपस्थित हुआ हूं, तू प्रतीचीन बन और मेरे प्रति आवर्तन कर, मैं सर्वप्रथम तेरी वाणी को द्युमती अर्थात् देदीप्यमान व तेजस्वी बना देता हूं" इस प्रकार वह बृहस्पति उसके मुख (आसन्=आसनि) में द्युमती वाणी पैदा कर देता है । इस द्युमती वाक् में ही सामर्थ्य होती है कि उसकी स्तुति से देवता उसके पास खिंचे चले आते हैं । जब तक द्युमती वाक् पैदा नहीं होती कितने ही मन्त्र-पाठ किये जायें, कितनी ही स्तुति की जाये देवों को वह प्राप्त ही नहीं होती, उसमें वह शक्ति व सामर्थ्य ही नहीं होती । यहां एक प्रासङ्गिक प्रश्न यह भी पैदा होता है कि देवापि यदि मनुष्य है उसे यह कैसे ज्ञात हुआ कि मुझे देवों की प्राप्ति के लिए, अथवा देव मेरी स्तुति को सुन लें—इसके लिये बृहस्पति की स्तुति करनी चाहिये । इसका समाधान यह है कि जब बृहस्पति का ज्ञान उसे हो गया तो स्वभावतः बृहस्पति से ही अन्य सब देवों का स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी अन्य सब बातें उसे ज्ञात हो जायेंगी । दूसरे जब मनुष्य अध्यात्म मार्ग में चलना प्रारम्भ करता है, तो उसमें अग्नि प्रज्वलित होती है । इसी अग्नि के प्रताप से मनुष्य में ज्योति व प्रकाश का उद्‌बोधन होता है, वह ज्योति व प्रकाश ही बृहस्पतितत्त्व का उद्‌बोधक साधन है । ज्योति, प्रकाश, ज्ञान-विज्ञान ही तो बृहस्पति तत्त्व है । इस बृहस्पति तत्त्व के आविर्भूत होने पर मनुष्य की वाक् शक्ति में दिव्यता आ जाती है । इस दिव्यवाणी से स्तुति करने पर मित्र, वरुण आदि देवों का यथार्थ स्वरूप शनैः-शनैः उसे स्पष्ट होता जाता है । इस प्रकार बृहस्पति द्वारा द्युमती वाक् के दिये जाने के अनन्तर देवापि इस योग्य होता है कि वह देवों की वास्तविक स्तुति कर सके और देवों की अपने प्रति सुमति को जान सके (देवसुमतिं चिकित्वान्) इस अवस्था में वह जो भी कामना करता है वह पूरी होती है ।

स्कन्द व दुर्ग आदि प्राचीन आचार्य तथा आधुनिक विद्वान् इस सूक्त में सामान्य भौतिक जल की वृष्टि मानकर देवापि व शन्तनु आदि को जो भौतिक तत्त्वों की श्रेणी में परिगणित करते हैं वह चिन्त्य हैं । देवापि को उन्होंने विद्युत् माना है । पर प्रश्न यह है कि ऋ० १०।९८।८ मन्त्र में पठित देवापि के विशेषण 'मनुष्य' पद की संगति कैसे लगेगी ? मर्त्य व मर्य पद की तरह इसे भी मरणधर्मा अर्थ में घटाना क्या युक्ति-संगत होगा ? साथ में यह भी प्रश्न उभर आता है कि वेदों के शब्द यौगिक ही हैं या योगरूढि भी हैं । इस सम्बन्ध में यहां कुछ कथन न कर हमारा यही कहना है कि इस देवापि के प्रसङ्ग में भौतिक जल की वृष्टि में इस सूक्त का तात्पर्यार्थ विचारणीय हो जाता है । और देवापि का अर्थ बाह्यविद्युत् न करके उसे मनुष्य में ही माना जाये । यह अधिक संगत प्रतीत होता है ।

---

१. आ देवो दूतो अजिरश्चिकित्वान् त्वद् देवापे अभिमामगच्छत् । ऋ० १०।९८।२

शन्तनु—

देवापि और शन्तनु ये दोनों आन्तरिक भाव हैं। देवापि दिव्यता चाहता है, देवों का शरीर में अवतरण व उनका प्रादुर्भाव चाहता है, पर शन्तनु शान्ति चाहता है, उसकी यह कामना है कि काम, क्रोध आदि विकार विनष्ट हों, शारीरिक व मानसिक आधिव्याधि दूर हो जाएं और शरीर सर्वप्रकार से नीरोग व स्वस्थ हो। दिव्यता किसने देखी ? प्रायः मनुष्य शन्तनु के विचार वाले ही होते हैं। शन्तनु-सम्बन्धी वाले भाव ही हठात् मनुष्य पर हावी हो जाते हैं। एक प्रकार से इस शरीर पर शन्तनु का ही राज्य हो जाता है। अतः जो व्यक्ति विषय-वासना आदि से दूर रहकर केवल शरीर में शान्ति, कल्याण, शुद्धि, आरोग्यता व बलप्राप्ति आदि की ओर ही अग्रसर होते हैं, देवत्वप्राप्ति की ओर ध्यान नहीं देते, वे शन्तनु कोटि में आते हैं। इसी दृष्टि से हमें निम्न व्युत्पत्तियों पर विचार करना चाहिए।

"शन्तनोस्त्विति वा शमस्मै तन्वां अस्त्विति वा"—निरुक्त,

देवापि और शन्तनु के साहचर्य व भ्रातृत्व की इस दृष्टि से भी व्याख्या कर सकते हैं कि शन्तनु—तनु अर्थात् शरीर में 'शम्' शान्ति व कल्याण की कामना करता है। शान्ति व कल्याण इसलिए नहीं हो पाता कि विषय-वासना रूपी अग्नि भभक रही है। यह तभी सम्भव है जबकि दिव्यवृष्टि होकर यह सब शान्त हो जावे। दिव्य-वृष्टि उसी समय होगी जबकि इस शरीर-यज्ञ का कर्ता-धर्ता व ब्रह्मा देवापि होगा। देवापि अर्थात् देवत्वप्राप्ति प्रमुख बन जाएगी। देवापि द्वारा इस शरीर में दिव्यवृष्टि होगी और ये सब वासनारूपी अग्नियां शान्त हो जाएगी और यह शन्तनुरूप चरितार्थ होगा।

इस प्रकार हमने ऋष्टिषेण, देवापि तथा शन्तनु पर संक्षिप्त विचार किया। इनमें ऋष्टिषेण मनुष्य की पूर्वावस्था है और देवापि तथा शन्तनु ये दोनों उत्तरवर्ती दो अवस्थाओं के सूचक हैं। अतः कथानकप्रिय ऋषियों के शब्दों मे ऋष्टिषेण पिता हैं और देवापि तथा शन्तनु उसके पुत्र हैं। महाभारतकार ने देवापि तथा शन्तनु का पिता प्रतीप को माना है। इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि महाभारतकार ने मन्त्रों में प्रयुक्त प्रति उपसर्ग को आधार मानकर 'प्रतीप' शब्द की कल्पना की है। यह एक सार्थक कल्पना है—यथा—

१. बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि—ऋ० १०।९८।१

२. प्रतीचीनः प्रति मामावबृत्स्व—ऋ० १०।९८।२

'प्रतीप' का अर्थ है 'प्रत्यभिमुखा आपो यस्य' अर्थात् आपः=जलतत्त्व=अपस्तत्त्व जिसके अभिमुख हुआ है। आगे देवापि की प्रार्थना पर वह बरसता है। इस दृष्टि से प्रतीप अवस्था देवापि से पूर्व की अवस्था है। यहाँ पर हम सक्षेप में 'प्रति' शब्द के सम्बन्ध में कुछ विवेचन करत हैं। प्रति उपसर्ग के प्रतिकूल व अभिमुख ये दो अर्थ किए जाते हैं। प्रतिकूल तो स्पष्ट ही है। पर जहाँ अभिमुख अर्थ किया

जाता है वहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह 'अभिमुख' अर्थ प्रतिकूलता को भी अपने गर्भ में लिये हुए है। प्रत्यगात्म पद का अभिमुखार्थ अपने पूर्ववर्ती प्रतिकूलता अर्थ को निगल गया है। इसका पूर्णार्थ होगा कि प्रकृति से पराङ्मुख होकर आत्मा की ओर अभिमुख होना। मनुष्य स्वभावतः प्रकृति की ओर अभिमुख होता है उसे आत्माभिमुख होने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इस अवस्था में आत्माभिमुखता की क्रिया प्रधान हो जाती है और प्रकृति से प्रतिकूलता गौण। इसी 'प्रति' उपसर्ग में परागति और आगति दोनों गतियाँ समाविष्ट हैं। एक की दृष्टि से परागति है तो दूसरे की दृष्टि से आगति है। सामान्य व्यवहार में दलबदलुओं की ये क्रियाएं हैं, ये दो स्थितियाँ हैं। प्रत्यगात्म पद में प्रति शब्द यह दर्शाता है कि पुरुष प्रकृति से विमुख हो चुका है। इसलिए प्रत्यगात्म पद में प्रतिकूलता अर्थ प्रच्छन्न रूप में निहित है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि प्रतिकूलता का परिणाम अभिमुखता है। इसी दृष्टि से हमें प्रतीप का अर्थ भी देखना चाहिए। देवापि जिन जलों को बरसाना चाहता है वे ऊर्ध्व में देवों द्वारा रोके हुए हैं।

"आपो देवेभि र्निवृता अतिष्ठन्" । ऋ० १०।६८।६

ऊर्ध्व में अभिव्याप्त आपस्तत्त्व जब ऊर्ध्व से विमुख होकर नीचे की ओर अभिमुख होता है तब वह अवस्था प्रतीप की अवस्था है। इस दृष्टि से महाभारतकार ने ऋष्टिषेण के स्थान पर प्रतीप को देवापि तथा शन्तनु का पिता माना है। अतः इस कथानक में महाभारत व निरुक्त में पिता भिन्न होने पर कोई विरोध नहीं है प्रत्युत कथानक का रहस्य ही स्पष्ट होता है।

आपस्तत्त्व वृष्टि तथा समुद्र

बृहस्पति का वृष्टि से सम्बन्ध है। "ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिः" सन्ध्या के इस मंत्र से भी यह स्पष्ट है। आर्ष्टिषेण देवापि के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

"स उत्तरस्मादधरं समुद्रमापो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि।
अस्मिन्त्समुद्रेअध्युत्तरस्मिन्नापो देवेभिर्निवृता अतिष्ठन्॥"

ऋ० १०।६८।५,६

देवापि ने ऊर्ध्व समुद्र से निचले समुद्र की ओर दिव्य जलों को वृष्ट्यभिमुख बनाया। ये दिव्यजल समुद्र में तथा उर्ध्व के समुद्र में देवों से घिरे हुए तथा रोके हुए होते हैं।

उपर्युक्त मन्त्रों में "दिव्या आपः" पद आते हैं। अर्थात् ये दिव्य जल हैं सामान्य भौतिक जल नहीं हैं जो कि अन्तरिक्ष में होते हैं। ये ही दिव्य जल मनुष्य में ब्रह्मवर्चस् तेज के रूप में परिणत होते हैं। कहा भी है—

"तेजश्च ह वै ब्रह्मवर्चसं चातपवर्ष्या आपः।" ऐ० ब्रा० ८।८

जब साधक तपस्या द्वारा अपने अन्तः गुहा को खूब परितप्त कर लेता है तभी वे 'वर्ष्या' बरसते हैं और बरसकर ब्रह्मवर्चस् तेज को धारण करते हैं। यह आपस्तत्त्व तथा उसकी वृष्टि इसी रूप में है जैसा कि सोम के लिए कहा गया है कि—

"सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः।"

अर्थात् जिस सोम को ब्रह्मवेत्ता पुरुष जानते हैं और प्राप्त करते हैं उसे पार्थिव प्राणी व वनस्पति आदि भक्षण नहीं कर सकते। वह दिव्य सोम है। इसी प्रकार ये भी दिव्य आपः हैं सामान्य भौतिक जल नहीं हैं। हमारी ये इन्द्रियां आपस्तत्त्व को माध्यम बनाकर अपने कार्य का निर्वाह करती हैं पर सामान्य अवस्था में इनमें विद्यमान 'आपः' दिव्य नहीं होते, साधना द्वारा ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा इन्हें दिव्य बनाया जाता है। इन्हीं दिव्य आपः में दिव्य शक्तियों के अंकुर प्रस्फुटित होते हैं। इन्हें ही शास्त्रों में अर्क भी कहा गया है। "आपो वा अर्कः श०प० १०।६।५।२" ये अर्क ऐन्द्रियिक किरणें हैं। ये दिव्य जल ही अर्क रूप में परिणत हो जाते हैं। इसी देवापि सूक्त में मन्त्र आता है कि—

"दिवो द्रप्सो मधुमां आ विवेश। आनो द्रप्सा मधुमन्तो विशन्तु॥"

अर्थात् द्यु लोक के ये मधुमय द्रप्स (Drops=बूंदें) हमारे अन्दर प्रवेश कर जायें। क्या ये बाह्यजलों के सूचक हैं? ये मधुमय द्रप्स ब्रह्म-बूंदें हैं। क्योंकि ब्रह्म ही मधु है। त्रिसुपर्ण में कहा भी गया है—

"ब्रह्ममेतु मां मधुमेतु मां ब्रह्ममेव मधुमेतु मां"

इन ब्रह्म-बूंदों की याचना ही देवापि शन्तनु के लिए कर रहा है।

गोपथ ब्राह्मण २।३९ में आता है कि—

आपो भृग्वङ्गिरो रूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरेते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥

ये आपः भृगु और अंगिरा रूप हैं स्वयं भृगु तथा अंगिरामय है। ये तीनों वेद इन्हीं भृगु और अंगिरा के अन्तः आश्रित हैं।

ब्रह्माण्ड व पिण्ड में रसों का परिपाक करने वाली भार्गवी शक्ति प्रारम्भ में स्वयं आपः रसों से उत्पन्न हुई थी। अंगों के रस (अङ्गानां रसः) रूप में जो तत्त्व शरीर में अभिव्याप्त है वह सब आपः ही है, अतः ये आपः ही दिव्य रूप को दिव्य शक्ति को धारण करते हैं।

उत्तर अधर दो समुद्र

श्री अरविन्द कहते हैं कि "वेद दो समुद्रों का वर्णन करता है, उपरले जल और निचले जल। ये समुद्र हैं, एक तो अवचेतन का जो कि अन्धकारमय है और अभिव्यक्ति रहित है और दूसरा अतिचेतन का जो कि प्रकाशमय है और नित्य अभिव्यक्त है, पर है मानव-मन से परे। (वेद-रहस्य पृष्ठ १३३)

"अतिचेतन का समुद्र निर्मलता की नदियों का मधुमय लहर का लक्ष्य है जैसे कि हृदय[1] के अन्दर का अवचेतन का समुद्र उनके उठने का स्थान है। इस प्रकार वेदों में समुद्र असीम शाश्वत शुद्ध चेतन ज्योति की सत्ता का प्रतीक है जो कि हृदयस्थ समुद्र में वृष्टि व धारा रूप में आकर प्रकाशित करता है, नीचे अवचेतन की अन्धकारमय निद्रा होती है, ऊपर होती है अतिचेतन की प्रकाशपूर्ण रहस्यमयता ये ही उपरले और निचले समुद्र हैं। —वेद रहस्य

इन्हीं उपर्युक्त दोनों प्रकार के समुद्रों का वर्णन देवापि तथा शन्तनु के प्रसंग में आया है। यथा—

स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि। ऋ० १०।९८।५

उत्तर समुद्र बृहस्पति सम्बन्धी अतिचेतन का समुद्र है। उस ऊर्ध्वस्थ समुद्र से मनुष्य के हृदयस्थ व मानस समुद्र में दिव्य जलों की वर्षा होती है। ऊर्ध्व का समुद्र+ बृहत् का समुद्र है। कहा भी है—

"अस्मात् समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह"

ऋ० १०।९८।१२

उस बृहत् नामक द्युलोक के समुद्र से जलों की भूमा हमारे लिए ले आ।

कवष ऐलूष को ब्राह्मणों ने भौतिक रेगिस्तान में नहीं फेंका था, वह रेगिस्तान तो आन्तरिक व सूक्ष्म रूप का था, जहां कि ज्ञान-विज्ञान के पिपासु उस कवष के पास सरस्वती धारा रूप में पहुंची थी, जो कि चर्म-चक्षुओं से नहीं देखी जा सकती थी। इस तथ्य को देखकर ब्राह्मणों ने कहा था कि देवता इसे जानते हैं। अतः इसे अपने दल में सम्मिलित कर लेते हैं। इसी भांति यहां वृष्टि की मधुमय बूंदें भक्त के हृदय-प्रदेश में प्रवेश करती हैं। मस्तिष्क का सहस्र कमलदल महादेव जी का जटाजूट है जिस पर ऊर्ध्व समुद्र से गिरती हुई गंगा की धारा को महादेव जी ने धारण किया था। वहीं से शरीर के अन्य अंगों में इस दिव्य गंगा के जल से सिंचन कोई विरला योगी पुरुष ही कर सकता है।

इस सूक्त का छन्द त्रिष्टुप् छन्द है, जो कि पिण्ड में हृदय व मन से सम्बन्ध रखता है। अतः यहां समुद्र, हृदय व मन का समुद्र लेना चाहिए। अब हम सूक्त का अर्थ दिखाते हैं।

ऋ १०९८ सूक्त

ऋषिः—आर्ष्टिषेणो देवापिः। देवता देवाः। छन्दः त्रिष्टुप्

---

१. **एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात्** ऋ० ४।५८।५
अन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि ऋ० ४।५८।११

देवापि की बृहस्पति से प्रार्थना

बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद् वसुभिर्मरुत्वान्त्स पर्जन्यं शन्तनवे वृषाय॥
ऋ० १०।९८।१

(बृहस्पते) हे ज्ञान-विज्ञान के अधिपति ! तू (मे) मुझे (देवतां प्रति इहि) प्रत्येक देवता के प्रति ले चल। तू (मित्र: वा वरुणो वा पूषा वा असि) मित्र है, वरुण है अथवा पूषा है इसका मुझे कुछ ज्ञान नहीं, अथवा (आदित्यैर्वायद् वसुभिर्मरुत्वान्) आदित्यों व वसुओं से तुम मरुत्वान् कहलाते हो, जो कुछ भी तुम हो, मैं तुम्हारे पास आया हूं। (स:) वह तुम (शन्तनवे पर्जन्यं वृषाय) शन्तनु के लिए दिव्यवृष्टि बरसाओ।

पर्जन्य:—पर्जन्यो मे मूर्ध्नि श्रित:। तै० ब्रा० ३।१०।८।८

पर्जन्य:—परो जनयिता।

बृहस्पति का उत्तर—

आ देवो दूतो अजिरश्चिकित्वान् त्वद् देवापे अभिमामगच्छत्।
प्रतीचीन: प्रति मामाव वृत्स्व दधामि ते द्युमतीं वाचमासन्॥
ऋ० १०।९८।२

हे देवापे ! (त्वत्) तेरे पास से (अजिर:) गतिशील व अत्यन्त प्रवृद्ध (चिकित्वान्) ज्ञानी, चेतनावान् अथवा चिताने की शक्तिवाला (देव: दूत:) कोई देवदूत = अग्नि (मां अभि आगच्छत्) मेरे पास आया था। (प्रतीचीन:) तू मेरे अभिमुख होकर (मां प्रति आववृत्स्व) मेरी ओर बार-बार आवर्तन कर मैं (ते आसान्) तेरे मुख में (द्युमतीं वाचं दधामि) देदीप्यमान वाणी को धारण कराता हूं।

देवापि का दूत बृहस्पति के पास पहुंचता है। दूत में निम्न गुण होने चाहियें। **अजिर:**—अज गतिक्षेपणयो:—अत्यन्त गतिशील, मस्तिष्क प्रसुप्तता, आलस्य, निष्क्रियता तन्द्रादि से आक्रान्त न होना चाहिए। दोषों को परे फेंकने वाला हो।

चिकित्वान्—चेतना व चैतन्ययुक्त स्थिति का द्योतक है।

प्रतीचीन:—प्रति-आववृत्स्व—ये पद इस तथ्य को दर्शा रहे हैं कि देवापि का झुकाव बृहस्पति की ओर रहे और पौन: पुन्येन चित्त का आवर्तन तदभिमुख होता रहे। यह दूत अग्नि है।

द्युमतीवाक्—यह स्थूल मुख की वाक् नहीं है। सप्त द्वारों में बिखरने वाली अयास्य सम्बन्धी वाक् है। अयास्य सम्बन्धी मुख में जब ज्योति व प्रकाश फैल जाता है तब देवों का स्वरूप प्रकाशित होता है। जब तक यह अयास्य वाला मुख देदीप्यमान न होगा तब तक चाहे कितने ही मन्त्र घोकते रहो कुछ उपलब्धि न होगी। 'अयास्य' के सम्बन्ध में हमने 'ऋषि-रहस्य' पुस्तक में विशेष विचार किया है।

अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन् बृहस्पते अनमीवामिषिराम् ।
यया वृष्टिं शन्तनवे वनाव दिवो द्रप्सो मधुमां आविवेश ।।

ऋ० १०।९८।३

हे बृहस्पते ! (अस्मे आसन्) हमारे मुख में (अनमीवां) रोगरहित (इषिराम्) गतिशील क्षिप्रकारी (द्युमतीं वाचं धेहि) दीप्तिमती वाणी धारण कराओ (यया) जिससे (शन्तनवे) शन्तनु के लिए (वृष्टिं वनाव) हम दोनों=(देवापि बृहस्पति) दिव्य ज्ञान की वृष्टि करा सकें (दिवः मधुमान् द्रप्सः) द्युलोक की मधुमय ब्रह्मज्ञान-सम्बन्धी बूंद (आविवेश) हमारे में प्रवेश कर जावे ।

अनमीवाम्—वाणी में काम-क्रोधादि दुर्गुणों व असत्यादि द्वारा व्याधि प्रविष्ट हो जाती है ।

इषिराम्—सदाप्रेरक, गतिशील, लक्ष्य तक शीघ्र पहुंचाने वाली क्षिप्रकारी—

"इषिर इति क्षिप्र इत्येतत्" श० प० ६।४।१।१०

वनाव—वनषण सम्भक्तौ ।

द्रप्सः—बूंदें (दप्सा=Drops)

आनो द्रप्सा मधुमन्तो विशन्त्विन्द्र ये ह्यधिरथं सहस्रम् ।
निषीद होत्रमृतुथा यजस्व देवान् देवापे हविषा सपर्य ।।

ऋ० १०।९८।४

(मधुमन्तः द्रप्साः) मधुमय दिव्यज्ञान की बूंदें (नः आविशन्तु) हमारे में प्रविष्ट होवें । हे (इन्द्र) ऐश्वर्य-सम्पन्न बृहस्पते ! (अधिरथं सहस्रं देहि) सहस्रों दिव्य शक्तियों से युक्त दिव्य रथ अधिक दो । हे देवापि ! तू (होत्रं निषीद) आर्त्विज्य कर्म के लिए बैंठ और (ऋतुथा यजस्व) ऋतु अनुसार यजन कर तथा (देवान् हविषा सपर्य) देवों की हविप्रदान द्वारा परिचर्या कर ।

बृहस्पति की कृपा से ऊर्ध्व से दिव्य ज्ञान व दिव्य शक्ति की बूंदें योगी व भक्त पुरुष में प्रविष्ट होती हैं, इससे शनैः शनैः सहस्रों गौएं अर्थात् ऐन्द्रियिक दिव्य शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है । साथ में एक दिव्य रथ भी उसे मिलता है । यह दिव्य रथ आध्यात्मिक सूक्ष्म वाहन है जिस पर आरूढ होकर एक योगी पुरुष क्षण मात्र में दूर-दूर तक जा पहुंचता है । देवों का यजन ऋतु अनुकूल होना चाहिए, क्योंकि हर समय देवों का यजन भी नहीं हो सकता, इसकी भी ऋतुएं आती हैं । यहां पर हवि से तात्पर्य आत्म-निवेदन, आत्मप्रणति तथा नानाविध स्तोत्र हैं ।

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान् ।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ।।

ऋ० १०।९८।५

(आर्ष्टिषेणः) ऋष्टिषेण का पुत्र वह (ऋषिः देवापिः) देवापि ऋषि (देवसुमतिं चिकित्वान्) देवों की सुमति को जानता हुआ (होत्रं निषीदन्) होत्रकर्म के लिए

विराजमान हुआ। (स) उसने (उत्तरस्मात्) ऊपर के समुद्र से (अधरं समुद्रं अभि) नीचे के समुद्र की ओर (दिव्या अपः) दिव्य जलों को (वर्ष्या असृजत्) बरसाया।

इस मन्त्र में देवापि को 'ऋषि' पद से सम्बोधित किया गया है। अर्थात् देवापि ऋषि है दिव्यदृष्टि से युक्त है। देवों की सुमति का रूप क्या है और कैसे प्राप्त होती है, यह जानता है। ऊर्ध्व में द्युलोक में विद्यमान अतिचेतन के समुद्र में जो ऋतात्मक दिव्य जल हैं उनको वह नीचे के अवचेतनात्मक मानस समुद्र की ओर बरसाता है।

"वाक् वै समुद्रः"—ऐ० ब्रा० ५।१६, ता० ब्रा० ७।७।९

"मनो वै समुद्रः"—श० प० ७।५।२।५८

उत्तरस्मात्=उद्धततरः—यास्क

उत्तर समुद्र को उद्धततर कहना एक विशेष प्रयोजन से है। वह यह कि उत्तर समुद्र की गति प्रायः ऊर्ध्व की ओर ही रहती है उत्+हन् हिंसागत्योः, यहां हन् धातु का गति अर्थ अभीष्ट है। यह समुद्र दिव्य समुद्र है, साधनाबल से ही इसका अवरोहण किया जा सकता है।

अधरः=अधोरः=अध एव असौ अरति (दुर्ग) ऊर्ध्वगतिप्रतिषिद्धः।

नीचे के अंगों में विद्यमान समुद्र की स्वाभाविक गति नीचे की ओर ही रहती है। यह मानस समुद्र है।

अस्मिन्त्समुद्रे अध्युत्तरस्मिन्नापो देवेभि र्निवृता अतिष्ठन्।
ता अद्रवन्नार्ष्टिषेणेन सृष्टा देवापिना प्रेषिता मृक्षिणीषु॥

ऋ० १०।९८।६

(अस्मिन् समुद्रे) इस निचले समुद्र में तथा (अध्युत्तरस्मिन्) ऊर्ध्व समुद्र में ये (आपः) जल (देवेभिः निवृता अतिष्ठन्) देवों द्वारा रोके हुए हैं (आर्ष्टिषेणेन देवापिना) ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि द्वारा (सृष्टा) विसर्जित किये गये (मृक्षिणीषु) शुद्ध, पवित्र नस-नाड़ियों के संघातों (चक्र=Pluxes) में (प्रेषिताः) भेजे गये (ता अद्रवन्) वे दौड़ कर आते हैं।

मृक्षिणीषु=मृष्टवतीषु—परिमृष्टासु—वेङ्कट यद्वा मृक्ष संघाते भ्वादि स्ततो णिनिश्छान्दसः।

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥ ऋ० १०।९८।७

(यत्) जब (देवापिः शन्तनवे) देवापि शन्तनु के लिए (पुरोहितः सन्) पुरोहित बन (होत्राय वृतः) होत्रकर्म के लिए वरा गया तब (कृपयन्) कृपा करके उसने (अदीधेत्) देवों का ध्यान किया। (देवश्रुतं) देव जिसकी प्रार्थना सुनते हैं तथा—(वृष्टिवनिं) वृष्टि की याचना करने वाले देवापि को (रराणः बृहस्पतिः) आनन्दित करता हुआ

वहबृहस्पति (अस्मा) इस देवापि को (वाचमयच्छत्) दिव्यवाक् प्रदान करता है। देव-श्रुतं देवा एनं श्रृण्वन्ति/अदीधेत्—अन्वध्यायत् वृष्टिवनिम्—वृष्टियाचिनम्।

यं त्वा देवापिः शुशुचानो अग्न आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे।
विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानः प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तरम्॥

ऋ० १०।६८।८

(अग्ने) हे अग्नि! (आर्ष्टिषेणः देवापिः मनुष्यः) ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि मनुष्य (यं त्वा) जिस तुझको (शुशुचानः) शुद्ध व तीक्ष्ण करता हुआ (समीधे) सम्यक् प्रकार से प्रज्वलित करता है। ऐसा (विश्वेभिः देवैः) विश्वदेवों से (अनुमद्यमानः) अनुमोदित हुआ हुआ या अनुकूलता से आनन्दित हुआ (वृष्टिमन्तं पर्जन्यं प्र ईरय) वृष्टि वाले पर्जन्य को प्रेरित कर।

शुशुचानः—ईशुचिर् पूतीभावे, शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः—निरुक्त

अनुमद्यमानः—अनु + मदि—स्तुतिमोदमद्स्वप्नकान्तिगतिषु

त्वां पूर्व ऋषयो गीर्भिरायन्त्वामध्वरेषु पुरुहूत विश्वे।
सहस्राण्यधिरथान्यस्मे आ नो यज्ञं रोहिदश्वोपयाहि॥ ऋ० १०।६८।६

हे अग्नि! (पूर्व ऋषयः त्वां गीर्भिरायन्) पूर्व ऋषि स्तुतियों के द्वारा तुम्हारे पास पहुंचते थे। हे (पुरुहूत) बहुतों से आह्वान किये गये अथवा बहुत रूप में या बहुत प्रकार से आह्वान किये गये हे अग्ने! (विश्वे त्वां अध्वरेषु) सब यजमान अध्वर यज्ञों में तुम्हें पुकारते हैं (अस्मे सहस्राणि अधिरथानि) हमें दिव्य रथ के साथ सहस्रों शक्तियों को प्रदान करो। (रोहिदश्व) हे रोहित अश्व वाले! (नः यज्ञं उप आयाहि) हमारे यज्ञ में तू आ।

पूर्व ऋषि वाणियों व स्तुतियों द्वारा इस अग्नि को प्रदीप्त करते थे। अध्वर—हिंसारहित, यज्ञ या दिव्य मार्ग को कहते हैं। रोहिदश्व—जिस अग्नि के अश्व ऊर्ध्व में द्युलोक की ओर आरोहण करते हैं।

एतान्यग्ने नवतिं नव त्वे आहुतान्यधिरथा सहस्रा।
तेभिर्वर्धस्व तन्वः शूर पूर्वीर्दिवो नो वृष्टिमिषितो रिरीहि॥

ऋ० १०।६८।१०

(अग्ने) हे अग्नि! (एतानि) ये गौओं के (नवतिः नव सहस्रा) ६६ हजार (अधिरथा) जिनमें एक रथ अधिक है (त्वे) तेरे प्रति (आहुतानि) आहुति द्वारा मांगे गए हैं। हे (शूर) शूरवीर! तू (तेभिः पूर्वीः तन्वः वर्धस्व) उन द्वारा हमारे पूर्व शरीरों को बढ़ा (ईषितः) प्रेरित हुआ तू (दिवो नो वृष्टिं रिरीहि) द्युलोक से वृष्टि को प्रदान कर।

६६ हजार गौएं आन्तरिक दिव्य शक्तियां ही हैं। अथवा ६ शक्तियां ६० हजार गुणी हो गई हैं। ६ शक्तियां कर्णाविमौ नासिके चक्षिणी मुखम् = ७ + २ मन और बुद्धि = ६ ये आन्तरिक शक्तियां हैं। इन ६६ हजार शक्तियों द्वारा पूर्वीः तन्वः—

पूर्व शरीरों की वृद्धि करनी होती है। पूर्व शरीर सूक्ष्म शरीर को कहते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक आत्मा के सूक्ष्म शरीरों की ही सर्वप्रथम उत्पत्ति होती है।

एतान्यग्ने नवतिं सहस्रा संप्रयच्छ वृष्ण इन्द्राय भागम्।
विद्वान् पथ ऋतुशो देवयानानप्यौलानं दिवि देवेषु धेहि ॥

ऋ० १०।९८।११

हे अग्ने ! (एतानि नवतिं सहस्रा) इन ९० हजार गौओं-शक्तियों के (भागं) भाग को (वृष्ण इन्द्राय) वृष्टि करने वाले दिव्य मन को (संप्रयच्छ) प्रदान कर और (ऋतुशः) ऋत्वनुकूल (देवयानान् पथः) देवयान मार्गों को (विद्वान्) जानता हुआ तू (औलानं) विस्तृत व प्रभूत प्राण वाले शन्तनु को (दिवि देवेषु) द्युलोक के देवों के मध्य (धेहि) धारण करा।

यह आन्तरिक अग्नि इन्द्र (दिव्य मन) में ९० सहस्र शक्तियां पैदा कर देती हैं। यही अग्नि देवयान मार्गों को जानती है जो औलान व्यक्ति हैं (औलानम्=उरु+अन प्राणने, रलयोरभेदः, उलानम् तत्सम्बन्धि औलानम्) अर्थात् जिसके प्राण खूब विस्तृत व व्यापक हो गये हैं उसे यह अग्नि दिव्यलोकों में द्युलोक में विद्यमान देवों के पास पहुंचा देती है। अर्थात् सिद्ध योगी-पुरुष अपने दिव्य रथ पर आरूढ़ हो देवयान मार्गों से जाताहुआ द्युलोक में विद्यमान देवों के पास जा पहुंचता है।

अग्ने बाधस्य वि मृधो वि दुर्गहाऽपामीवामपरक्षांसि सेध।
अस्मात् समुद्राद्बृहतो दिवो नो ऽपां भूमानमुप नः सृजेह।

ऋ० १०।९८।१२

हे अग्ने ! (विमृधः) हिंसक शत्रुओं को (बाधस्व) विनष्ट कर (दुर्गहा) दुरितों व दुर्गम शत्रुओं के हनन करने वाले हे अग्नि ! (अमीवां अप) रोगों को दूर कर तथा (रक्षांसि अपसेध) राक्षसों को परे कर तथा (दिवः) द्युलोकस्थ (अस्मात् बृहतः समुद्रात्) इस बृहत् नामक समुद्र से (अपां भूमानं इह नः उपसृज) जलों की भूमा को हमें यहां प्रदान कर।

दुर्गहा—यो दुर्गान् दुःखेन गन्तुं योग्यान् हन्ति।

त्रयोदश अध्याय

बृहस्पति द्वारा फालमणि-बन्धन

फालमणि क्या है ?

अथर्ववेद १०।६ सूक्त में आता है कि बृहस्पति[1] ओज के लिए उग्र अर्थात् तीक्ष्ण तथा घृत को चुआने वाली खदिर निर्मित फालमणि को बांधता है" यह कथन सूक्त में अनेकों बार हुआ है। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि बृहस्पति ने असुर विनाशिनी इस फालमणि को देवों के लिए बांधा है, और आशु गति (आशवे वाताय) के लिए इस मणि को बांधा है। इसी प्रकार के अन्य भी मणि सम्बन्धी कथन हुए हैं। अब विचारणीय यह है कि यह फालमणि क्या है और बृहस्पति से इसका क्या सम्बन्ध है ?

श्री पं० प्रियरत्न आर्ष (स्वामी ब्रह्ममुनि) ने अपनी पुस्तक "अथर्ववेदीय मन्त्र-विद्या" में मणिबन्धन पर विचार किया है। वे लिखते हैं कि "मणियां चार प्रकार की होती हैं। खनिज, सामुद्रिक, प्राणिज और वानस्पत्य। **खनिः स्रोतः प्रकीर्णकं च योनः**—कौटिल्यार्थशास्त्र प्रकरण ३६।" इस प्रकार चतुर्विध मणियों का उन्होंने दिग्दर्शन कराया है। फालमणि के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि "इस सूक्त (अथर्व १०।६ सूक्त) का यह फालमणि न तो आयुर्वेदिक दृष्टि से और न संग्राम की दृष्टि से कोई शरीर पर धारण करने वाली वस्तु है किन्तु इससे भिन्न है···मन्त्र (अथर्व १०।६।२) के इस वर्णन से कि 'फालात् जातः' फाल से प्रकट या उत्पन्न और मन्थन तथा अन्नादि से पूर्ण यह मणि है जिसका नाम फालमणि है।···वह ऐसा फालमणि यहां क्यारियों से उत्पन्न हरा भरा खेत ही है।"

इस प्रकार श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष फालमणि से हरा भरा खेत अर्थ ग्रहण करते हैं। हमारे विचार में फालमणि से हरा भरा खेत अर्थ ग्रहण करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। प्रत्युत खेत में उत्पन्न अन्न को किसी अंश में फालमणि कह सकते हैं। परन्तु फालमणि का अर्थ अन्न करने से भी पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं होता। अतः फाल-मणि के पूर्णस्वरूप तक पहुंचने के लिए हमें इस अन्न से और आगे चलना चाहिए।

---

१. **यमबध्नाद् बृहस्पति र्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।**
अथर्व० १०।६।६-१०

यमबध्यनाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्। अथर्व० १०।६।१२
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। अथर्व० १०।६।११

शरीरान्तर्गत कृषि

एक तो इसी सूक्त के एक मन्त्र में सामान्य खेत को उपमान रूप में लिया गया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वह खेत ही दूसरा है । यथा—

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति ।
एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं विरोहतु ।। अथर्व० १०।६।३३।

अर्थात् जिस प्रकार फाल (कुदाली आदि) द्वारा खोदकर उर्वरा बनायी गई भूमि में बीज रोहण करता है उसी प्रकार मुझ में प्रजा, पशु तथा प्रत्येक अन्न रोहण करे।

यह आन्तरिक खेती है, इसी बात को निम्न मन्त्र में और स्पष्ट किया गया है।

स मायमधिरोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः । अथर्व० १०।६।३१।

अर्थात् वह यह मणि मुझे सर्वश्रेष्ठ बनाने के लिए मेरी मूर्धा से अधिरोहण करे।

अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत । अथर्व० १०।६।१६।

मेरे आन्तर देशों, व प्रदेशों ने इसको बांधा है ।

"**मणिं सहस्रवीर्यं ब्रह्मणा तेजसा सह प्रतिमुञ्चामि ते शिवम् । स त्वामभिरोहतु देवैः फालमणिः सह ।।** पै० सं० १६।४५।२

अर्थात् मैं शिवरूप इस सहस्रवीर्य मणि को ब्रह्मतेज के द्वारा यहां से बन्धनमुक्त करता हूं तथा वहां तुझ में बांधता हूं ।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि इस फालमणि का शरीर के अन्दर स्थान है । अतः विचारणीय यह है कि यह फालमणि है क्या ? फालमणि के सम्बन्ध में अथर्व० १०।६ सूक्त में निम्न कथन हुए हैं—

फालाज्जातः—अर्थात् फाले व कुदाल से उत्पन्न (अन्न) ।
हिरण्यस्रक्—हिरण्यमयी माला ।
घृतश्चुतम्—घृत अर्थात् तेज जिससे च्युत व प्रवाहित होता है ।
खदिरम्—खैर के वृक्ष से निर्मित कुदाल ।
उग्रम्—उग्र और तीक्ष्ण ।
असुरक्षितिम्—असुरों का विनाश करने वाली ।
क्षत्रवर्धनम्—क्षात्रशक्ति को बढ़ाने वाली ।
सपत्नदम्भनम्—शत्रुओं को दबाने वाली ।
देवजाः—देवों से उत्पन्न ।
यज्ञवर्धन—यज्ञ को बढ़ाने वाली ।
शतदक्षिण—सैकड़ों दक्षिणाओं वाली ।

इध्मं समाहितं—समाहित अर्थात् प्रच्छन्न इध्म (अग्नि)।

फालमणि के ये कुछ विशेषण यहां दर्शाये हैं। अब तत्सम्बन्ध में कुछ अन्य कथन भी यहां दर्शाते हैं।

"जिस प्रकार पिता पुत्र की देखभाल आदि करता है उसी प्रकार यह मणि देवों से आकर मुझे आगे-आगे अत्यधिक रूप में श्रेय को प्रदान करे।" अथर्व० १०।६।५

"अग्नि ने जब इसका प्रतिमोचन किया तो इस मणि ने उस अग्नि के लिए आज्य का दोहन किया।" अथर्व० १०।६।६

इन्द्र ने ओज व वीर्य के लिए, सोम ने महान् श्रोत्र तथा दृष्टि-शक्ति के लिए इसका प्रतिमोचन किया सूर्य ने दिशाओं पर विजय प्राप्त की और भूति प्राप्त की, चन्द्रमा ने इस मणि को धारण किया तो असुरों व दानवों की हिरण्यमयी पुरी को जीता। अश्वीदेवता इस मणि द्वारा कृषि की रक्षा करते हैं और मणि ने इन के लिए 'महः' तेज का दोहन किया।

सविता ने इस मणि को धारण किया 'स्वः' को जीता। जलों ने धारण किया तो अक्षित हुए वे निरन्तर दौड़ रहे हैं। राजा वरुण ने धारण किया तो सत्य का दोहन किया देवों ने युद्ध में सब लोकों को जीता। इस प्रकार जिति तथा विश्व का दोहन किया।

इसी प्रकार ऋतु, आर्तव, संवत्सर, अन्तर्देश, प्रदिशाएं, अथर्वा, आथर्वण, धाता आदि सब इस मणि को धारण करते हैं।

इस प्रकार इस सूक्त में फालमणि का वर्णन हुआ है। क्योंकि बृहस्पति इस मणि को सबके अन्दर बांधता है, इसलिए इस मणि के साथ बृहस्पति का विशेष सम्बन्ध है।

इन सब उपर्युक्त कथनों को दृष्टि में रखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह फालमणि न तो केवल अन्न ही है और नाही खदिर वृक्ष निर्मित कुदाल ही है। इसके इस अलौकिक व अद्भुत शक्ति वाले वर्णन को देखते हुए हम इसे मानव-देह में एक शक्ति के रूप में समझ सकते हैं जिसमें इसका अन्न रूप व कुदाल रूप तथा अन्य भी कोई रूप घट सकते हैं। क्योंकि ये सब देवता हमारे शरीर में भी विद्यमान है। (सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते अथ० ११।८।३२) इसलिए इन देवताओं के मणिधारण की कोई समस्या नहीं रहती। अब हम संक्षेप में इस पर विचार करते हैं।

अन्न सूर्यादिदेवो

कृषि से उत्पन्न अन्न फालमणि है। इस अन्न को "देवजा" "देवेभ्यो मणिरेत्य" अथर्व १०।६।५ देवों से आयी हुई मणि माना गया है। अग्नि, सूर्य, इन्द्र (विद्युत्),

सोम, चन्द्रमा आदि बाह्यभौतिक देव अपने-अपने अंश का प्रति मोचन (प्रत्यमुञ्चत) करते हैं। वस्तुतः देवों के ये अंश ही मणि हैं, क्योंकि ये सब अंश अन्न में आकर सम्मिलित होते हैं, अतः अन्न को मणि कह दिया गया है। देवों के उन-उन अंशों को बृहस्पति बांधता है और वर्षा द्वारा पृथिवी पर भेजता है। इसी दृष्टि से यह मन्त्र है—**"ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः"** अथर्व० ३।२७।६। वर्षा बृहस्पति के बाण हैं, इस वर्षा रूपी बाणों द्वारा वह बृहस्पति देवांशों को पृथिवी पर बरसाता है। किसान लोग खेतों को फाल व हल आदि द्वारा जोत-बोकर तैय्यार करते हैं, तब सूर्यादि देवों के स्वकीय अंश पृविथी पर आकर बीज को अंकुरित व पल्लवित करते हैं। इस प्रकार देवों से यह मणि आकर अन्नों में आ पहुंचती है, इसलिए अन्न भी मणि नाम से कहे जाने लगे। सूर्यादि देवों से आने वाली मणि 'हिरण्य' रूप में सुवर्णीय किरणों में स्थित होकर पृथिवी पर आती है, इसलिए इसे मन्त्र में "हिरण्य-स्रक्" कहा है अर्थात् सोने की माला द्युलोक से पृथिवी की ओर प्रवाहित होती हुई आती है। प्रत्येक देव का अंश मनके के रूप में कल्पना कर एक सूत्र में बंधे हुए वे देवांश हिरण्यमयी माला का निर्माण करते हैं। इस प्रकार यह देवांश बृहस्पति द्वारा बांधा जाकर अन्न में पहुंचता है और अन्न से पुन देवों को प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है—

ऊपर हम यह दर्शा चुके हैं कि बाह्यभौतिक जगत् में अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा आदि देवों से उनके अपने-अपने अंश निःसृत होकर अन्नों में जा पहुंचते हैं। ये देवों के अंश ही मणि हैं क्योंकि ये देवांश अन्न में आ समाविष्ट होते हैं अतः अन्न को भी गौण-भाव से मणि कहा जा सकता है। और हम यह भी दर्शा चुके हैं कि ये अग्नि, इन्द्र, सोम व सूर्यादि देव मानव-शरीर में भी विराजमान हैं। अतः जो अन्न मनुष्य भक्षण करता है उसमें विद्यमान अमुक-अमुक देवांश शरीरस्थ तत्तत् देवों को ही प्राप्त हो जाता है। इस तथ्य को अग्नि देवता-सम्बन्धी मन्त्र के उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। यथा—

"तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यम्" । अथर्व० १०।६।६

अग्नि ने उस मणि का प्रतिमोचन किया तो उस मणि ने उसके (अग्नि) के लिए आज्य का दोहन किया। इसका स्पष्टीकरण यह कि तृण व अन्नादि को गौ व भैंस आदि भक्षण करती है, उनसे दुग्धद्वारा, घी की उत्पत्ति होती है। घी को मनुष्य भक्षण करता है तो इससे मनुष्य के अन्दर की अग्नि प्रवृद्ध व प्रज्वलित होती है। इस प्रकार अन्नों में विद्यमान मणि ने शरीरस्थ अग्नि आदि देवों के लिए आज्य (घी) का दोहन किया जिससे वे देव प्रवृद्ध होते हैं। अथवा इस रूप में भी प्रकट कर सकते हैं, कि मनुष्य अन्न भक्षण करता है तो उससे रस-रक्तादि रूप में परिणत होता हुआ वह अन्न-वीर्य, ओज व अग्नि रूप में परिवर्तित हो जाता है। मनुष्य के वीर्य व रेतस् को भी आज्य कहा गया है। "रेत आज्यम्" श० प० १।३।१।१८, "एतद्रेतः यदाज्यम्"

"तै० ब्रा० १।१।६।४ और फिर वीर्य को ही शास्त्रों में अग्नि कह दिया है। "वीर्यं वा अग्निः" तै० ब्रा० १।७।२।२ गो० उ० ६।७

इसका तात्पर्य यह हुआ कि अन्न में जो अग्नि का अंश आया था वह अन्न-भक्षण से शारीरिक अग्नि में परिणत हो गया अथवा यह भी कह सकते हैं कि रेतस् व वीर्य रूप में आकर अग्नि को प्रवृद्ध करने वाला हो गया। इसी प्रकार इन्द्र व सोम आदि देवता-सम्बन्धी मन्त्रों को स्पष्ट किया जा सकता है। अब उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्न मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा।

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति।
एवाऽस्मिन् प्रजा पशवोऽन्नमन्नं विरोहतु॥

जिस प्रकार फाल द्वारा कर्षण के पश्चात् उर्वरा बनायी भूमि में बीज का रोहण होता है, उसी प्रकार इस मानव में प्रजा-पशु तथा भक्षण कियागया प्रत्येक अन्न विविध रूपों में रोहण करे 'विरोहतु-विविध रूपेण रोहतु'।

विविध रूप में रोहण का भाव यह है कि अन्न में विद्यमान अग्नि-अंश शरीरस्थ अग्नि में जा मिले, इन्द्र अंश इन्द्र में, सोमांश सोम में, सूर्यांश सूर्य में इत्यादि भाव ग्रहण किया जा सकता है। अन्न का वह रोहण किस प्रकार हो, यह मन्त्र में इस प्रकार निर्दिष्ट हुआ है—

"पूर्णो मन्थेन मागमद् रसेन सह वर्चसा" अर्थात् जो अन्न हम भक्षण करते हैं वह मन्थन अर्थात् विलोडन प्रक्रिया द्वारा रस रक्तादि रूपों में परिणत व पूर्ण होकर वर्चस् के साथ मुझे प्राप्त हो।

जब हम अन्न भक्षण करते हैं तो हमारे उदर में भी मन्थन प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। वर्चस् से यहां ब्रह्म-क्षत्र रूप वर्चस् का ग्रहण किया गया है। और बृहस्पति जब इस मणि को बांधता है तब वह ओज (ओजसे) के लिए ही बांधता है, यह ओज ब्रह्म-क्षत्र रूप में प्रकट होता है।

इस प्रकार अन्न में विद्यमान यह देवांश रूप मणि मानव-शरीर में वीर्यादि रूपों में परिवर्तित होती है। परन्तु फालमणि का यह भी पूर्ण रूप नहीं है अभी हमें वीर्य से और आगे चलना चाहिए। वह इस प्रकार कि यह वीर्य जब ऊर्ध्वारोहण द्वारा शरीर के शक्ति-स्थानों व इन्द्रिय-केन्द्रों में पहुंचता है तब वहां कृषिकर्म होता है। फाल व कुदाल का कार्य वहां भी होता है इससे दिव्य शक्तियों का प्रजनन होता है, ये दिव्य शक्तियां अर्क नाम से कहीं गई हैं। अग्नि भी उन्हें कहा गया है। क्योंकि ये अन्न से उत्पन्न होती हैं। अतः अन्न अग्नि अर्क ये सब नाम पर्यायवाची से हो गये हैं। इसी रहस्य को हम आगे शाखा-संहिताओं के प्रकरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। इससे पूर्व हम बाह्य कर्मकाण्ड में प्रयुक्त खदिर वृक्ष के फालमणि का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

खदिर फालमणि

बाह्य कर्मकाण्ड में तो खैर वृक्ष (खदिर) का फालमणि (अभ्रि=कुदाल) बनाया जाता है। सायणाचार्य ने लिखा है कि **"खादिरकाष्ठफालविकारं शत्रुनाशाय सर्वकामाप्तये च बध्नाति सूक्तेनानेन (अरातीयोः०)"** अर्थात् शत्रुनाश तथा सर्व कामनाओं की प्राप्ति के लिए खदिर काष्ठ से निर्मित फालमणि को इस सूक्त द्वारा बांधता है। यह खदिर अर्थात् खैर के वृक्ष से निर्मित फाल है जिसे कि अन्य स्थलों में अभ्रि कहा गया है और जिसे भाषा में कुदाल कहते हैं। बाह्य कृषि-कर्म में क्योंकि यह फाल अर्थात् कुदाल अन्न रूपी मणि की उत्पत्ति में सहायक होती है। अतः गौण रूप में इसे भी फालमणि कह दिया गया है। परन्तु आन्तरिक कृषि-कर्म में दिव्य तेज व शक्तियों की उत्पत्ति में अन्न ही अग्नि बनकर कुदाल का भी काम करता है। अतः अन्न ही अग्नि है और यही कुदाल भी है। अन्न से उत्पन्न अग्नि इस सूक्त में खदिर कही गई है। इस सम्बन्ध में हम कुछ शाखा-संहिताओं व ब्राह्मण ग्रन्थों आदि के प्रकरण यहां प्रस्तुत करते हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि खदिर शब्द अग्नि की किसी आन्तरिक शक्ति का प्रतीक है।

श० प० ३।६।२।१२ में आता है **"खदिरेण ह सोममाचखाद तस्मात् खदिरो यदेनेनाखिदत् तस्मात् खादिरः"** अर्थात् खदिर के द्वारा सोम का भक्षण किया (आचखाद) क्योंकि इससे सोम को खाया (अखिदत्) इसलिए सोम-भक्षण के साधन को खदिर कहते हैं।

इस उपर्युक्त कण्डिका में 'खदिर' पद खादृ भक्षणे तथा खद स्थैर्ये हिंसायां च—स्थिर होना मारना तथा चकार से भक्षण अर्थ का भी समुच्चय होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'खदिर' शब्द खाद और खद दोनों धातुओं से निष्पन्न किया जा सकता है। खद धातु के स्थैर्य तथा हिंसा ये दोनों अर्थ भी सुचारु रूप से घट सकते हैं। सोम-भक्षण करने वाली इस आन्तरिक शक्ति का सुचारु रूपेण कार्य स्थिरता में ही सम्भव है और स्थिरता में ही पाप विचार आदि शत्रुओं की हिंसा भी सम्भव है। मै० सं० ३।९।३ में आता है कि **'गायत्र्या वै पतन्त्या यत्र पर्णं परापतत् ततः पर्णोऽजायत तस्मात् पर्णमय एतत खलु वै पर्णस्य सारं यत्खदिरस्तस्मात् खादिर इहवा असा आदित्य आसीत्।"** अर्थात् गायत्री श्येन रूप धारण करके जब सोमाहरण करके आ रही थी तब उसका पर्ण (पंख) गिर गया वह पंख पर्णरूप में पैदा हुआ। और इस पर्ण का ही यह खदिर सार है। इस खदिर से ही यह आदित्य उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार तै० सं० ३।५।७।१ में आता है कि **"वषट् कारो वै गायत्रियैशिरोऽच्छिनत् तस्यै रसः परापतत् स पृथिवीं प्राविशत् स खदिरोऽभवत्"**

वषट्कार ने गायत्री का सिर काट दिया उससे जो रस निकला वह पृथिवी में प्रविष्ट हो गया उससे फिर खदिर की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार हमने खदिर के सम्बन्ध में कुछ शास्त्र-प्रमाण यहां उपस्थित किये। इनमें क्या रहस्य है यह विवेचनीय है। इन उद्धरणों से इतना स्पष्ट है कि यहां खदिर

खैर वृक्ष नहीं है यह कोई आन्तरिक गुह्य शक्ति है। इसका कुछ-कुछ रहस्य इन निम्न उद्धरणों से इस प्रकार समझा जा सकता है—

खदिर वह शक्ति है जिससे सोम का भक्षण होता है सोम हमारे शरीर में वीर्य व ओज में होता है कई स्थलों पर ओज को ही सोम कह दिया गया है। वीर्य में विद्यमान सोम का भक्षण तब होता है जब कि वीर्य का अधः पात न होकर ऊर्ध्व में स्थित शक्ति-केन्द्रों में वह पहुंचता है। इस फालमणि सूक्त में अधिरोहतु, विरोहतु आदि क्रियापद वीर्य के ऊर्ध्वारोहण को दर्शाते हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वरेतस् पुरुषों में सोम भक्षण करने की शक्ति जागृत होती है, इस शक्ति को ही खदिर कहते हैं, यह अग्नि रूप होती है।

यह खदिर-अग्नि अभ्रि=फाल=कुदाल का काम करती है। मस्तिष्क व शरीराभ्यन्तरवर्ती शक्ति-स्थानों को कुरेदती है, खोदती है। इस खोदने से इन्द्रियों व शक्ति-स्थानों में अर्क रूपी शक्ति की उत्पत्ति होती है, यही आन्तरिक फालमणि है। अर्क इन्द्रियरसों में उत्पन्न होने वाला दिव्य तेज व दिव्य शक्ति है। यह फाल अग्नि रूप है। यह फाल एक ओर से तीक्ष्ण होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में संहिताओं में आता है—"**अन्यतः क्षणुतेन वै फालेनेयदन्नं क्रियते। अन्नमर्कोऽर्कोग्निः। अन्नस्यैवार्कस्यावरुद्ध्यै।** कपि० सं० २९।८

"**अन्यतः क्षणुत् कार्या अन्यतः क्षणुद्धि फालस्तावन्तमर्कं करोत्यन्नं वा अर्कोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै" अन्नमर्कोऽर्कोऽग्निरर्केण वा एतदन्नमर्कमऽग्नि सम्भरति**"

मै० सं० ३।१।२

जिस प्रकार यह फाल (कुदाल) एक ओर से तीक्ष्ण (क्ष्णुत्) होती है, उसी प्रकार यह अग्नि रूपी आन्तरिक कुदाल भी एक ओर से तीक्ष्ण होनी चाहिए। एक ओर से तीक्ष्ण कुदाल से जिस प्रकार भूमि से इतना अधिक अन्न पैदा हो जाता है, उसी प्रकार आन्तरिक कुदाल से जो अन्न पैदा होता है वह बहुत होगा, उग्र व तीक्ष्ण होगा। यह आन्तरिक अन्न अर्क है, और वह अग्नि भी है और यह अर्क रूपी अग्नि फाल व कुदाल भी है। इसी दृष्टि से कहा कि "**अन्नमर्कोऽर्कोऽग्निरर्केण वा एतदन्नमर्कमग्नि सम्भरति**" अन्न अर्क बनता है, अर्क ही अग्नि है। इस अर्क से अन्न रूप अर्क-अग्नि का सम्भरण किया जाता है।

यह आन्तरिक अग्नि रूपी कुदाल एक ओर से ही तीक्ष्ण होनी चाहिए और वह भी मूर्धा की ओर। इसीलिए मन्त्र में "श्रेष्ठ्याय मूर्धतः" श्रेष्ठ बनने के लिए मूर्धा से रोहण करने का विधान है। प्रायः मनुष्यों की आन्तरिक वासनामयी अग्नि नीचे की ओर ही तीक्ष्ण होती है जिसका परिणाम यह है कि वीर्य का अधः पात होना, मणि का शरीर से बाहिर हो जाना। अतः इस मणि को बांधने के लिए पग-पग पर बृहस्पति को स्मरण किया गया है। ज्ञान-विज्ञान का अधिपति दिव्य गुरु यह बृहस्पति शिष्यों में अर्क (अग्नि=वीर्य) रूपी मणि को बांधता है, जिससे दिव्य शक्तियों के अंकुर उगते हैं।

बृहस्पति का अर्क-रूपी मणि बांधना

हम पूर्व में यह दर्शा चुके हैं कि बृहस्पति बृहत् का अधिपति है। बृहत् का क्षेत्र द्युलोक है। द्युलोक के तीन विभाग किये गये हैं। इनमें भी अवर के ही तृतीय द्युलोक उदन्वती में स्थित हो वह बृहस्पति वर्षा आदि द्वारा पृथिवी पर वृष्टि करता है। सूर्य की किरणें भी इसी बृहत् के क्षेत्र से गुजरती हुई पृथिवी पर आती हैं, जिससे कि पृथिवी पर चर, अचर प्राणिवर्ग का जन्म होता है। इस बाह्य जगत् में बृहस्पति देवों के अंश रूप मणियों को एकसूत्र में बांधकर हिरण्यस्रक् रूप में पृथिवी पर भेजता है। यह देवांश रूप मणि (देवजाः, देवेभ्यो मणिरेत्य) देवों से बृहस्पति के द्वारा पृथिवी पर अन्न में संगृहीत होती है, इससे अन्न भी मणि कहलाता है। इस अन्न रूपी मणि को मनुष्य खाता है तो यह मणि वीर्य व ओज रूप में परिवर्तित होती है। इस वीर्य रूपी मणि को मानव-बृहस्पति शिष्यों में बांधता है, जिससे कि मणि का अधःपतन न हो। इसके लिए ब्रह्मचर्य के कठोर व्रत का पालन कराया जाता है। अब इस वीर्य रूपी मणि से भी देवों के उत्कृष्ट अंश रूप शुद्ध मणि को आध्यात्मिक प्रक्रिया व योगसाधनों द्वारा फिर बांधा जाता है, जिससे मनुष्य में यह देवांशरूप मणि दिव्य शक्तियों के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार ऊर्ध्व में द्युलोक में स्थित बृहस्पति बाह्य ब्रह्माण्ड-स्थित देवों की मणियों को संगृहीत कर अन्न में प्रविष्ट करता है और फिर अन्न-भक्षण द्वारा उन मणियों को मनुष्य में उसी आदि शुद्ध रूप में परिवर्तित करवा देना मानव बृहस्पति का काम है। अब हम वेद-मन्त्रों के आधार पर मणिवन्धन का प्रयोजन देखते हैं।

यह मणि कवच का काम करती है 'वर्म मह्यमयं मणिः'। किस लिए? शत्रुओं से रक्षा करने के लिए। (१०।६।२) यह मणि ओज प्रदान करती है जिससे शत्रुओं का विनाश होता है। **अपि वृश्चाम्योजसा, यमबध्नात् ओजसे**—-१०।६।१,६) यह उग्रता प्रदान करती है। व्याधि, आधि को दूरकर श्रेय प्रदान करती है। श्रद्धा, यज्ञ, तथा महस् तेज आदि धारण कराती है। हमारे अन्तर्गत इन्द्र को ओज तथा वीर्य, आन्तरिक सोम को श्रोत्र व चक्षु-सम्बन्धी शक्ति देती है। चन्द्रमा अर्थात् मन दानवों की हिरण्यमयी, प्रलोभन देने वाली नगरी पर विजय प्राप्त करता है।

"यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे"

बृहस्पति मणिबन्धन आशुगति के लिए भी करता है। **'अश्वी प्राणापानौ'** ये दोनों इस मणि की सहायता से आन्तरिक कृषि की रक्षा करते हैं। स्वयं इनमें 'महः' तेज उत्पन्न होता है और ये भिषक् रूप को धारण करते हैं। आन्तरिक आपः (रस व रक्त आदि) अक्षित हुए निरन्तर दौड़ते रहते हैं। सदा धावन्त्यक्षिताः—१०।६।१४ और अमृत को ये धारण करते हैं। राजा वरुण (आन्तरिक विजातीय तत्त्वों को बाहिर फेंकने वाली शक्ति) 'शम्भुवम्' कल्याणकारी हो जाता है। एवं अन्य सब देव युद्ध में सब शत्रुओं को जीत लेते हैं क्योंकि यह मणि असुरत्व का विनाश करने वाली है। इस

मणि के प्रभाव से मनुष्य गौ, अज, अवि आदि पशुओं, तथा यव आदि अन्नों को भी प्राप्त कर लेता है। वह ऊर्ज द्रविण तथा श्री से युक्त होता है एवं सब प्रकार की भूति इस मणि के प्रभाव से प्राप्त हो जाती है। इसी कारण इसे 'शतदक्षिण' कहा है। इसी प्रकार ब्रह्मतेज तथा क्षात्रतेज इस मणि के धारण से मनुष्य में पैदा होते हैं। अतः फालमणि क्या है, बृहस्पति के द्वारा उसके बांधे जाने का क्या प्रयोजन है, यह हमने यहां दर्शाने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार फालमणि के बन्धन का तात्पर्य यह हुआ कि सूर्य, चन्द्रमा आदि देवों का जो स्व स्व अंश हिरण्य रूप किरणों के माध्यम से पृथिवी पर आकर अन्नों में एकत्रित होता है, उसे भक्षण द्वारा अपने अन्दर रस रक्त तथा वीर्य व ओज रूप में परिणत कर तथा कुचेष्टाओं से उसका अधःपतन न कर योग-साधनों द्वारा उस-उस देवांश को अपने आदिम रूप हिरण्य रूप में पैदा कर अपने अन्दर धारण करना। मणि के इस बन्धन में दिव्य गुरु बृहस्पति सहायक होता है।

चतुर्दश अध्याय

बृहस्पति और ओदन

अथर्व, ११।३ सू० का देवता ओदन है। इसे ही एक प्रकार से बार्हस्पत्यौदन भी कहते हैं। अतः बृहस्पति से सम्बन्ध होने के कारण इस सूक्त का विवेचन करना आवश्यक है। पर इस समग्र सूक्त की यहां अविकल व्याख्या न देकर हम बृहस्पति के स्वरूप-निर्धारण के लिए संक्षिप्त टिप्पणी ही प्रदर्शित करते हैं। इस सूक्त में यह ओदन अत्ता भी माना गया है और आद्य भी। अर्थात् ओदन ही ओदन को खा रहा है। कहा भी है—

"नैवाहमोदनं न मामोदनः", "ओदन एवौदनं प्राशीत्" अथर्व० ११।३।३०, ३१ अर्थात् न तो मैं ओदन को खाता हूं और न मुझे ओदन खाता है। प्रत्युत ओदन ही ओदन को खाता है। यही भावना मनुष्य को रखनी चाहिए। यह ओदन पृथिवी रूपी बटलोई में पक रहा है, द्युलोक इसका ऊपर का ढक्कन है और सूर्य रूपी एक गोल तश्तरी में रखकर यह ओदन सर्वत्र बांटा जा रहा है।

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य। द्यौरपिधानम्॥

अथर्व० ११।३।११

द्युलोक से पृथिवी तक जितनी भी सृष्टि है, वह सब इसी ओदन से बनी है। यह हमारा शरीर भी इसी ओदन का बना हुआ है। यह स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर जो भी अन्न भक्षण करता है, उसे मैं भक्षण करता हूं, यह भावना न लाकर ओदन ही ओदन को भक्षण कर रहा है यह भावना रखनी चाहिए। इस भावना को रखते हुए शारीरिक अंगों द्वारा जब हम ब्रह्माण्ड-स्थित तदनुकूल अन्न का भक्षण करते हैं, तब हमारे अङ्ग किस-किस देव-शक्ति से सम्पन्न होने चाहिएं यही इस सूक्त का प्रमुख विषय है। यहां हम अन्य अङ्गों का परिगणन न करते हुए केवल सिर तथा मुख को ही दर्शाते हैं, क्योंकि इस ओदन के भक्षण के समय बृहस्पति को सिर बताया गया है। कहा भी है—

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्। अथर्व० ११।३।१

अर्थात् इस ओदन का बृहस्पति शिर बनता है और ब्रह्म मुख होता है।

लङ्काधिपति रावण के तुल्य मनुष्य के भी कई सिर होते हैं, यथा अध्ययन, अध्यापन और ध्यान इत्यादि में बृहस्पति-शिर, युद्ध में वीर-शिर, भोग में वासना-शिर, चोरी में चोर-शिर इत्यादि अनेक विध सिरों की सत्ता होती है। वेद कहता है कि इस ब्रह्माण्ड रूपी ओदन के भक्षण के समय हमारा बृहस्पति शिर होना चाहिए। अन्न-भक्षण के समय यह भाव होना चाहिए कि इस अन्न द्वारा हमारी मस्तिष्क-शक्ति

प्रबुद्ध हो रही है। यह ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में कारण बन रहा है। यदि संसार में सर्व प्रकार के व्यवहार करते हुए भी हमारा सिर बृहस्पति-शिर रहे तो यह अवस्था सर्वोत्तम है।

इस तथ्य को हमें और भी सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए और वह यह कि इस ओदन का सत्य-स्वरूप उसी अवस्था में ज्ञात होता है और इसका सच्चा व सर्वोत्तम भक्षण उसी समय होता है जब कि हमारा शिर बृहस्पति सिर बन जाता है। अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा में पहुंचने का यत्न करते रहना चाहिए। कहा भी है कि—

ब्रह्म मुखम्

अर्थात् मुख ब्रह्म होना चाहिए। मुख भी कई प्रकार के होते हैं। यथा सैन्य-संचालन व युद्ध-घोषणा में वीर-मुख, अनृत कथन में अनृत-मुख—इसी भांति मन्त्र-ध्वनि में सरस्वती की अटूट धारा के प्रवाह में ब्रह्म-मुख होता है। अब प्रश्न होता है कि यदि बृहस्पति सिर न होगा तो क्या हानि होगी? इसका उत्तर निम्न मन्त्रों में इस प्रकार दिया गया है—**ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। बृहस्पतिना शीर्ष्णा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।**

एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः संभवति य एवं वेद॥

—अथर्व ११।३(२)।१-७

पूर्व ऋषियों ने इस ओदन को जिस सिर के द्वारा प्राशन (भक्षण) किया है, उससे भिन्न अन्य सिर द्वारा भक्षण करने से ज्येष्ठ सन्तति मृत्यु को प्राप्त होगी। अतः उस ओदन को अर्वाङ्मुख, पराङ्मुख तथा प्रत्यङ्मुख होकर इनमें किसी भी प्रकार से प्राशन नहीं करता हूं, प्रत्युत बृहस्पति के सिर से प्राशन करता हूं। इस प्रकार भक्षित यह ओदन सर्वाङ्ग सर्वपरु तथा सर्वतनू हो जाता है तथा सर्वतनु बनता है। इस तथ्य को जानने वाला भी सर्वाङ्ग, सर्वपरु तथा सर्वतनू हो जाता है। यह ओदन सम्बन्धी प्रकरण पैप्पलाद संहिता (१६।५३-५८ सूक्त) में पर्याप्त भिन्नता लिए हुए है। यहाँ तदन्तर्गत सब बातें विचारणीय नहीं हैं। केवल सिर के सम्बन्ध में यह वार्ता है—

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चेदमग्रे प्राश्नन्।
शिरस्ते अवपतिष्यतीत्येनमाह। —पै० सं० १६।५६।१

अर्थात् पूर्व पुरुषों द्वारा जिस सिर से यह ओदन भक्षण किया गया उससे भिन्न सिर से भक्षण करने से तेरा सिर गिर जायेगा। शौनक-संहिता में ज्येष्ठ के क्रम से सन्तति के मरण का कथन हुआ है। इस प्रकार दोनों वर्णनों में भिन्नता प्रतीत होती है। इसी प्रकार और भी कई बातें विचारणीय हैं। यथा—पूर्व ऋषि, अन्य सिर,

बृहस्पति सिर, ज्येष्ठ के क्रम से सन्तति की मृत्यु, अर्वाङ[1] पराङ[2] तथा प्रत्यङ[3] ओदन के भक्षण का रहस्य और ओदन का सर्वाङ्ग, सर्वपरु तथा सर्वतनु का तात्पर्य इत्यादि ये बातें विशेष विचारणीय हैं। बृहस्पति-सिर तथा अन्य सिर का स्पष्टीकरण हम पूर्व में कर चुके हैं। पूर्व ऋषि से वेद में ऐतिह्य की कल्पना कर क्रमिक विकास नहीं देखना चाहिए। सृष्टि के अन्य तत्त्वों की तरह ये भी प्रारम्भ में भगवान् से उत्पन्न हुए हैं। इनके क्रिया-कलाप अनुकरण ब्रह्माण्ड में सार्वकालिक हैं। इस विषय पर हमने पूर्व ऋषि निबन्ध में विस्तार से लिखा है।

व्यक्ति के लिए ओदन की गति पराक्, प्रत्यग्, अर्वाग् आदि होती है। किसके प्रति ओदन की कौन-सी गति स्वाभाविक रूप में होती है, यह प्रति व्यक्ति के प्रारब्ध पर निर्भर करती है। अतः पराक् अर्वाक् आदि भाव न रखकर बृहस्पति सिर से उसके पास पहुँचना और उसी सिर से भक्षण करना तथा ओदन ही ओदन का भक्षण कर रहा है यह भाव रखना चाहिए।

ज्येष्ठ के क्रम से प्रजा की मृत्यु का भाव शरीरस्थ प्रजाओं का भी हो सकता है। ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति भी एक सन्तति है, प्रजा है। यदि बृहस्पति सिर से ओदन का भक्षण न होगा तो कालान्तर में सिर में बुद्धि-भ्रंश हो जाएगा। जरावस्था आने पर वहाँ व्यक्तियों की सर्वप्रथम स्मृति-शक्ति तथा बुद्धि का क्षय हो जाता है। पैप्पलाद संहिता के 'शिरस्ते अवपतिष्यति' का भी यही भाव है।

यहाँ हमें इस बात का भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति ओदन सूक्त में पठित समुचित अंगों से भक्षण न कर अन्य अंगों से भी करते हैं तो क्या उस समय यह अपमृत्यु आदि जो मन्त्रों में पठित हुई हैं, घटित हो जाएगी। इसका समाधान यह है कि प्रायः मनुष्य किसी एक ही अंग में अधिकतर रहता है। उसके अन्न-भक्षण आदि सब क्रिया-कलापों में वह अंग प्रमुख होता है। अतः उसके समुचित प्रयोग होने या न होने पर फल-प्राप्ति निर्भर है। इस समग्र सूक्त का रहस्य हम फिर कभी प्रदर्शित करेंगे। यहाँ केवल बृहस्पति के प्रसङ्ग से सिर द्वारा ओदन भक्षण पर संक्षेप में विचार किया गया।

ब्रह्मणस्पति द्वारा देवताओं को निमन्त्रण

प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥

—ऋ० १।४०।५

इस मन्त्र का सामान्य अर्थ हम सूक्तार्थ में दर्शा चुके हैं। कपि० सं० ७।४

---

१. अर्वाङ्मुख—जिनका ध्यान सदा नीचे के अङ्गों में रहता है।

२. पराङ्मुख—जो ब्रह्म से उदासीन रहते हैं।

३. प्रत्यङ्मुख—जो ब्रह्म से विपरीत रहते हैं। बृहस्पति सिर से तथा ब्रह्ममुख से ओदन खाते हैं। वे सर्वाङ्ग परिपूर्ण होते हैं। सिर का प्रत्येक अंग पूर्ण होता है।

तथा काठक संहिता ८।७ में इस मन्त्र का विनियोग 'आमन्त्रण' में किया गया है। यहां 'आमन्त्रण' से निमन्त्रण देना बुलाना, पुकारना व मन्त्रणा आदि भाव ग्रहण किए गए हैं। मनुष्य भी निमन्त्रण के समय पारस्परिक मन्त्रणा क्रिया करते हैं। निमन्त्रण जीमते हुए राष्ट्रनेताओं ने अनेकों गुत्थियां सुलझाईं। परन्तु यहां मन्त्र में प्रतिपादित निमन्त्रण व आमन्त्रण देवताओं से सम्बन्ध रखता है। देवताओं को निमन्त्रण ब्रह्मणस्पति देता है। और वह देवताओं के उत्थान (उक्थम्) से सम्बन्ध रखता है। वह ब्रह्मणस्पति शरीरस्थ देवों से कहता है कि उठो, जागो और अमुक व्यक्ति के शरीर में अपना-अपना स्थान नियत कर उसमें सक्रिय होओ। इन्द्र, वरुण, मित्र व अर्यमा आदि ब्रह्मणस्पति के निमन्त्रण को स्वीकार करते हैं और मानव-शरीर में अपने-अपने घरों का निर्माण करते हैं (ओकांसि चक्रिरे) इस प्रकार यह मन्त्र विश्वे देवों से सम्बन्ध रखता है। इसी दृष्टि से कहा है **"इत्यामन्त्रणे जुहोति मन्त्रवत्या वैश्वदेव्या"** कपिष्ठल तथा काठक संहिताओं में शारीरिक देवों (कपि० सं० ७।४) का उत्थान किस प्रकार होता है उसकी कुछ प्रक्रिया सांकेतिक भाषा में इस प्रकार दी है—देव तथा मनुष्य ओदन-पचन में साथ-साथ इकट्ठे रहते थे, वहां मनुष्य देवों का अतिक्रमण करने लगे। तब देव मनुष्यों को अन्न में उलझाकर (अन्नं प्रत्युह्य) स्वयं उत्क्रमण कर गार्हपत्य में पहुंच गए। तब मनुष्य भी गार्हपत्य में जा पहुंचे और वहां भी देवों का अतिक्रमण करने लगे। देव मनुष्यों को पशुओं में आसक्त कर वहां से उत्क्रमण कर गए। और आहवनीय में जा पहुंचे। मनुष्यों ने भी उनका अनुगमन करके आहवनीय को आ घेरा। यहां से देव मनुष्यों को यज्ञ में लगा सभा में पहुंच गए। मनुष्यों ने देवों का यहां भी पीछा न छोड़ा। तब देवों ने मनुष्यों को विराट् में अनुरक्त कर आमन्त्रण को अपना आवास बनाया। यहां मनुष्य न पहुंच सके। इसीलिए कहा है—**'एतद्वै देवानां सत्यमनभिजितं यदामन्त्रणं तस्मादामन्त्रणं सु प्रातर्गच्छेत् सत्यमेव गच्छति तस्मादामन्त्रणं नाहूत एयात् तस्मादामन्त्रणे नानृतं वदेत्**। काठ० सं० ८।७

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकरण में देवों का संक्रम-संक्रमण=(अभ्युत्क्रमण) दर्शाया गया है जो कि तालिका में इस प्रकार रक्खा गया है या रक्खा जा सकता है।

	संक्रमण	प्रत्युह्य
१.	ओदनपचनम्+	वह्निर्वै नामौदनपचनः।
२.	गार्हपत्यम्—	अन्नं गृहा गार्हपत्यः।
३.	आहवनीयम्—	पशून् धिष्ण्या आहवनीयः।
४.	सभा	यज्ञ
५.	आमन्त्रणं	विराजम् (कपि० ७।४, काठक ८।७)

यहां देव दिव्य भाव है और कामनाएं व वासनाएं आदि मनुष्य की द्योतक हैं। ओदन पचन-शरीर के क्षेत्र में उदराग्नि है। मनुष्य जब यहां अध्यशन आदि द्वारा अतिक्रमण करने लगे तो देव उन्हें अन्न में आसक्त कर गार्हपत्य अर्थात् अपने घरों में

(इन्द्रिय गोलकों) में जा पहुंचे। उन्हें ही साफ सुथरा रखने लगे। मनुष्यों के यहां भी आ पहुंचने पर सिर रूपी आहवनीय में वे देव उत्क्रान्त कर गए, और ज्ञान-विज्ञान में अपने को लगाया। मनुष्य भी किसी कामना से यहां भी आगए। तब यज्ञ-याग में मनुष्यों को अनुरक्त कर वे देव सभा (सह भान्ति शोभन्ते यत्र) दीप्ति ज्योति की उपलब्धि में प्रवृत्त हुए, तब मानवीय कामनाएं भी संगठित होने लगीं। उन्होंने भी साथ-साथ रहने व कार्य में प्रवृत्त होना प्रारम्भ किया और शरीर के सभी स्थानों को आ घेरा। तब देव विराट् अर्थात् प्रकृति में विचरने लगे तो मनुष्य भी अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रकृति के रहस्यों को खोजने लगे। आधुनिक प्राकृतिक अन्वेषण मानवीय कामनाओं की पूर्ति के लिए ही है। एक प्रकार से कामनाएं ही अन्वेषण कर रही हैं। तब देव आमन्त्रण में जा पहुंचे। आमन्त्रण को भाषा में पुकार कह सकते हैं। यह आमन्त्रण दिव्यता के लिए पुकार है। यह किसी विरले व्यक्ति के हृदय में उठती है। सामान्य मनुष्य की पहुंच से बाहिर है। जब तक कामनाएं विद्यमान हैं तब तक पुकार उठ ही नहीं सकती है। इसलिए मनुष्यों का आमन्त्रण में पहुंचने का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् की प्राप्ति व दिव्यता के लिए हृदय में उत्पन्न होने वाली पुकार ब्रह्मणस्पति की कृपा से पैदा होती है। वहां कहा गया है कि इस आमन्त्रण में प्रातः काल पहुंचे। **"तस्मादामन्त्रणं सुप्रातर्गच्छेत्।"** प्रातः ब्राह्म-मुहूर्त में देव-भाव ही पैदा होते हैं, मानव-भाव नहीं और आमन्त्रण में 'अनृत' न बोले और न उसका आचरण करे।

यह मन्त्र बाह्य आमन्त्रण में भी चरितार्थ हो सकता है। **"सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः"** ये दो कोटियां शास्त्रों ने बताई हैं।

पंचदश अध्याय

अथर्ववेद में बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति

इस अध्याय में ऋग्वेद और अथर्ववेद इन दोनों में सामान्य रूप से पठित सूक्तों व मन्त्रों को न लेकर केवल अथर्ववेद में ही आये मन्त्रों के आधार पर बृहस्पति व ब्रह्मण-स्पति के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

बृहस्पति-प्रसूत औषधियां

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ अथर्व० ६।९६।१

जो सोम राजा वाली बहुसंख्यक सैकड़ों प्रकार की बुद्धियों को बढ़ाने वाली औषधियां हैं जो कि बृहस्पति से उत्पन्न हैं वे हमें पाप से छुड़ावें।

इस मन्त्र से यह ध्वनित होता है कि जो बुद्धिवर्धक औषधियाँ हैं, उनमें बार्हस्पत्य अंश अधिक होता है जो कि ऊर्ध्व से बार्हस्पत्य लोक से आता है। अथर्ववेद के फालमणि सूक्त पर विचार करते हुए इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार से लिखा गया है।

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुर एता ते अस्तु।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरे शत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥

अथर्व० ७।८।(९)१

हे मनुष्य ! यदि तू अपना भद्र व कल्याण चाहता है तो श्रेय की ओर चल। बृहस्पति तेरे आगे चले। हे बृहस्पति ! तू इसे पृथिवी के सर्वश्रेष्ठ, वरणीय प्रदेश में बैठा दे और (आरे शत्रुं) जिसके शत्रु तेरी कृपा से दूर हो गये हैं ऐसे इस मनुष्य को सर्ववीरों से युक्त बना।

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय।
संशितं चित् संतरं संशिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥

अथर्व० ७।१६(१७)।१

हे सर्वप्रेरक बृहस्पते ! तू इसे बढ़ा और महान् सौभाग्य के लिए इसे ज्योतिर्मय बना। (ज्ञान-ज्योति से)। सम्यक् प्रकार से तीक्ष्ण हुए को इस ब्रह्माण्ड में सन्तरण के लिए और भी खूब ही तीक्ष्ण बना। विश्वेदेव इसका अनुमोदन करें।

इस मन्त्र में बृहस्पति को सविता अर्थात् प्रेरक रूप में स्मरण किया गया है। बुद्धि में तीक्ष्णता अर्थात् कुशाग्र बुद्धि होना तथा प्राणों में तीक्ष्णता का यह द्योतक है। उपनिषद् में भी आया है **"अच्युतमसि अक्षितमसि प्राणसंशितमसि"**। आचार्य बृहस्पति शिष्य को अच्युत, अक्षित तथा प्राणसंशित बनाता है।

बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरतादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥

अथर्व० ७।५१(५३)।१

बृहस्पति पीछे, उत्तर तथा अधर में विद्यमान पापाचारी शत्रु से हमारी रक्षा करे। यह हमारा सखा इन्द्र हम सखाओं के लिए वरीयता पैदा करे।

राष्ट्र पक्ष में इस मंत्र का भाव यह है कि बृहस्पति अर्थात् ब्राह्मण हमारी पीठ पीछे से ऊर्ध्व से तथा नीचे से रक्षा करे। ब्राह्मण राष्ट्र में तथा देश-विदेश में सर्वत्र विचरते हैं। अतः पीठ पीछे षड्यन्त्रकारी शत्रु का पता लगाना उनके लिए सुगम है। पीठ पीछे का भाव असावधानता भी है। ऊर्ध्व से रक्षा में दैवी विपत्ति, मस्तिष्क में व्याधि आदि उपद्रवों का ग्रहण हो सकता है। इसी प्रकार अधर के शत्रु पृथिवी से सम्बन्ध रखते हैं। पृथिवी से उत्पन्न होने वाली सस्य-सम्पदादि के विघातक शत्रुओं का विनाश करना भी ब्राह्मणों का काम है। परन्तु मध्य में प्रविष्ट तथा सामने से आक्रमण करने वाले शत्रुओं का विनाश क्षत्रियों के प्रतिनिधि इन्द्र अर्थात् राजा ही कर सकता है। यह मन्त्र इसी भांति पिण्ड में घटाया जा सकता है।

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः ।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥

अथर्व० ७।५३(५५)।१

हे मनुष्य ! तू परलोक सम्बन्धी यम की हिंसा से तथा बृहस्पति की हिंसा से मुक्त हो गया है। हे अश्वियो ! हम से मृत्यु को दूर रखो। हे अग्नि ! तू देवों की शक्तियों से तथा भैषज्य से मृत्यु को दूर रख।

बृहस्पति द्वारा की जाने वाली हिंसा एक प्रकार से ज्ञान का विलोप है। दुर्विनीत तथा अनुशासन-हीन शिष्य को अज्ञान के गर्त में फेंकदेना समुचित शिक्षा न देना, अभिशप्त करना बृहस्पति सम्बन्धी हिंसा है।

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम् ।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ अथर्व० ७।१०४।१

बृहस्पति के साथ मित्रता का सेवन करने वाला कौन व्यक्ति वरुण द्वारा अथर्वा को प्रदत्त सुदुघा तथा नित्यवत्सा पृश्नि धेनु से इच्छानुसार स्वशरीरों का निर्माण कर लेता है ? यह मन्त्र का सामान्य अर्थ है। इसमें क्या रहस्य है यह हम यहां देखते हैं। यहां कई बातें विचारणीय हैं। पृश्नि धेनु क्या है ? वरुण द्वारा अथर्वा को इस पृश्नि गौ को दिये जाने का क्या रहस्य है ? नित्यवत्सा का क्या तात्पर्य है ? बृहस्पति की मित्रता का क्या तात्पर्य है, व प्रभाव है ? अब हम संक्षेप में इन पर विचार करते हैं।

पृश्नि धेनु

पृश्नि धेनु का अति संक्षिप्त विवेचन ही हम यहां प्रस्तुत करते हैं। निरुक्त में पृश्नि आदित्य को कहा है। द्युलोक भी पृश्नि है। शरीर में यह मस्तिष्क है। पृश्नि

चितकबरे को भी कहते हैं। नानाविध रंगों से जो अभिव्याप्त है अथवा नाना प्रकार के रसों व ज्योतियों से जो भरपूर है वह भी पृश्नि है। **'प्राश्नुत एनं वर्णः'** निरु० २।१४ सप्तरंगी वर्ण इसमें प्रकृष्ट रूप से व्याप्त हैं। नाना वनस्पतियों व औषधियों में जो अनेक प्रकार के रंग उद्भूत होते हैं वे इसी आदित्य के स्पर्श (पृश्नि+स्पृश धातु) से होते हैं। नाना प्रकार के षड् रसों से भरपूर ये अन्न व औषधि आदि आदित्य ज्योति के स्पर्श से ही पृश्नि बनते हैं। कहा भी है—

संस्प्रष्टा रसान् संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां संस्पृष्टोभासेति वा।

नि० २।१४

क्योंकि अन्न रसों से भरपूर होते हैं अतः अन्न भी पृश्नि है। कहा भी है—

अन्नं वै देवाः पृश्नीति वदन्ति। ता० ब्रा० १२।१०।२४

अन्नं वै पृश्निः। श० प० ८।७।३।२१

पिण्ड में मस्तिष्क भी पृश्नि है क्योंकि नानाविध ऐन्द्रियिक ज्योतियों से यह भरपूर है और नाना प्रकार के मेधा-रसों के कारण भी यह मस्तिष्क पृश्नि है। किसी विशिष्ट रंग का चढ़ना, किसी विशिष्ट दिव्य ज्योति का स्पर्श व उसकी उपलब्धि होना, विद्या-रस व योगरस से भरपूर होना पृश्नि बनना है। यह पृश्नि-धेनु किसे उपलब्ध होती है? इसका वेद में उत्तर दिया—अथर्वा को। जो व्यक्ति अथर्वा (न+थर्वा) कम्पन रहित है, निश्चल नीरव है, अचंचल है, ऐसे शान्त, निश्चल, नीरव व्यक्ति को यह पृश्नि-धेनु वरुण देवता देता है। वरुण देव हमारे शरीर के विजातीय तत्त्वों, व्याधि-बीजों, पापों को पकड़कर बाहिर करता है। अर्थात् शरीर व मस्तिष्क में जो बुरे विचार, पाप, चचलता, अस्थिरता आदि के भाव आते हैं उन्हें वरुण हटाते हैं, तब यह मस्तिष्क पृश्नि धेनु बनता है। इसी अवस्था में यह मस्तिष्क रूपी धेनु सुदुघा अर्थात् रसों को दुहने वाली होती है, नाना प्रकार के विद्या-रसों का उससे दोहन होता है और यह नित्यवत्सा बनती है। बुद्धि रूपी सूर्य इसका वत्स बनता है जिस समय चाहो बुद्धिवत्स का इससे सम्पर्क कर ज्ञान-रस का दोहन कर लो। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि मस्तिष्क का पृश्नि धेनु बनना बृहस्पति आचार्य की कृपा से होता है। इसीलिए बृहस्पति की मित्रता प्राप्त करना अभीष्ट है।

उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः। अथर्व० ७।११०(११५)।३

तुमको बृहस्पति देव ने चमस के द्वारा पकड़ रक्खा है। चमस के ऊपर हमने 'ऋभु देवता' पुस्तक में विस्तार से विचार किया हुआ है। वेद में "चमसो देवपानः" ऐसे प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। चमस देवताओं के पान (अमृत-पान) का साधन है। इसकी व्युत्पत्ति होगी 'आचामति येन सः' 'चमन्त्यस्मिन्निति वा' अर्थात् जिससे आचमन किया जाये वह पात्र चमस है अथवा जिसमें अन्न भक्षण करें वह चमस है। बृहस्पति मस्तिष्क में स्थित है, यह इन्द्रियों द्वारा ज्ञान-रस का पान किया करता है। शिष्यों को उसने चमसों (इन्द्रियों) द्वारा पकड़ा हुआ है, वह शिष्यों के सम्बन्ध में सब

प्रकार का ज्ञान रखता है। चमु धातु के णिजन्त प्रयोग मानने पर भाव यह होगा कि बृहस्पति आचार्य अपनी ऐन्द्रियिक दिव्य शक्तियों द्वारा शिष्य में प्रवेश कर उन्हें ज्ञान-रस का पान कराता है। स्वामी दयानन्द ने चमस का एक अर्थ यज्ञ-साधन अर्थात् यज्ञ-पात्र भी किया है। इन यज्ञ-साधनों से बृहस्पति ने यजमान को पकड़ा हुआ है। वह यजमान को यज्ञ करने के लिए प्रेरित करता रहता है।

पराजिताः प्रत्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ अथर्व० ८।८।१९

अमित्र (शत्रु) पराजित हो गये हैं, डर गये हैं। हे शत्रुओ! ब्रह्मशक्ति (मन्त्र-शक्ति) द्वारा प्रेरित (प्रहार किये गये) हुए तुम दूर भाग जाओ। क्योंकि बृहस्पति द्वारा भगाये हुओं में से कोई भी छूट नहीं सकता।

इस मन्त्र में शत्रुओं को विनष्ट करने के लिए ब्रह्मशक्ति का उपयोग बताया गया है। ब्रह्म वेद व मन्त्र के लिए भी आता है। वेद-मन्त्र से शत्रु को भगाना व विनष्ट करना अभिचारिक कर्म है।

त्रिषन्धि और बृहस्पति

अथर्व० ११।१०।६-१३ इस सूक्त का देवता त्रिषन्धि है, इसका क्या स्वरूप है यह हम संक्षेप में देखते हैं।

त्रिषन्धि एक वज्र है। यथा **"वज्रेण त्रिषन्धिना"**—अथर्व० ११।१०।३,२७

वज्रं यमसिचत—अथर्व० ११।१०।१२

इस त्रिषन्धि वज्र को "वधम्" अर्थात् शत्रुओं का वध करने वाला शत्रु भी कहा है। यह किन शत्रुओं का वध करता है? असुरों का 'असुरक्षयणं वधम्'। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह वज्र केवल भौतिक वज्र ही नहीं, आध्यात्मिक वज्र भी हो सकता है। त्रिषन्धि=(त्रि+सन्धि) पद तीन की सन्धि को बताता है। अर्थात् जिन तीन के सन्धान से असुरों व शत्रुओं का नाश हो जाता है वे त्रिसन्धि वज्र कहलायेंगे। अध्यात्म क्षेत्र में उदर, हृदय तथा मस्तिष्क इन तीन की सन्धि भी त्रिषन्धि है। अर्थात् इन तीनों की सन्धि करके बृहस्पति के वास-स्थान मस्तिष्क में स्थित हो शत्रु पर प्रहार करना है। पाप आदि आसुरी शक्ति पर प्रहार करना है। अथवा तीनों मस्तिष्कों को समस्वर कर बृहस्पति के अधीन करना भी वज्र का निर्माण करना है। तीनों मस्तिष्कों को ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में सतत सक्रिय रखना बृहस्पति के अधीन कर लिया है ऐसा समझना चाहिए। अथवा अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय क्षेत्रों को बृहस्पति के पथ-प्रदर्शन में रखना भी त्रिषन्धि वज्र का निर्माण करना है। एक मन्त्र है—

यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते। अथर्व० ११।१०।९

हे बृहस्पति ! तूने जिस संधा=सन्धान को इन्द्र-शक्ति (क्षात्रशक्ति) तथा ब्रह्मशक्ति से पूरा किया है, तैयार किया है, उस सन्धान से मैं शत्रुओं का विनाश करता हूं और देवों का आह्वान करता हूं।

राष्ट्र पक्ष में इन्द्र=राजा, ब्रह्म=वेद व परमात्मा तथा बृहस्पति ब्राह्मण इन तीनों के सन्धान से राष्ट्र के शत्रुओं का विनाश होता है और देव-पुरुषों की उत्पत्ति होती है। शरीर के क्षेत्र में इन्द्र=आत्मा या दिव्यमन, ब्रह्म=वेद तथा बृहस्पति ब्राह्मी शक्ति इन तीनों का सम्यक् मिलन आन्तरिक शत्रुओं के लिए वज्र का काम करता है और दिव्य शक्तियों के उत्थान में हेतु बनता है।

"असुरक्षयणं वधं त्रिषन्धिं दिव्याश्रयन्" । अथर्व० ११।१०।१०

आंगिरस बृहस्पति तथा ब्रह्मशक्ति से संशित, तीक्ष्णीकृत ऋषि लोग इस असुर विनाशक त्रिषन्धि वज्र को द्युलोक तथा मस्तिष्क में आश्रय देते हैं, धारण करते हैं। देवता इस त्रिषन्धि वज्र का आश्रय अपने अन्दर ओज व बल पैदा करने के लिए करते हैं। और इस त्रिषन्धि की आहुति द्युलोक में तथा पिण्ड में मस्तिष्क में कर देने से बुद्धि-बल बढ़ता है और सब लोकों पर विजय प्राप्त होती है।

अथर्व० ११।१०।११,१२ मन्त्र में कहा कि इस त्रिषन्धि वज्र को बृहस्पति अपने ज्ञान-रस से सींचता रहता है। 'त्रिषन्धि' को इषु भी कहा गया है। 'विष्णु देवता' पुस्तक में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

बृहस्पति-प्रदत्त वधू

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ।।

अथर्व० १४।१।५२

हे प्रजावति पत्नी। मेरी तू पोष्या है क्योंकि बृहस्पति आचार्य ने मुझे तुझको सौंपा है। मुझ पति के साथ तू सौ वर्ष तक जीवित रह।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि पति-पत्नी का निर्वाचन आचार्य के हाथ में होना चाहिए। क्योंकि वह दोनों के स्वभाव व गुण-कर्म को भली भांति जानता है।

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् । अथर्व० १४।१।५३

बृहस्पति तथा क्रान्तदर्शी पुरुषों की आज्ञा या निरीक्षण में त्वष्टा ने इसके कल्याण के लिए वस्त्र या निवास बनाया है।

यहां 'वासः' पद 'वस आच्छादने' या 'वस निवासे' दोनों धातुओं से बन सकता है। अतः वस्त्र तथा निवास दोनों अर्थों में यह लग सकता है। वस्त्र से आच्छादक स्थूल, सूक्ष्म आदि शरीरों का भी ग्रहण हो सकता है और इसी प्रकार निवास अर्थ में भी कई प्रकार के निवास-स्थान हो सकते हैं।

बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत् ।

अथर्व० १४।१।५५

बृहस्पति ने सर्वप्रथम सूर्या के सिर में केशों को संवारा। बृहस्पति की दिशा ऊर्ध्व दिशा है, वह अन्तरिक्ष में अभिव्याप्त है। सूर्य से पृथक् होकर जब सूर्य-किरण चन्द्रमा की ओर जाती है तब वह बृहस्पति के क्षेत्र से गुजरती है। बृहस्पति उसके केश स्थानीय किरणाग्र को समर्थ बनाता है, शक्ति प्रदान करता है। इसी भाँति जब ब्रह्मचारिणी आचार्य-कुल से पतिकुल को जाती है तब बृहस्पति स्थानीय आचार्या सर्वप्रथम उसके केशों को संवारती है तथा अन्य अलंकार आदि धारण करने की आज्ञा देती है।

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन् ।
वर्चो-तेजो-भगो-यशो-पयो-रसो गोषु प्रविष्टं यत्न । तेनेमां सं सृजामसि ।

अथर्व० १४।२।५३-५८

स्नातकोत्तरान्त बृहस्पति आचार्य द्वारा विद्या-केन्द्र से मुक्त की गई इस कन्या को विश्वेदेवों अर्थात् समाज में विद्वानों ने धारण किया। जो वर्चस्, तेज, भग, यश, पय तथा रस आदि इस पृथिवी पर विद्यमान है, इन सब रसों आदि को इस कन्या में वे देव प्रविष्ट करते हैं अर्थात् कन्या को प्रदान करते हैं।

इन उपर्युक्त मन्त्रों का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बाह्य ब्रह्माण्ड में बृहस्पति के क्षेत्र से मुक्त होकर सूर्य-किरण आगे-आगे प्रसृत होती है तब वह समग्र देवशक्तियों के वर्चस्, तेज तथा सोमरस आदि को लेते हुए चलती है, उसी भांति यह कन्या ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए सब प्रकार के वर्चस् व तेज आदि को लिए हुए प्रविष्ट हो, यह आशा की गई है। क्योंकि अभी तक वह बृहस्पति आचार्य के गर्भ में विद्यमान थी।

व्रात्य और बृहस्पति

अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्रविशावेति ।
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्रविशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ।
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ।
इयं वा उ पृथिवी बृहस्पति द्यौरेवेन्द्रः ।
अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम् ।
ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ।
यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ।
ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ।
य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ।। अथर्व० १५।१०।३-११।।

यह पर्याय-सूक्त व्रात्य सम्बन्धी है। जिस राजा के गृह में 'व्रात्य' अतिथि बनता है, उसकी दिव्यशक्तियों के प्रभाव से प्रजाओं में ब्रह्म और क्षत्र-शक्तियां प्रादुर्भूत हो जाती हैं। ब्रह्मशक्ति बृहस्पति में प्रविष्ट हो जाती है और क्षत्र-शक्ति इन्द्र में। इन दोनों शक्तियों का क्षेत्र-विभाग निम्न प्रकार है—

ब्रह्म	क्षत्र
बृहस्पति	इन्द्र
पृथिवी	द्यौ
अग्नि	आदित्य
ब्रह्मवर्चस्वी	इन्द्रियवान्

इस प्रकार उपर्युक्त तालिका से इन शक्तियों का लोकों में किस प्रकार प्रसार है, यह ज्ञात होता है। बृहस्पति और इन्द्र दोनों की मध्य स्थान में स्थिति है। इनका पृथिवी और द्यौ से निम्न प्रकार सम्बन्ध समझा जा सकता है। अर्थात् "द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" द्यु इन्द्र के द्वारा गर्भ धारण करती है तो पृथिवी बृहस्पति के द्वारा। बृहस्पति ही वृष्टि द्वारा पृथिवी पर आकर उसमें प्रविष्ट होता है। इसी प्रकार प्रजाओं में बार्हस्पत्य ज्ञान ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान ऊर्ध्व से आता है। यह सब प्रभाव व्रात्य-अतिथि का है।

बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः। अथर्व० १६।३।५

मेरा आत्मा बृहस्पति है अर्थात् ज्ञान-विज्ञान से युक्त है और यह नृमण=नृ+मना (मनु अवबोधने) नृ अथवा नर शब्द शरीर की नेतृशक्तियों के कारण मनुष्य को दिया जाता है। ये शक्तियां शरीर को ले चलती हैं। उन शारीरिक शक्तियों को यह आत्मा बृहस्पति बन उद्बुद्ध करती है और इसका निवास स्थान हृदय है।

आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपा गहि।
अथो भगस्य नो धेह्यथो न सुहवो भव।
बृहस्पतिर्म आकूतिमांगिरसः प्रति जानातु वाचमेताम्।
यस्य देवा देवताः संबभूवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वेत्वस्मान्॥

अथर्व० १९।४।३,४

हे बृहस्पते! हमारे संकल्प बल से तू हमारे पास आ। हमें ऐश्वर्य प्रदान कर तथा हमारे लिए तू सुहव्य हो। वह अंगिरस बृहस्पति मेरी संकल्प वाली वाणी को जाने। जिस बृहस्पति के सब देव और देवता (पु० स्त्री०) वश में होते हैं और सुप्रणीत होते हैं वह काम (कामना के योग्य) बृहस्पति हमें प्राप्त हो।

यह मन्त्र बृहस्पति परमात्मा तथा मानव दोनों रूपों में घटता है।

"बृहस्पतिर्मा विश्वैर्देवैरूध्वार्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिंछ्रये तां पुरं प्रैमि। स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परिददे स्वाहा ॥

अथर्व० १६।१७।१०

बृहस्पति विश्वेदेवों के द्वारा मेरी ऊर्ध्व दिशा से रक्षा करे। उसमें मैं क्रमण करता हूं, उसमें आश्रय लेता हूं, उस पुरी में प्रवेश करता हूं। वह बृहस्पति मेरी रक्षा करे, उसे मैं अपने आपको सौंपता हूं।

बृहस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु।
ये माघायव ऊर्ध्वाया दिशो अभि दासात्। अथर्व० १६।१८।१०

जो हिंसक पापी ऊर्ध्व दिशा से मेरी हिंसा करना चाहते हैं वे विश्वेदेवों से युक्त बृहस्पति के पास पहुंच मृत्यु को प्राप्त हों।

येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन्।
तेनेमं ब्रह्मणस्पते परिराष्ट्राय धत्तन। अथर्व० १६।२४।१

जिससे देवों ने सविता देव को चहुं ओर धारण किया हुआ है। हे ब्रह्मणस्पते उससे इस जन को राष्ट्र के लिए धारण करो।

इस मन्त्र का ऋषि अथर्वा है, जिसका तात्पर्य है अचंचलता निश्चल नीरवता। इसी अचंचलता के बल से सबके प्रेरक तथा उत्पादक सविता भगवान् को सब देवों, ब्रह्माण्ड की देव-शक्तियों तथा विद्वानों ने उसे चहुं ओर से धारण किया हुआ है। अर्थात् सब ओर वह सविता ही है। इसी प्रकार राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को वह सबका गुरु ब्रह्मणस्पति चहुं ओर से पकड़े रखता है।

अथर्व० १६।२३।३० में ब्रह्मा के सम्बन्ध में आता है—

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥

ब्रह्म को ज्येष्ठ मानकर सब वीर्य अर्थात् सब शक्तियाँ एकत्रित हुए हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म ने ज्येष्ठ द्यु को ताना, भूतों में सर्वप्रथम ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। अतः इस ब्रह्मा से कौन स्पर्धा कर सकता है।

पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्।
अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ॥

यह बृहस्पति सविता मुझे पशुओं से पय, औषधियों से रस प्रदान करे जिससे कि मैं पशुओं का अधिपति बन जाऊं। वह पुष्टपति (बृहस्पति) मुझ में पुष्टि धारण करावे।

यहां बृहस्पति को सविता रूप में अर्थात् प्रेरक व उत्पादक रूप में स्मरण किया गया है। बृहस्पति का रसों व दुग्ध आदि से सम्बन्ध है क्योंकि वह द्यु से रसों की वृष्टि करता है।

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ अथर्व० १६।६२।१

हे ब्रह्मणस्पते आचार्य ! मुझे देवों अर्थात् ब्राह्मणों में प्रिय बना, राजाओं अर्थात् क्षत्रियों में प्रिय कर, वैश्य, शूद्र और दृष्टि शक्ति वाले सब में प्रिय बना ।

ब्रह्मणस्पति भगवान् का रूप तो है ही पर यहां द्वितीय जन्मदाता आचार्य का भी ग्रहण किया जा सकता है ।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्ति यजमानं च वर्धय । अथर्व० १६।६३।१

हे ब्रह्मणस्पते ! उठ जाग, देवों अर्थात् दिव्य शक्तियों का यज्ञ द्वारा उद्बोधन कर । आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति तथा यजमान को प्रवृद्ध कर ।

षोडश अध्याय

पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विद्वानों का बृहस्पति सम्बन्धी अभिमत

सायणाचार्य और बृहस्पति

सायणाचार्य का वेदभाष्य कर्मकाण्ड परक है, यज्ञ सम्बन्धी विनियोग के आधार पर देवताओं का स्वरूप निर्धारण किया गया है। इस सम्बन्ध में हम सर्वप्रथम ऋ० चतुर्थ मण्डल के ५०वें सूक्त पर ही दृष्टिपात करते हैं। प्रथम मन्त्र के भाष्य में वह लिखता है कि **'यो बृहस्पतिर्बृहतो देवस्य यज्ञस्य वा पालयिता देवः'** अर्थात् जो बृहस्पति देवता अथवा यज्ञ का पालक है, वह देव कौन है, यज्ञ का स्वरूप क्या है, यह कुछ स्पष्ट नहीं किया। इसी प्रकार **'त्रिषधस्थ'** त्रिषु स्थानेषु वर्तमानः अर्थात् तीन स्थानों में वर्तमान, वे तीन स्थान कौन से हैं, यह भी खोला नहीं। इसी प्रकार **'विप्रा मेधाविनो यजमानादयः'** विप्र मेधावी यजमान हैं। इस प्रथम मन्त्र से ही स्पष्ट है कि सायणाचार्य ने कर्मकाण्ड की सीमा में ही बृहस्पति देवता को ला बैठाया है। वह यज्ञ क्या है? किस क्षेत्र का यह यज्ञ हो सकता है इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण नहीं किया। कर्मकाण्ड सम्बन्धी परिभाषाओं का जो चौखटा है उसमें ला बैठाया है। यदि यज्ञ के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी परिभाषाओं का आधुनिक भाषा में एक युक्तियुक्त तथा बोधगम्य विवेचन किया होता तो बृहस्पति का वेद क्या स्वरूप बताता है यह स्पष्ट हो जाता।

तृतीय मन्त्र में बृहस्पति को स्वर्ग में निवास करने वाला बताया है। **'हे बृहस्पते या प्रसिद्धा परमोत्कृष्टा परावदत्यन्तं दूरभूता वसतिः स्वर्गाख्यास्ति'** हे बृहस्पते! जो अत्यन्त प्रसिद्ध और परम उत्कृष्ट स्वर्ग-स्थान है, वहां से तू यज्ञ में आ और पाषाण से निःस्यूत सोमरस का पान कर।

चतुर्थ मन्त्र बृहस्पति की उत्पत्ति का वर्णन करता है। वह सप्तरश्मि है, अन्धकारों को दूर करने वाला है। इस प्रकार बाह्य ब्रह्माण्ड में यह स्पष्ट रूप में सूर्य की ओर संकेत है। परन्तु सायणाचार्य ने 'महोज्योतिषः' प्रदीप्त आदित्य के परम व्योम में समुत्पन्न बृहस्पति को माना है पर वह बृहस्पति कौन है? इस सम्बन्ध में केवल **'अयं बृहस्पतिर्मन्त्राभिमानी देवः'** यह बृहस्पति मन्त्र का अभिमानी देव है—इतना ही लिखकर स्पष्टीकरण में कुछ नहीं लिखा। ये भाष्य पढ़कर मनुष्य कर्मकाण्ड सम्बन्धी परिभाषाओं की भूलभुलैयों में ही भटकता रहता है उसे कोई स्पष्ट तथा वैज्ञानिक बोध नहीं हो पाता।

सप्तम मन्त्र में आता है कि "**यो बृहस्पतिं बृहतां महतां पालयितारं देवमुक्त-लक्षणं पुरोहितं वा**" जो यजमान राजा बड़ों के पालन करने वाले बृहस्पति नामक देव को—अथवा पुरोहित को। इस प्रकार बृहस्पति को पौराणिक स्वरूप का देव माना है अथवा करके बृहस्पति से पुरोहित का भी ग्रहण किया है।

नवें मन्त्र में "**ब्रह्मणे ब्राह्मणाय वा प्रीणनमिच्छते बृहस्पतय वा**" ब्रह्मणे पद से ब्राह्मण तथा बृहस्पति दोनों का ग्रहण किया है अथवा बृहस्पति ही ब्राह्मण का वाचक है, यह कहा जा सकता है। ब्रह्मणस्पति शब्द भी बृहस्पति का ही वाचक है। पर ब्रह्मणस्पति पद से उसकी क्या विशेषता पता चलती है। यह विचारणीय है। सायणाचार्य ऋ० २।२३।१ मन्त्र में आये ब्रह्मणस्पति का अर्थ करते हैं '**हे ब्रह्मणस्पते ब्रह्मणो अन्नस्य परिवृढस्य कर्मणो वा पते पालयितः।** ब्रह्म अर्थात् अन्न अथवा परिवर्धित कर्म का स्वामी। तीसरा अर्थ करते हैं "ब्रह्मणां मन्त्राणां स्वामिन" ब्रह्म अर्थात् मन्त्रों के स्वामी। द्वितीय मन्त्र में "विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि" विश्वेषां सर्वेषां ब्रह्मणां मन्त्राणां जनिता जनयितैवासि। अर्थात् सम्पूर्ण मन्त्रों का बनाने वाला यह बृहस्पति है। 'ब्रह्मद्विषस्तपनः' (चतुर्थ मन्त्र) का अर्थ करता है, '**'ब्रह्मणां ब्राह्मणानां मन्त्राणां द्वेष्टुस्तापकोऽसि**" अर्थात् जो ब्राह्मणद्वेषी अथवा मन्त्रद्वेषी हैं उनको यह तपाता है, दुःख देता है, उनको भस्मसात् करता है। इस मन्त्र में बृहस्पति का विशेषण 'विचक्षणः' है इसका सायणाचार्य 'सर्वज्ञ' अर्थ करता है अर्थात् यहाँ बृहस्पति परमात्मा का वाचक है, ऐसा कई कह सकते हैं, परन्तु हमारे विचार में सायणाचार्य ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति पदों से एक देव-विशेष ही मानते हैं परमात्मा नहीं। हमारे इस विचार की परिपुष्टि निम्न मन्त्र के सायणाचार्य के व्याख्यान से हो जाती है। मन्त्र १९वें में कहा है '**हे ब्रह्मणस्पते ब्रह्मणां स्तोत्राणामधिपते अस्य जगतोयन्ता नियामकस्त्वं**' स्त्रोतों के अधिपति हे ब्रह्मणस्पति तू इस जगत् का नियामक है, यह सन्दर्भ ब्रह्मणस्पति को परमात्मा बता रहा है पर आगे मन्त्र के व्याख्यान में सायणाचार्य कहते हैं 'भवादृशा देवाः' आप जैसे देव इससे यह स्पष्ट है कि ब्रह्मणस्पति को अन्य सब देवों के समान एक देव ही मानते हैं। शास्त्रों में बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति देवता को ब्रह्मशक्ति अर्थात् ब्राह्मणों का आदिस्रोत माना गया है। और इन्द्र को क्षत्र-शक्ति अर्थात् क्षत्रियों का प्रतिनिधि माना गया है। ब्राह्मणों का कार्य अध्ययनाध्यापन, तथा यज्ञ-यागादि करना कराना माना गया है। और क्षत्रियों का प्रमुख कार्य शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करना, युद्ध करना, शत्रुओं के पशु व धन आदि का हरण करना आदि माना गया है। परन्तु वेदों में हमें अनेकों ऐसे मन्त्र दृष्टिगोचर होते हैं जहाँ कि बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति के रणसंग्राम में जाकर शत्रुओं से युद्ध करने का विधान है, उनको मारना तथा धन आदि को अपने अधीन कर लेने का आदेश हुआ है जोकि क्षत्रिय का कार्य है। इसका समाधान हमारे विचार में यह है कि शत्रुओं से युद्ध ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों करते हैं और उनके धन आदि का भी अपहरण करते हैं पर बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति का प्रमुख रूप से आन्तरिक आसुरी शक्तियों से युद्ध होता है। आठवें मन्त्र में सायणाचार्य लिखता

है—"**कर्णयोनयः श्रोत्रेन्द्रियेण ग्राह्याः मन्त्रभूता आकर्णकृष्टा वा बाणाः ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रैरेव सर्वं साधयतीति ।**" अर्थात् ब्रह्मणस्पति के बाण मन्त्र हैं, वह मन्त्रबल से शत्रुओं का नाश करता है और क्षत्रियों में युद्ध आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं से होता है। आन्तरिक शत्रुओं से युद्ध तो सभी को करना होता है, पर बाह्य शत्रु से युद्ध प्रमुख रूप से क्षत्रियों का होने पर भी आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण को भी रण-संग्राम में जाने का विधान है, इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र अवलोकनीय है—

अनानुदो वृषभोजग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः ।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद्दमिता वीडुहर्षिणः ।।

ऋ० २।२३।११

सबसे पूर्व अपने आपको देने वाले, समर्पित करने वाले अर्थात् सब कामों में अग्रणी, कामनाओं की वर्षा करने वाले, आह्वान होने पर युद्ध में जाने वाले शत्रु को निःशेष रूप में तपा देने वाले, सेनाओं में युद्धों में शत्रुओं का अभिभव करने वाले, हे ब्रह्मणस्पति ! तू सत्य प्रतिज्ञ है, ऋण को उतारने वाला है। उग्र तथा अत्यन्त कामी पुरुष का तू दमन करने वाला है।

यह मन्त्र बाह्य तथा आन्तरिक दोनों युद्धों में एक समान घट सकता है पर हमें इस मन्त्र को आन्तरिक युद्ध में ही अथवा आध्यात्मिक युद्ध में घटाने का प्रयत्न करना चाहिए। अगले मन्त्र में '**अदेवेन मनसा यो रिषण्यति**' अदिव्य मन से जो हमारी हिंसा करता है—इत्यादि वाक्य भी आन्तरिक युद्ध की ओर अधिक संकेत करते हैं।

सायणाचार्य ने 'अदेवेन मनसा' वाक्य का 'देवानमन्यमानेन' अर्थ अति संकुचित किया है।

ऋ० २।२३।१० में बृहस्पति से शुद्ध, पवित्र तथा परिपूर्ण जीवन बनाने की प्रार्थना की गई है। अभिदिप्सुः चहु ओर दम्भ की इच्छा वाले तथा 'दुःशंसः' बुरी बातों की प्रशंसा करने वाले हमारे ईश-स्वामी न बनें, यही कामना की गई है। यह सब आन्तरिक युद्ध, आन्तरिक सर्जन व आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर संकेत करता है। परन्तु सायणाचार्य ने 'त्वया वयमुत्तमंधीमहेवयः' इस वाक्य में 'वयः' का अर्थ जीवन व आयुष्य अर्थ न करके "हविर्लक्षणमन्नं" हवि रूप अन्न अर्थ किया है। यह अर्थ भी उच्चकोटि का नहीं है, क्योंकि सायणाचार्य कर्मकाण्ड परक भाष्य ही करता रहा है इसलिए तदनुकूल अर्थ में ही उसकी प्रीति रही है, चाहे वह गौण ही क्यों न हो। इस प्रकार हमने अति संक्षेप से सायणाचार्य का बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति-सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया। यह केवल दिग्दर्शन मात्र है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सायणाचार्य ने वेदों का कर्मकाण्ड परक भाष्य किया है। कर्मकाण्ड की परिभाषाओं को आधुनिक भाषा में स्पष्ट न करते हुए केवल मात्र उन परिभाषाओं के दायरे में सब देवताओं को बन्द कर दिया है। इस अवस्था में उन देवताओं का गुह्य रूप कैसे प्रकट हो सकता था ? उन देवताओं का आध्यात्मिक क्षेत्र में श्री अरविंद द्वारा तथा बाह्य

क्षेत्रों में स्वामी दयानन्द द्वारा जैसा विशद बुद्धिगम्य विवेचन हुआ है वह कर्मकाण्ड की जटिल विधियों व परिभाषाओं के आवरण में सम्भव नहीं है। उव्वट, महीधर ने भी अपने यजुर्वेदभाष्य में कर्मकाण्ड का ही अवलम्बन किया है। ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति को देवों का गुरु माना है। उनके भाष्य से कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

बृहस्पतिर्वै देवानाँ ब्रह्मा—यजु० २।१२

बृहतां साम्नां पतिः—यजु० १०।५ महीधर

बृहताँ वेदानाँ पतिः—यजु० २२।६ ,,

बृहस्पतये वाचस्पतये—वाचो वाण्याः पतये इति बृहस्पति विशेषणम्
यजु० २४।३६ उव्वट, महीधर

बृहतां महताँ पतिर्वातः तस्मै—यजु० ३८।८ ,,

अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं पवते—श० प० १४।२।२।१०

इस प्रकार ये उपर्युक्त उद्धरण यजु० उव्वट महीधरकृत भाष्य से दिये हैं। ये भी कर्मकाण्ड की सीमा में ही रहते हुए वृहस्पति का स्वरूप दर्शाते हैं।

संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी—(मोनियर विलियम) में वृहस्पति के सम्बन्ध में आता है—

Lord of prayer or devotion, of a deity (in whom piety and religion are personified, he is the chief offerer of prayers and sacrifices and therefore represented the type of the priestly order and the Purohita of the gods with whom he intercedes for man. in later times he is the God of wisdom and eloquence to whom verious works are ascribed. He is also regarded as son of Angiras.

प्रार्थना और भक्ति का स्वामी, वह देवता जिसमें पवित्रता तथा धर्म का मानवीकरण हो गया है। प्रार्थनाएं तथा यज्ञादियों का प्रमुखकर्ता, इसलिए पौरोहित्य कर्म का प्रतिनिधि देवताओं का पुरोहित जिनसे मनुष्यों की वह वकालत करता है पश्चाद्वर्तीकाल में वह बुद्धि तथा वाक्-शक्ति का देवता माना जाने लगा। जिसको भिन्न-भिन्न प्रकार के वहुत से तत्सम्बन्धी कार्य करने वाला बना दिया गया वह अंगिरस ऋषि का पुत्र कहाता है।

वैदिक माइथोलोजी में बृहस्पति

मैक्डोनल रचित वैदिक माइथोलोजी का हिन्दी रूपान्तरण श्री डा० सूर्यकान्त ने 'वैदिक देव शास्त्र' नाम से किया है। मैक्डोनल ने देवताओं के स्वरूप निर्धारण में मन्त्रों में देववाणी में लिखित स्वरूप को अपनी भाषा में रूपान्तर मात्र किया है, वह स्वरूप क्यों है, उसमें कोई रहस्य है कि नहीं, वे नाना रूप किसी अन्य शक्तियों के

द्योतक हैं कि नहीं, इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण नहीं किया । बृहस्पति के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है । यथा—वे सप्तमुख हैं, और सप्तरश्मि हैं । वे मन्द्रजिह्व तीक्ष्णशृंग, नीलपृष्ठ और शतपक्ष हैं । वे हिरण्यवर्ण लोहितवर्ण, भास्वर, शुचि और सुव्यक्तध्वनि वाले हैं । उनके पास तीक्ष्णतीर और एक धनुष है जिसमें ऋत की डोरी लगी है । वे हिरण्यवाणी लिये हैं, और उनके हाथ में आयस कुल्हाड़ी भी है जिसे स्वयं त्वष्टा ने पैना किया था, उनके पास एक रथ है और यह रथ ऋत का बना हुआ है । फलतः यह रथ यातुधानों को कीलता गोव्रजों को तोड़ता और प्रकाश को जीतता है । इस रथ को लोहित-वर्ण अश्व खींचते हैं ।" वेद-मन्त्रों के आधार पर यह एक सामान्य रूपान्तरण मात्र है, वेद के शब्द द्व्यर्थक होते हैं, जो कि किन्हीं आध्यात्मिकता व भौतिकता की ऊंचाइयों को छूते हैं । श्री अरविन्द तथा प्राचीन ऋषिमहर्षियों की मान्यता के आधार पर वे अलौकिक ऊंचाइयां व गहराइयां इससे ज्ञात नहीं होतीं । वे आगे लिखते हैं "बृहस्पति पहले पहल व्यापक प्रकाश से चमचमाते स्वर्ग में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने अपने स्तनयित्नु 'रव' द्वारा अन्धकार का नाश किया था । वे दोनों लोकों के तनय हैं, किन्तु यह उल्लेख भी मिलता है कि उनके जनक त्वष्टा है । दूसरी जगह उन्हें देवताओं का जनक बताया गया है । उन्होंने कर्मार = (कर्मकार) की भांति देवताओं के जन्म धमित किये थे।" आगे उन्होंने जो निष्कर्ष निकाला है उससे हम बहुत अंशों में सहमत हैं यथा "बृहस्पति एक पुरोहित है, किन्तु पुरोहित शब्द का प्रयोग प्रायः अग्नि के सम्बन्ध में आया है । प्राचीन ऋषियों ने इन्हें अपना नेता बनाया था (पुरो-धा) वे एक सोम पुरोहित हैं । वे ब्रह्मन् हैं, ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग एक बार सम्भवतः पारिभाषिक अर्थ में हुआ है । परवर्ती वैदिक साहित्य में बृहस्पति देवताओं के पारभाषिक अर्थ में पुरोहित हैं ।"

"बृहस्पति उपासना-योग को बढ़ाते हैं और उनके बिना यज्ञ सफल नहीं हो पाता । पथ-निर्माताओं के रूप में वे देवताओं के लिए मोक्ष तक पहुंचना सुलभ करते हैं । उनसे देवताओं तक ने अपना यज्ञांश प्राप्त किया ।······उनके साथ भजन की मण्डली (ऋक्वनगण) चलती है । निस्सन्देह इसी कारण उन्हें गणपति कहा गया है । सामान्यतः गणपति शब्द का प्रयोग इन्द्र के लिए हुआ है" मैक्डोनल का बृहस्पति को गणपति कहने का दृष्टिकोण संकुचित है अपर्याप्त है अतः मान्य नहीं है । आगे उन्होंने लिखा है "अनेक मन्त्रों में बृहस्पति का तादूरूप्य अग्नि से किया गया है । उदाहरणार्थ ब्रह्मणस्पति अग्नि का—जो कि सौन्दर्य में मित्रतुल्य है आह्वान किया गया है" एक अन्य मन्त्र में यद्यपि अग्नि का तादूरूप्य अन्य देवों से भी किया गया है तथापि ब्रह्मण-स्पति के साथ उनका सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक निखर आया है क्योंकि उस मन्त्र (ऋ० २।१।३) में केवल ये ही दो नाम सम्बोधन में आये हैं । एक मन्त्र में मातरिश्वा और बृहस्पति दोनों अग्नि के विशेषण प्रतीत होते हैं । पुनः ऐसे बृहस्पति से जोकि नीलपृष्ठ है, गृहों में अपना आवास बनाते हैं, प्रभासित हैं, हिरण्यवर्ण एवं लौहित हैं, अग्नि का ही लिया जाना स्वरसिक है । दो अन्य मन्त्रों में बृहस्पति नराशंस के जो कि अग्नि

का ही एक रूप है—तद्रूप प्रतीत होते हैं। अग्नि की भांति बृहस्पति भी पुरोहित है वे शवसः सूनु और अंगिरस हैं और वे यातुधानों को कीलते अथवा उनकी हत्या करते हैं। बृहस्पति के लिए कहा गया है कि वे स्वर्ग पर अथवा उच्चतर आवास पर आरोहण करते हैं। अग्नि की भांति बृहस्पति के तीन आवास हैं वे घरों में वन्दनीय हैं, वे सदसस्पति हैं···दूसरी ओर अग्नि को ब्रह्मणस्कवि कहा गया है और प्रार्थना की गई है कि वे स्तुति द्वारा (ब्रह्मणा) द्यावा पृथिवी को हमारे हितकारी बनावें, किन्तु सामान्यतया बृहस्पति अग्नि से भिन्न दिखाये गये हैं।"

इस प्रकार मैक्डोनल ने मन्त्रों की कुछ उक्तियों को सामान्य रूप में रूपान्तरण किया है। बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति अग्नि क्यों हैं? अग्नि किस अवस्था में बृहस्पति रूप धारण कर लेती है। सब देव अग्नि से ही उत्पन्न हैं वे किस अवस्था में पहुंचकर अपना पृथक् रूप बना लेते हैं इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण इस 'वैदिक देव शास्त्र' से नहीं होता। मैक्डोनल महोदय का यह प्रयोजन भी नहीं था और न उससे यह आशा की जा सकती है।

बृहस्पति के अन्य कार्यों में बलासुर का भेदन कर गौओं को उसके पाश से मुक्त करना भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। वह लिखता है "जब अंगरिस बृहस्पति ने गो-व्रज को अनावृत किया और इन्द्र के साथ सहायक रूप में अन्धकारावृत अर्णस् को उन्मुक्त किया तब उनके ऐश्वर्य के सामने पर्वत भी नत हो गये। अपनी भजनमण्डली के साथ रव के द्वारा उन्होंने बल को भेद दिया और गरजकर रंभाती हुई गौओं को बाड़े में से बाहिर निकाल दिया···उनके उदय पर अच्युत च्युत बन गये और बलवानों ने आत्मसमर्पण कर दिया···अन्धकार को घेर लिया स्वर्ग को अनावृत किया। मधु भरे पाषाणमुख कुएं को बृहस्पति ने तवस्त्वरा द्वारा देवगणों को पानी पिलाने के लिए भेद दिया···पाषाण में पिहित मधु को उन्होंने खोज निकाला···सच पूछिये तो बृहस्पति का बल-विजय इतना प्रख्यात हुआ कि आगे चलकर यह एक मुहाविरा ही बन गया। बादल में रहते हुए (अभ्रिय) वे अनेक गौओं के पीछे रव करते हैं। ये गौएं उन जलों का प्रतिरूप प्रतीत होती हैं जिनका कई स्थलों पर उल्लेख हुआ है, उषा की किरणें भी इनसे अभिप्रेत हो सकती हैं।" मैक्डोनल ने गौओं को जलों का प्रतिरूप या उषा की किरणें माना है। यह बहुत स्थूल व ऊपरी अर्थ है वस्तुतः गौएं पिण्ड में निहित दिव्य-शक्तियां हैं जिनका बृहस्पति उदय करता है। इस बलभेदन कथा का वास्तविक रहस्य यही है। उषा, प्रकाश, अग्नि, सूर्य की उपलब्धि तथा अन्धकार का भेदन ये सब आध्यात्मिक रहस्य को दर्शाते हैं। बृहस्पति का युद्ध से भी सम्बन्ध है, युद्ध में उन्हें पुकारा जाता है और वे युद्ध में भूरिशः प्रशंसित होने वाले पुरोहित हैं इत्यादि का भाव भी बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक युद्धों में अधिक है। अन्त में मैक्डोनल ने अन्य योरोपीय विद्वानों के बृहस्पति सम्बन्धी मत को प्रदर्शित किया है उसे अविकल रूप में हम यहां उद्धृत करते हैं—"उपर्युक्त बातें इस विचार को उभारती हैं कि बृहस्पति मूलतः अग्नि के ही एक पक्ष थे और वे भक्ति के अधिष्ठाता दिव्य पुरोहित थे। अग्नि का यह पक्ष

(पति के साथ बने हुए अग्नि के अन्य विशेषणों से भिन्न जैसे कि विशांपति, गृहपति, सदसस्पति)। ऋग्वेदीय युग के आरम्भ काल में अपने निजी रूप को पा चुका था। यद्यपि इसका अग्नि से सम्बन्ध अब भी पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हो पाया था। लांग्लुई एच० एच० विल्सन और मैक्समूलर बृहस्पति को अग्नि का एक रूप मानने में सहमत हैं। राथ के मत में बृहस्पति यज्ञदेव एवं भक्ति शक्ति के सीधे मानवीकरण हैं। केजी और ओल्डनवर्ग के अनुसार ये पौरोहित्य कार्य के भावात्मक (Abstraction) रूप हैं और इन्होंने पूर्ववर्ती देवताओं के कार्यों को नियमित एवं सुव्यवस्थित किया है। वेबर का कहना है कि बृहस्पति इन्द्र के पुरोहितों द्वारा कल्पित एक भावात्मक देव हैं। हापकिन्स बेबर का अनुगमन करते हैं। अन्त में हिलेब्राण्डर उन्हें वनस्पतियों का अधिष्ठाता और चन्द्रमा का मानवीकरण बताते हैं जो मुख्यतः उस ज्योति-पुंज के ज्वालामय पक्ष का प्रतिरूप है। दिव्य ब्रह्मा नामक पुरोहित के रूप में बृहस्पति हिन्दु देवमयी के प्रमुख देवता ब्रह्मा के पूर्व रूप जान पड़ते हैं इसी समय में ब्रह्म शब्द का नपुंसक रूप वेदान्त दर्शन के ब्रह्म में पल्लवित हुआ दीख पड़ता है।

श्री अरविन्द और बृहस्पति

श्री अरविन्द प्रणीत 'वेद रहस्य' में बृहस्पति के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। उनके मत में "बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति और ब्रह्मा ये तीन नाम उस देव के हैं जिसे सम्बोधित करके ऋषि वामदेव ने यह रहस्यमय स्तुति गीत (ऋ० ४।५० सू०) गाया है।" उनके मत में पौराणिक देव-वंशावलियों में ब्रह्मणस्पति विलुप्त हो गया है, ब्रह्मा स्रष्टा बन गया तथा बृहस्पति देवों का गुरु तथा बृहस्पति ग्रह का अधिपति मात्र रह गया है।

ब्रह्मा—श्री अरविन्द लिखते हैं "यह विशाल सत्ता सबको अपने अन्दर रखने वाली, सबको सृजने वाली चेतना ब्रह्मा है।" वे आगे लिखते हैं "यह आत्मा है जो मनुष्य के अन्दर अवचेतन से उद्भूत होती है और ऊर्ध्वमुख होकर अतिचेतन की ओर जाती है। और सर्जक शक्ति का शब्द जो कि आत्मा में से निकलकर ऊपर की तरफ जाता है, वह भी ब्रह्मन् है।"

वेद में ब्रह्मन् सामान्यतः वैदिक शब्द या मन्त्र का वाची है। वैदिक शब्द गम्भीरतम अर्थ में आत्मा की या सत्ता की गहराइयों के अन्दर से उठता हुआ अन्तः-प्रेरणा का शब्द है। यह एक तालबद्ध शब्द ही है जिसने लोकों को सृजा है और सदैव सर्जन कर रहा है। सारा जगत् एक प्रकाशन है, या अभिव्यंजन है, सृजन है जो शब्द द्वारा किया गया है। सचेतन सत्ता जब अपनी वस्तुओं को अपने अन्दर अपने आप ही 'त्मना' प्रकाशमान रूप में व्यक्त कर रही होती है तब अतिचेतन (Superconscient) होती है, जब अपनी वस्तुओं को धुंधले रूप में अपने अन्दर छिपाए रखती है तब अवचेतन (Subconscient) होती है। जो उच्चतर है स्वतः प्रकाशमान है वह

अस्पष्टता में रात्रि में अन्धकार से ढके अन्धकार 'तमः तमसा गूढम्' में उतरता है जहाँ कि चेतना के खण्डों में विभक्त होने के कारण से सब कुछ रूप रहित सत्ता के अन्दर छिपा पड़ा है। "तुच्छ्येनाभ्वपिहितम्" शब्द के द्वारा वह उस रात्रि के अन्दर से निकलकर फिर ऊपर उठता है, चेतना में उसकी विशाल एकता को पुनः विरचित करने के लिए "तन्महिनाजायतैकम्" यह विशाल सत्ता यह सबको अपने अन्दर रखने वाली सबको सृजने वाली चेतना ब्रह्मा है।

यह देव अपने आपको आत्मा की सचेतन शक्ति के रूप में व्यक्त करता है, शब्द के द्वारा अवचेतन के जलों में से लोकों को रचता है.........इस देव की यही शक्ति ब्रह्मा है। इस ब्रह्मा नाम में जो बल है वह सचेतन आत्म-शक्ति पर ही अधिक पड़ता है।

बृहस्पति—"चेतन मानव सत्ता के अन्दर भिन्न-भिन्न लोक-स्तरों की अभिव्यक्ति होती-होती अन्त में जहाँ तक पहुँचती है, वह है अतिचेतन की सत्य और आनन्द की अभिव्यक्ति और यह (अतिचेतन की) अभिव्यक्ति ही परम शब्द का या वेद का अधिकार है, विशेष कार्य है। इस परम शब्द का बृहस्पति अधिपति है। बृहस्पति नाम में जो बल है वह शब्द की शक्ति पर अधिक पड़ता है अपेक्षाकृत उस सामान्य आत्म-शक्ति के विचार के जोकि इसके पीछे रहती है।"

देवगुरु—श्री अरविन्द बृहस्पति के 'देवगुरु' रूप के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "बृहस्पति देवों को मुख्यतः इन्द्र को जो कि 'मन' का अधिपति है ज्ञान का शब्द, अतिचेतन का तालबद्ध शब्दाभिव्यंजन प्रदान करता है, जब कि वे देव मनुष्य के अन्दर महान् सिद्धि के लिए आर्य-शक्तियों के रूप में कार्य करते हैं।"

ब्रह्मणस्पति—ब्रह्मणस्पति इस नाम में ये दोनों विभिन्न बल (ब्रह्मा = स्रष्टा, बृहस्पति = सुराचार्य) एक हो गए हैं और बराबर हो गए हैं। यह उसी एक देव के सामान्य और विशेष रूपों के बीच में उन्हें जोड़ने वाला नाम है। इस महान् रचना (लोक-निर्माण) को निष्पन्न करता है मन, प्राण, शरीर के त्रिगुणित (त्रिषधस्थ) लोक को दृढ़ स्थापित करके.........बृहस्पति रचना करता है शब्द द्वारा अपनी आवाज (पुकार) द्वारा "रवेण" क्योंकि शब्द आत्मा की उस समय की आवाज ही है जब कि वह सदा नवीन बोधों और निर्माणों के लिए जागृत होता है।

हमारे विचार में 'त्रिषधस्थ' शब्द तीन मस्तिष्क (मस्तिष्क, अनुमस्तिष्क, सुषुम्णाशीर्षक) की ओर अधिक निर्देश कर रहा है। क्योंकि बृहस्पति 'बृहत्' का अधिपति है। और 'बृहत्' शास्त्रों में द्युलोक को बताया है। और 'बृहत्' के तीन विभाग कहे गए हैं (पैप्पलाद संहिता = यानि त्रीणि बृहन्ति)। प्रथम मन्त्र के० श्री अरविन्द के भाष्य में "प्रत्नास ऋषयः" पुरातन ऋषि से तात्पर्य 'ऋषयो दिव्याः' सप्तदिव्य ऋषि—जो चेतना को उसके सातों स्तरों में से प्रत्येक में सिद्ध करके और

उन स्तरों को इकट्ठा समस्वर करके जगत् के विकास का निरीक्षण किया करते हैं अथवा ये वे मानव पितर 'पितरो मनुष्याः' हैं जिन्होंने सबसे पहिले उच्च ज्ञान को खोजकर पाया था और मनुष्य के लिए सत्य-चेतना की असीमता को विरचित किया था—इन दोनों से लिया जा सकता है। मानव में सत्य-चेतना के आविर्भाव के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि "उन ऋषियों ने मानव-जाति के लिए इन वेगयुक्त प्रकाशमय और उल्लासयुक्त बोधों के तन्तुओं से सत्य-चेतना को 'ऋतं बृहत्' को बुना है। ·········इस सत्य-चेतना की प्रकृति अपने आप में यह होती है कि वह अपने उत्सेचन में प्रचुर होती है। (वृषन्तम्) अपनी गति में यह तीव्र होती है (सृप्रम्) यह 'अदब्धम्' होती है। सबसे बढ़कर यह कि यह विशाल, बृहत् असीम होती है (ऊर्वम्) ········· पर मनुष्य के अन्दर व्यक्त हुई यह सत्य-चेतना न मानने वाली शक्तियों के वृत्रों के 'बल' के विद्रोह के कारण फिर उससे अन्धकाराच्छन्न हो सकती है। इसलिए ऋषि बृहस्पति से प्रार्थना कर रहा है कि तू अपनी आत्मशक्ति की परिपूर्णता के द्वारा उस सम्भावित अन्धकाराच्छन्नता से मेरी रक्षा कर।

यह पराचेतन का परम 'परमापरावत्' ही है उपनिषदों का परमपरार्थ है।··· वे (ऋषि) इसे अपना धाम और घर, क्षय ओकस् बना लेते हैं। क्योंकि भौतिक सत्ता की पहाड़ी में आत्मा के लिये वे माधुर्य के लबालब भरे कूएं खुदे हैं···सत्य का संस्पर्श होने पर शहद की नदियाँ अमृत-रस के वेगयुक्त झरने क्षरित होने और प्रवाहित होने लगते हैं (**तुभ्यंखाता अवता अद्रिदुग्धामध्वः श्चोतन्ति अमितो विरप्शम्।**

इस प्रकार बृहस्पति-सत्यचेतना के उस प्रकाश की बृहत्ता के अन्दर से उच्च पराचेतन के उस सर्वोच्च दिव्य धाम 'महो ज्योतिषः परमे व्योमन्' व्यक्त होकर अपने आपको हमारी चेतन-सत्ता के पूर्ण सप्तविध रूप (सप्तास्य) में प्रकट करता है··· और अपनी विजयशाली आवाज से रात्रि की सब शक्तियों को अचेतन के समस्त आक्रमणों को सब सम्भव अन्धकारों को निराकृत तथा छिन्न-भिन्न कर देता है। ब्रह्मागण या ब्राह्मण-शक्तियां शब्द के पुरोहित हैं, दिव्य स्वर ताल रचना करने वाले हैं, उन्हीं की आवाज द्वारा बृहस्पति बल को टुकड़े-टुकड़े कर देता है। वृत्र वह शत्रु, वह दस्यु है जो कि चेतन सत्ता के सप्तविध जलों के प्रवाह को रोक लेता है अचेतन का मूर्तरूप है, वैसे ही वल वह शत्रु वह दस्यु है जो अपने बिल, अपनी (बिल-गुहा) में प्रकाश की गौओं को रोक लेता है। श्री अरविन्द "वल को अन्धकारपूर्ण नहीं मानते किन्तु अन्धकार का कारण मानते हैं।" "वलं गोमन्तं", "वलं गोवपुषम्", किन्तु वह उस प्रकाश को अपने अन्दर ही रोक रखता है।

यह स्वतः प्रकटनशील आत्मा, यह बृहस्पति पुरुष है सब वस्तुओं का पिता है, यह विश्वव्यापी देव है, यह वृषभ है इन सब प्रकाशमय शक्तियों का अधिपति और जनक है···जिनसे (शक्तियों) कि यह सम्भूति या जगत् सत्ता भुवनम् बनी है। ···यज्ञ के द्वारा हम इस देव की कृपा से जीवन के संग्राम के लिये वीरोचित-शक्ति से भरपूर

हो जायेंगे जो आनन्द दिव्य प्रकाशमयता तथा सत्यक्रिया द्वारा अधिगत होते हैं।

···चेतना के उन स्तरों में जो कि जीवन की प्रगति में उसके अनुभव के आगे खुल पड़ते हैं। वह राजा, सम्राट् हो जाता है अपनी जगत् परिस्थितियों पर शासन करने वाला हो जाता है (जो बृहस्पति को अर्पित हो जाता है, पूजा करता है)। यही मनुष्य की आदर्श स्थिति है कि आत्मशक्ति बृहस्पति ब्रह्मा जो आध्यात्मिक ज्योति तथा आध्यात्मिक मन्त्री है उसका नेतृत्व करे और वह अपने आपको इन्द्र, क्रिया का राजा नेता अनुभव करता हुआ अपने आप पर तथा अपनी सब प्रजा पर उनके सम्मिलित सत्य के अधिकार से शासन करे।

इन्द्र और बृहस्पति इस प्रकार दो दिव्य-शक्तियां हैं जिनका हमारे अन्दर परिपूर्ण हो जाना तथा सत्य को सचेतनता पूर्वक आत्मसात् कर लेना हमारी पूर्णता प्राप्ति की शर्तें हैं।

इसलिये बृहस्पति और इन्द्र हमारे अन्दर वृद्धि को प्राप्त हो जाये और तब सत्य मनोवृत्ति की वह अवस्था जिसे कि वे दोनों मिलकर रखते हैं व्यक्त हो जायेगी ··वे दोनों मिलकर मनुष्य को उसका राजपद तथा उसका पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करा देती हैं।

स्वामी दयानन्द और बृहस्पति

स्वामी दयानन्द ने बृहस्पति पद से परमात्मा, सूर्य, विद्वान् तथा राजा आदि अनेकों अर्थों को ग्रहण कर अपने भाष्य में कई क्षेत्रों का समावेश किया है। क्योंकि प्राचीन ऋषिमुनियों की बहुभक्तिवादी शैली के समान स्वामी जी की यह मान्यता रही है कि वेद सर्व सत्यविद्याओं की पुस्तक है। अतः वेदों में सर्व सत्यविद्याओं का ग्रहण उसी अवस्था में हो सकता है जब कि वेद के प्रत्येक देवता को अनेकों क्षेत्रों में घटाया जाये। ऋ० ४।५० सूक्त को श्री अरविन्द ने केवल अध्यात्म क्षेत्र में घटाया है, वहां स्वामी जी ने इस सूक्त के भाष्य अनेकों में क्षेत्रों की ओर संकेत यिका है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में पठित बृहस्पति पद से सूर्य तथा तत्समकक्ष विद्वान् का ग्रहण किया है। इसी दृष्टि से 'त्रिषधस्थ' का अर्थ भी दो क्षेत्रों में किया है। सूर्यपक्ष में तीन तुल्य स्थानों में स्थित, तथा विद्वान् के पक्ष में—कर्म, उपासना ज्ञान में स्थित होने वाला—अर्थ किये हैं। द्वितीय मन्त्र में 'बड़ी वाणी के पालन करने वाले' तथा 'बड़ी वस्तुओं के पालन करने वाले' ये दो अर्थ किये हैं। तृतीय मन्त्र में बृहस्पति पद का "बड़े राज्य का पालन करने वाले" राजा अर्थ किया है। भावार्थ में वे लिखते हैं—

"हे मनुष्यो! आप लोग वृद्ध विद्वान् राजा लोगों के समीप से अनादिकाल से सिद्ध नीति का ग्रहण करके मेघों के सदृश प्रजाओं को सुख से सींचो।"

इस भावार्थ से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द इस सूक्त का प्रायः राष्ट्रपरक अर्थ करते हैं।

चतुर्थ मन्त्र में भी स्वामी दयानन्द बृहस्पति का अर्थ सूर्य करते हैं और तत्समकक्ष विद्वान् को मानकर उपदेश देते हैं कि "हे विद्वानो ! जैसे सूर्य से सात प्रकार के रूप वाले तत्त्व मिले हुए वर्तमान हैं जिन किरणों के द्वारा सबसे रसों का ग्रहण करता है वैसे पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और आत्मा से सब विद्याओं को ग्रहण करके पढ़ाने और उपदेश करने से सबके अज्ञान को दूर करके विद्या के प्रकाश को उत्पन्न करो"।

पंचम मन्त्र में भी बृहस्पति से सूर्य और विद्वान् का ग्रहण किया है।

षष्ठ मन्त्र में भी सूय अर्थ ग्रहण कर वाचकलुप्तोमा अलंकार माना है।

सप्तम मन्त्र में बृहस्पति बड़ों में बड़े "जगदीश्वर" का ग्रहण किया है। भावार्थ में वे लिखते हैं—"हे मनुष्यो ! जो परमेश्वर सम्पूर्ण जगत् को अभिव्याप्त होकर और धार के सूर्य को भी धारता है और सम्पूर्ण वेदों का उपदेश देकर प्रशंसित वर्तमान है और जिसकी सेवा योगिराज करते हैं उसी की नित्य उपासना करो" जहां पूर्व मन्त्रों में स्वामी जी बृहस्पति पद का प्रायः सूर्य अर्थ करते हैं वहां इस मन्त्र में सूर्य को धारण करने वाले परमेश्वर का ग्रहण किया है। और उसे 'राजा' सब लोकों से सेवा करने योग्य माना है।

आठवें मन्त्र में आध्यात्मिक क्षेत्र अपनाकर परमेश्वर के भजन करने का उपदेश स्वामी जी देते हैं। भावार्थ में वे लिखते हैं "हे मनुष्यो ! जो अन्य सबका त्याग करके एक परमेश्वर ही की आप लोग सेवा करें तो आप लोगों में लक्ष्मी, राज्य, प्रतिष्ठा और यश सदा ही निवास करें।"

नवें मन्त्र में परमात्मा की उपासना का विधान करते हुए राजा का यह कर्तव्य माना है कि वह विद्वानों की सेवा करे। भावार्थ में वे लिखते हैं "हे मनुष्यो ! जो राजा परमात्मा ही की उपासना करता और यथार्थ वक्ता विद्वानों की सेवा करता है वही नहीं नाश होने वाले राज्य और धन को प्राप्त होकर सदा ही विजयी होता है।"

दसवें मन्त्र में "बृहस्पते—पूर्ण विद्वन्" यह अर्थ किया है।

ग्यारहवें मन्त्र में बृहस्पति और इन्द्र पद से राजा का ग्रहण कर अर्थ किया है "सम्पूर्ण विद्याओं को प्राप्त और अत्यन्त ऐश्वर्य वाले राजन्।"

इस प्रकार स्वामी दयानन्द बृहस्पति शब्द से परमात्मा, सूर्य, विद्वान् तथा राजा आदि अर्थ कर अनेकों क्षेत्रों की ओर सर्व जनों का ध्यान आकर्षित करते हैं वहां श्री अरविन्द इस सूक्त में आये नाना शब्दों से अध्यात्म क्षेत्र की अतल स्पर्शी गहराइयों में उतरकर तथा नाना स्तरों में विचरण कर अनेकों अमूल्य मोती संग्रह कर और उन्हें उद्घाटित कर सबके समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं यह महान् आश्चर्य तथा दिव्य आनन्द प्रदान करने वाला विषय बन जाता है।

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में बृहस्पति पद के अनेकों अर्थ किये हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—'बृहतांप्रकृत्याकाशादीनांपतिः पालको जगदीश्वरः' २।१३; बृहत्यावेदयुक्ताया वाचः पालकः। ७।१५, विद्वान् ६।१६; बृहत्यावेदवाचः पालिकाऽध्यापिका १२।५४; वेदवित् १२।६८; बृहतो वचनस्य ब्रह्माण्डस्य वा पालकः १४।२०; बृहतां पालको वैश्यः १४।२६; अध्यापकः १५।५६; बृहतामधिकाराणामध्यक्षः १७।४०; बृहत्याः सभायाः सेनाया वा पालकः १६।४८; बृहतां व्यवहाराणां वा रक्षकः १८।१६; बृहतां पालकः सूर्यः २१।१६; बृहतां महत्तत्वादीनां स्वामी पालकः २५।१६; बृहतां पालको विद्युद्रूपोऽग्निः २८।१६; बृहतां पालकः सूत्रात्मा २६।६; बृहतो राज्जस्य यथावद् रक्षकः ६।७३।३? बृहतोपालनहेतुं सूर्यप्रकाशम् १।१४।३; बृहतः शास्त्रबोधस्य पालकमतिथिम् १।१६०।१, बृहतो पालकं वायुम् ३।२०।५; साम्राज्यम् ६।११; बृहस्पतिना बृहतां पालकेन चतुर्वेदविदा विदुषेव विद्यासुशिक्षाप्रचारेण १०।३०; बृहस्पतिभ्याँ=राजानूचानाभ्याँ विद्वद्भ्याम् ७।२३; बृहत्यावाचो बृहतामाकाशादीनाँ च पतिः स्वामी तस्मै जगदीश्वराय ४।७; चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं सेवित्वा बृहत्या वेदवाचः पालकाय ७।४७; अध्ययनाध्यापनाभ्याँ विद्याप्रचाररक्षकाय ६।११; बृहताँप्रकृत्यादीना पत्युरीश्वरस्य विज्ञानाय १०।५; बृहस्पतेः=महतोवीराणाँ पालयितुः सेनाध्यक्षस्य ६।६; बृहताँ पालकस्य महत्तत्वस्य २५।४; बृहताँ धार्मिकाणाँ वृद्धाना सेनानाँ वा पतिस्तत्सम्बुद्धौ १७।३६; बृहताँ प्रकृत्यादीनाँ जीवानाँ च पालकेश्वर २६।३; बृहतः पापाद्वियोजक २।२३।७; चौरादि निवारक २।२३।१६।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने यौगिक दृष्टि से बृहस्पति शब्द के अनेकों अर्थों का उद्भावन कर नाना क्षेत्रों का समावेश किया है। यदि हम प्राचीन ऋषिमुनियों द्वारा विरचित ब्राह्मणग्रन्थों पर दृष्टिपात करें तो हमें वहां भी ऋषियों द्वारा इसी पद्धति का अवलम्बन किया गया प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ उद्धरण यहां प्रदर्शित करते हैं। नि० १०।१२ में आता है "बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा" अर्थात् यह बृहस्पति बृहत् का रक्षक व पालन करने वाला है। निरुक्त की दृष्टि में बृहत् महान् को कहते हैं। महान् कोई भी हो सकता है। शतपथ ब्राह्मण[1] में वायु तथा प्राण को भी बृहस्पति कहा है। जै० उ०[2] में अपान को बृहस्पति माना है।

श० प० ३।१।४।६ में द्युम्न अर्थात् ज्योति, धन, अन्न व यश ये सब बृहस्पति रूप को धारण करते हैं। प्रश्न है कब ? जबकि ये महान् बनकर प्रभूत मात्रा में होकर

---

१. "अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं (वायुः) पवते"। श० प० १४।२।२।१०
"एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः। श० प० १४।४।१।२२
२. "अथ यः सोऽपान आसीत् स बृहस्पतिरभवत्। जै० उ० २।२।५

जनसमुदाय का पालन पोषण करने वाले हो जाते हैं। एक स्तर पर पहुंच चक्षु भी बृहस्पति हो जाती है। **यच्चक्षुः सः बृहस्पतिः।** गो० उ० ४।११ एक स्थल पर बृहस्पति को ब्रह्म तथा ब्रह्मपति दोनों माना है। **"बृहस्पतिर्ब्रह्मब्रह्मपतिः"** तै० २।५।७।४ अर्थात् बृहस्पति ब्रह्म = वेद है और वेदों का पति भी है। यह देवों का पुरोहित भी है **"बृहस्पति-र्वै देवानाँ पुरोहितः"** ऐ० ८।२६ देवों का जो ब्रह्मा है वह बृहस्पति ही है गो०उ० १।१, श० प० १।१।१।४ ये कुछ उद्धरण ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर हमने यहां इसलिए दर्शायो हैं जिससे यह ज्ञात हो जाये कि प्राचीन ऋषिमुनि भी बृहस्पति पद को अनेकों क्षेत्रों में घटाते थे।

ब्राह्मण भाग

सप्तदश अध्याय

ब्रह्मा

बृहस्पति, ब्रह्म, ब्रह्मा तथा ब्राह्मण ये चारों शब्द प्रायः समानार्थक है। बृहस्पति देवों का गुरु है, यह देवों के यज्ञ में ब्रह्मा का आसन ग्रहण करता है। इससे यह स्पष्ट है कि बृहस्पति ही ब्रह्मा बनता है। कहा भी है—

'ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः' यजु० १८।७६, २१।१६

स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मा को चारों वेदों का ज्ञाता माना है। उदाहरणार्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में आता है कि ब्रह्मा=चतुर्वेद-ज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्ता च। मन्त्र में आता है—

'ब्रह्मा ऽयं वाचः परमं व्योम। ऋ० १।१६४।३५

अर्थात् यह ब्रह्मा वेदवाणी का परमाकाश है, परम आधार है। यह परम व्योम द्युलोकस्थ है जो कि बृहस्पति की बृहती वाक् का स्थान है। उसी द्युलोकस्थ बृहस्पति अर्थात् ब्रह्मा द्वारा चारों वेदों का चहुं ओर विकीर्णन हो रहा है अर्थात् ये वेद ब्रह्मा द्वारा उच्चारित होकर चहुं ओर फैल रहे हैं। मानव ब्रह्मा की मस्तिष्क व हृदय की अन्तरतम गुहा भी परम व्योम है, जहां से ऋचादि मन्त्र-समूह समुद्भूत होते हैं। इसी तथ्य को निम्न मन्त्र में इस प्रकार कहा गया है।

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां वाचं वदन्। ऋ० ९।११३।६

हे पवमान! जिस यज्ञ में ब्रह्मा छन्दोमयी वाणी को बोलता है। छन्दस् पद से चारों वेदों का ग्रहण किया जाता है पर वस्तुतः यह छन्दस् पद अथर्ववेद का द्योतक है। जिस प्रकार त्रयी विद्या की दृष्टि से ऋक्, यजु, साम ये तीनों वेद पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक से सम्बन्ध रखते हैं, उसी प्रकार उदर, हृदय तथा मस्तिष्क से इनका सम्बन्ध है। अवशिष्ट चौथा वेद अथर्ववेद अथर्वाङ्गिरस समुद्भूत होने से अंगरिस (अंगानां रसः) वेद कहा जाता है। अर्थात् यह अथर्ववेद पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्यु एवं उदर हृदय तथा मस्तिष्क इन तीनों अंगों में रस रूप होकर विद्यमान है। इन्हीं अंगों के रसों को छन्दांसि कहते हैं। गायत्री आदि छन्द हमारे शरीर में भी विद्यमान हैं। इस प्रकार तीनों लोकों तथा तीनों शारीरिक स्थानों में रस व छन्द रूप में ओतप्रोत होने से इस अथर्ववेद की महत्ता अधिक है। इसी कारण यज्ञ का ब्रह्मा अथर्ववेद के ज्ञाता को बनाया जाता था। यज्ञ में ब्रह्मा मौन रहता है पर 'छन्दस्या वाक्' बोलता है। यह छन्दस्या वाक् मुख द्वारा उच्चारित नहीं होती प्रत्युत आन्तरिक गायत्री आदि

छन्दों (रसों = प्राणों = शक्तियों) की मूक वाणी होती है जो कि यजमान के छन्दों को उद्बुद्ध करती व दिव्य बनाती है। उपर्युक्त मंत्र 'यत्र ब्रह्मा पवमान' में 'यत्र' पद एक विशिष्ट स्थान (द्युलोक) को द्योतित करता है क्योंकि इसी प्रकरण में ऊपर के मंत्रों में 'त्रिदिवेदिवः, यत्र ज्योतिरजस्रं, यत्रावरोधनं दिवः, लोका यत्र ज्योतिष्मन्तः' के आधार पर 'यत्र' पद से द्यु का ही ग्रहण उपयुक्त है। इसी स्थान से ब्रह्मा छन्दोमयी वाणी का प्रसार करता है।

ऋ० १०।५२।२ में ब्रह्मा के सम्बन्ध में कहा है—

'अहरहरश्विनाध्वर्यवं वां ब्रह्मा समिद्भवति साहुतिर्वाम् ।'

हे अश्वियो ! आपका हिंसा-रहित यज्ञ अथवा नियत गति सम्बन्धी यज्ञ प्रतिक्षण चल रहा है। यहां अश्विनौ 'द्यावापृथिवी' तथा हृदय और मस्तिष्क है। इनका परस्पर सहयोगपूर्वक कार्य निर्वाह करना अश्वीयज्ञ कहलाता है। इस यज्ञ को मन रूपी ब्रह्मा उत्तम विचारों व संकल्पों की आहुति देकर प्रदीप्त करता रहता है। अधिदैवत पक्ष में यह चन्द्रमा ब्रह्मा बनता है।

ऋ० २।१।२ में अग्नि को ब्रह्मा कहा है यथा—**'ब्रह्माचासि गृहपतिश्च नो दमे'** हे अग्नि ! तू ब्रह्मा है और हमारे दम = मानस गृह में 'मनसोदमनं दमः' जहां कि कामनाओं व आसुरी वृत्तियों का दमन होता है वहां गृहपति बनकर रहते हो। ऋ० २।१।३ में ब्रह्मणस्पति को ब्रह्मा कहा है। यथा—**'त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते'**। ऋ० ७।७।५ में आता है **'अग्निर्ब्रह्मा नृषदने विधर्ता'** अर्थात् हे अग्नि ! तू नृषदन में ब्रह्मा बनकर विराजमान रहती है और उस नृषदन को तू विशिष्ट रूप में धारण करने वाली है। नृषदन—मानव-समाज में सभा-स्थल है। अध्यात्म में शक्ति स्थानों को कहा जा सकता है।

ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि। यजु० १०।२८

हे ब्रह्मन् ! तू ही ब्रह्मा है और सबका प्रेरक व उत्पादक भी तू है। ब्रह्मा सोम पुरोगवः। यजु० २३।१४। यह ब्रह्मा सोम के आगे-आगे चलता है अर्थात् जहां जहां ब्रह्मा का पदार्पण होता है वहां वहां सोम = समता, ज्ञान-विज्ञान का प्रवेश होता जाता है।

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्मज्येष्ठमुपासते ।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् । अथर्व० १०।७।२४

जहाँ ब्रह्मवेत्ता देव लोग ज्येष्ठब्रह्म की उपासना करते हैं, जो उन ब्रह्मवेत्ता देवों को प्रत्यक्ष जानता है, वह वेदिता ब्रह्मा कहलाता है। अर्थात् देवों को जानने वाला ब्रह्मा होता है।

सोमतत्त्व से निर्मित सृष्टि के श्रेष्ठतम व विभूति-सम्पन्न प्राणियों का जिस मन्त्र में परिगणन हुआ है वहां ब्रह्मा को देवों में श्रेष्ठतम माना है (**ब्रह्मा देवानाँ पदवीः कवीनाम्**—ऋ० ९।९६।६)।

ब्रह्मा के द्विविध रूप

यह समग्र संसार अग्नीषोमात्मक है अर्थात् इसके निर्माण में अग्नि और सोम इन दो भागों में विभक्त तत्त्व-समूह उपयोग में आता है। सभी प्राणिवर्ग भी इन्हीं दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा में भी ये ही दोनों तत्त्व विराजमान हैं। इसी दृष्टि से वेदों में कई स्थलों पर अग्नि[1] को ब्रह्मा कहा गया है तो कई स्थानों पर सोम[2] को। इस प्रकार ब्रह्मा दो प्रकार के होते हैं एक अग्नि प्रधान और दूसरे सोम प्रधान। सबमें ये दोनों तत्त्व होते हुए भी किन्हीं में आग्नेयशक्ति प्रधान होती है तो किन्हीं में सोम शक्ति अर्थात् सौम्यता शान्ति आदि। जहां ब्रह्मा अग्नि रूप है वहाँ सोम उसका नियामक है, ब्रह्मा में अग्नितत्त्व को अधिक नहीं होने देता। इसी कारण ब्राह्मण से सौम्यता की आशा की जाती है।

यज्ञानुष्ठानकर्ता

कर्मकाण्ड के क्षेत्र में ब्रह्मा का एक विशिष्ट स्थान और विशिष्ट कार्य है। वेदों में भी ब्रह्मा का यज्ञ से सम्बन्ध बताया तो है पर गौण रूप में। प्रायः वहाँ यह शब्द ब्राह्मण व ब्रह्म आदि का वाचक होकर अधिक प्रयुक्त हुआ है। निम्न उद्धरण तत्सम्बन्धी याज्ञिक क्रियाकलाप को दर्शाते हैं। यथा—

ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम्—यजु० १८।२६

निम्न मंत्र भी देखिए—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः।

ऋ० १०।७१।११

होता ऋचाओं द्वारा पोषण, उद्गाता, शक्वरिओं में गायत्र साम द्वारा गान तथा अध्वर्यु द्वारा यज्ञ की मात्राओं का माप करना आदि जो त्रयी विद्या है उसकी व्याख्या ब्रह्मा करके बताता है 'जातविद्या' शब्द सुप्रसिद्ध त्रयी विद्या की ओर निर्देश कर रहा है। अतः ब्रह्मा को चारों वेदों का ज्ञाता होना चाहिए। यह सब होते हुए भी शास्त्रकारों ने ब्रह्मा से अथर्ववेद का विशेष सम्बन्ध बताया है। यदि कोई ऋगादि तीनों वेदों को जानता है अथर्ववेद नहीं जानता तो उसे ब्रह्मा बनने का अधिकार नहीं दिया है—यथा—'**ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवढः श्रुततः**' नि० १।७

अर्थात् ब्रह्मा सर्ववेदी होता है उसका ब्रह्मत्व व परिवृंहण श्रुति के कारण है। इसी निरुक्त-वचन का स्पष्टीकरण निम्न वाक्य से हो जाता है—

"एष ह वै विद्वान् सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोवित्" ।गो० पू० २।१८

१. ऋ० २।१।२, ४।९।४, ७।७।५।।

२. ऋ० ९।९६।६, ११३।६।।

भृग्वङ्गिरोवित् अथर्ववेद का ज्ञाता ही सर्ववित् होता है और वही ब्रह्मा बनता है। निम्न वाक्य भी यही दर्शाते हैं—

अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्, अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम् ।गो० पू० ३।१, २

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ब्रह्मा का अथर्ववेद से विशेष सम्बन्ध है[1]।

बृहस्पतिर्ब्रह्मेत्याह स हि ब्रह्मिष्ठः स यज्ञं पाहि स यज्ञपतिं पाहि ।

तै० सं० २।६।६।३

अर्थात् ब्रह्मा को ब्रह्मिष्ठ होना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मिष्ठ ही यज्ञ व यजमान की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हम जैसे भोग-विलासी पुरुष यज्ञ करने व कराने के अधिकारी नहीं हैं।

असली ब्रह्मा कौन ?

गो० पू० ४।२ में आता है कि **"चन्द्रमा वै ब्रह्माऽधिदैवं मनोऽध्यात्मम्"** अर्थात् अधिदैवत पक्ष में चन्द्रमा ब्रह्मा बनता है तो अध्यात्म में मन। इसी सम्बन्ध में गो० पू० २।११,१२ में आता है कि विचारी काबन्धि ने मान्धाता के पुत्र यौवनाश्व के सोम याग में ऋत्विजों से ब्रह्मा के ब्रह्मत्व सम्बन्धी प्रश्न किया था। ऋत्विजों के उत्तर न दे सकने पर उसने कहा कि **"मनसैव ब्रह्मा ब्रह्मत्वं करोति मनसा हि तिर्यक्च दिश ऊर्ध्वं च यत्र किञ्च मनसैव करोति तद्ब्रह्म ते ब्रूमो मनो ब्रह्म मनो देव इति"** अर्थात् ब्रह्माब्रह्मत्व का प्रकटन मन से करता है। तिर्यक् दिशाओं व ऊर्ध्व आदि दिशाओं में जहां भी कुछ करता है मन से ही करता है। अतः असली ब्रह्मा मन है। यही ब्रह्म है और यही देव है। परन्तु प्रश्न यह है कि यह मन कब ब्रह्मा बनता है क्या सर्व साधारण के मन को ब्रह्मा कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि मन में जब ऋक्, यजु, साम द्वारा प्रतिपादित त्रयी विद्या का उद्बोधन हो जाता है तब यह मन ब्रह्मा बनता है। सर्व साधारण के मन में त्रयी विद्या कहां? इसीलिए ये कहा कि— **"अथकेन ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या विद्ययेति"** ऐ० ब्रा० ५।३३। श० प० ११।५।८।७ इसी तथ्य को का० ६।११ में निम्न शब्दों में प्रकट किया है। **"यमेवामुं त्रय्यै विद्यायै तेजो रसं प्रावृहत् तेन ब्रह्मा भवति"** अर्थात् जब ब्रह्मा के प्रति त्रयी विद्या का तैजस रस प्रवाहित होता है तब ब्रह्मा असली ब्रह्मा बनता है। वस्तुतः त्रयी विद्या के कारण ब्रह्मा का ब्रह्मत्व तो एक पक्ष है, एक पार्श्व है और गौण है। इसका प्रमुख पार्श्व तो मन ही है। इसी को निम्न शब्दों में प्रकट किया गया है।

"अयं वै यज्ञो योऽयं पवते तस्य वाक् च मनश्च वर्तन्यौ वाचा च हि मनसा च यज्ञोवर्तते। इयं वे वागदो मनस्तद् वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति मनसैव ब्रह्मा संस्करोति" ऐ० ब्रा० ५।३३॥

यह जो पवन कर रहा है वह यज्ञ रूप है। इसकी वाक् और मन ये दो वर्तनी हैं अर्थात् वाक् और मन इन दो से इसकी सत्ता है। इन्हीं से इस यज्ञ का सब वर्तन अर्थात् कार्य निर्वाह हो रहा है। यह वाक् त्रयी विद्या रूप है। यह सामान्य वाक् नहीं है। इस त्रयी विद्या रूपी वाक् द्वारा यज्ञ के एक पक्ष का संस्कार होता है और इस संस्कार को ऋत्विज् कर रहे हैं। अब यज्ञ का दूसरा पक्ष आता है उसे ब्रह्मा संस्कृत करता है, प्रश्न है किस द्वारा ? उत्तर है—मन द्वारा। इसी बात को गो० पू० ३।२ में निम्न शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है। "**स वा एव त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति**" अर्थात् ऋक, यजु और साम इन तीन वेदों से यज्ञ के एक पक्ष का संस्कार होता है और दूसरे पक्ष का संस्कार ब्रह्मा मन द्वारा करता है।

उपर्युक्त उद्धरणों पर हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि बाह्य यज्ञ के माध्यम से आन्तर यज्ञ का संस्कार किया जाता है। बाह्य यज्ञ का सब क्रियाकलाप आन्तरिक यज्ञों की क्रियाओं को दर्शाता है। बाह्य यज्ञों का वाक् द्वारा तो संस्कार संभव प्रतीत होता है। यज्ञ के सब समय मौन बैठा हुआ ब्रह्मा मन से उसका क्या संस्कार करेगा ? कुछ नहीं, पर अध्यात्म क्षेत्र में यजमान के आन्तरिक यज्ञ को दोनों प्रकार से सुसंस्कृत किया जा सकता है। ऋत्विज् लोग त्रयी विद्या द्वारा यजमान की वाक् को सुसंस्कृत व सुघड़ बनाते हैं। और ब्रह्मा मौन रहता हुआ ही अपने मनोबल से यजमान के आन्तरिक यज्ञ को प्रभावित करता रहता है। उसके मन को पवित्र व दिव्य बनाता है। यह सब कार्य बाह्य यज्ञ के समय होता है। इन उपर्युक्त तथ्यों से यह भी ध्वनित होता है कि ऋत्विज् व ब्रह्मा स्वयं दिव्य शक्ति सम्पन्न होने चाहिए। दिव्य शक्ति से रहित केवल मन्त्रपाठी ऋत्विज् यज्ञ को सुसम्पन्न करा सकेगा उसको सफल कर सकेगा, यह नितान्त असंभव है। ब्रह्मा का एक काम यह भी है कि यज्ञ में कोई विकलता आ जाये तो या किसी प्रकार का विकार पैदा हो जाये अथवा ऋत्विजों द्वारा यज्ञ-प्रक्रिया आदि के विपरीत प्रयोग से विकृति पैदा हो जाये तो ब्रह्मा उसका संशोधन करता है। कहा भी है—"**यज्ञस्य हैष भिषग्यद् ब्रह्मा यज्ञायैव तद् भेषजं कृत्वा हरति**"—ऐ० ब्रा० ५।३४

अर्थात् ब्रह्मा यज्ञ का भिषक् है अर्थात् चिकित्सक है। अन्य सब ऋत्विज् तो यज्ञ का उपकार वाक् द्वारा ही करते हैं पर ब्रह्मा ब्रह्म शक्ति से तथा छन्दों के रस (सार=प्राण) से यज्ञ को संस्कृत करता है। अतः दक्षिणा भी आधी-आधी होती है अर्थात् आधी दक्षिणा ब्रह्मा को दी जाती है और अवशिष्ट आधी दक्षिणा अन्य ऋत्विजों में विभक्त हो जाती है।

वशिष्ठ गोत्रोत्पन्न को ही ब्रह्मा बनावें

तै० सं० ३।५।२।१ में कथानक के माध्यम से यह दर्शाया गया है कि वशिष्ठ गोत्र में उत्पन्न ब्राह्मण को ही ब्रह्मा बनावें। वह संक्षेप में इस प्रकार है—

ऋषियों में केवल वसिष्ठ ने ही इन्द्र को प्रत्यक्ष देखा अन्य कोई ऋषि इन्द्र को न देख सका। इन्द्र ने वसिष्ठ से कहा कि मैं तुझे वह ब्राह्मण (ब्रह्म-सम्बन्धी एक रहस्य) बताता हूं कि जिससे तेरी सब सन्तति पुरोहित की योग्यता वाली उत्पन्न होगी पर शर्त यह है कि मेरे सम्बन्ध में अन्य ऋषियों को न बताना। अथवा जो स्तोत्र-याग मैं तुम्हें बताता हूं वह अन्य किसी को न बताना। इस पर संहिताकार कहते हैं कि **"तस्माद् वसिष्ठो ब्रह्मा कार्यः"** अर्थात् वसिष्ठ-गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण को ही ब्रह्मा बनाना चाहिए। इसका रहस्य फिर कभी स्पष्ट किया जायेगा।

इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि बृहस्पति ही ब्रह्मा बनता है।

अष्टादश अध्याय

बृहस्पति और यज्ञ

यज्ञ के प्रति लोगों में अश्रद्धा एवं बृहस्पति द्वारा उसका निराकरण

श० प० १।२।५।२४-२६[1] में कथानक के तौर पर यह दर्शाया गया है कि कभी पुराकाल में अवमर्श पूर्वक यजन करने के कारण याज्ञिक पुरुष पापी बन गये और उनमें जो यज्ञ नहीं करते थे वे कल्याण के भागी तथा श्रीसम्पन्न हो गये। अतः यज्ञ के प्रति मनुष्यों में अश्रद्धा उत्पन्न हो गई और उन्होंने यज्ञ करना बन्द कर दिया। यज्ञों के बन्द हो जाने से देवों को हविष्यान्न मिलना बन्द हो गया। देव भूखे मरने लगे क्योंकि हविभक्षण से ही वे जीवन धारण करते हैं। अतः देवों ने आङ्गिरस बृहस्पति को मनुष्यों के पास भेजा। बृहस्पति ने मनुष्यों से यज्ञ न करने का कारण पूछा, उत्तर में मनुष्यों ने कहा कि यज्ञ करने से हम पापी हो जाते हैं और जो यज्ञ नहीं करते वे कल्याण के भागी बनते हैं अतः यज्ञ किसलिए करें? इस पर बृहस्पति ने उन्हें पापी होने का यह कारण बताया कि तुम अवमर्शपूर्वक यजन करते हो, इसलिए पाप के भागी बनते हो, अर्थात् वेदि पर बर्हि (आसन) बिछाने से पूर्व और हविष्यान्न के परिपक्व होकर तैयार होने से पूर्व तुम वेदि का स्पर्श करते हो, इसलिए पाप के भागी बनते हो और यह आसन (बर्हिर्) वेदि पर तभी बिछाया जाता है जब परिपक्व औषधियों से हवि तैय्यार हो जाती है। इन्हीं बातों को कात्यायन श्रौतसूत्र में निम्न सूत्रों द्वारा दर्शाया गया है।

---

१. स ये हाग्रईजिरे। ते ह स्माऽवमर्शं यजन्ते ते पापीयांस आसुरथ ये नेजिरे ते श्रेयांस आसुस्ततो ऽश्रद्धा मनुष्यान्विवेद येयजन्ते पापीयांसस्ते भवन्ति य उ न यजन्ते श्रेयांसस्ते भवन्तीति तत इतो देवान् हविर्नजगामेतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति। २४। ते ह देवा ऊचुः। बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः कथा न यजध्व इति, ते होचुः किं काम्या यजेमहि ये यजन्ते पापीयांसस्ते भवन्ति य उ न यजन्ते श्रेयांसस्ते भवन्तीति।२५। स होवाच बृहस्पति राङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम देवानां परिषूतं तदेव यज्ञो भवति यच्छृतानि हवींषि क्लृप्ता वेदि स्तेनावमर्शमचारिष्ट तस्मात् पापीयांसोऽभूत तेनानवमर्शं यजध्वं तथा श्रेयांसो भविष्यथेत्या किमत इत्या बर्हिषस्तरणादिति बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्येत बर्हिरेव तत्स्तृणन्नपास्येदथ यदा बर्हिस्तृणन्त्यपि पदाभि तिष्ठन्ति स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजते श्रेयान्हैव भवति तस्मादनवमर्शमेव यजेत ॥२६॥

"प्राक् स्तरणात् वेदिं नावमृशेत्" का० श्रौ० २।६।३० अर्थात् (बर्हि) आसन बिछाने से पूर्व वेदि का स्पर्श न करें।

"शृतानि च हवींष्याप्रचरणात्" का० श्रौ० २।६।३१।

प्रधान याग के अवदान अर्थात् प्रारम्भ के पूर्व तैयार व परिपक्व हवियों का स्पर्श निषिद्ध है। "अवदान" का अर्थ है अग्नि में आहुति डालना। **"तस्माद् यत् किञ्चाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम।"** श० प० १।७।२।६। अर्थात् प्रधान याग के शुरू करने पर ही परिपक्व हवि का स्पर्श करना चाहिए इससे पूर्व नहीं। इस प्रकार बृहस्पति ने मनुष्यों को यह आदेश दिया कि तुम **"अनवमर्शं यजध्वम्"** अर्थात् बिना अवमर्श के यजन किया करो। अवमर्श का अर्थ है स्पर्श करना, इस दृष्टि से अनवमर्श का अर्थ हुआ कि आसन बिछाने से पूर्व वेदि का स्पर्श न करना तथा प्रधान याग के प्रारम्भ होने से पूर्व हवि का स्पर्श न करना। इसका क्या रहस्य है, क्या कोई अदृष्ट है, धर्माधर्म है, इस प्रकार यह एक गुह्य विचारणीय विषय है, जिस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए। परन्तु हम अपनी स्वल्प-बुद्धि से उपर्युक्त प्रकरण का अन्य क्षेत्रों में होने वाले यज्ञों के आधार पर स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करते हैं।

"स होवाच बृहस्पतिराङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम देवानां परिषूतं तदेष यज्ञो भवति यच्छृतानि हवींषि क्लृप्ता वेदिः।" श० प० १।२।५।२६

आंगिरस बृहस्पति ने मनुष्यों से कहा कि यह सुनते आए हैं कि जो देवों का परिषूत रस है वही यज्ञरूप को धारण करता है। और जब हवियां परिपक्व होकर तैय्यार हो जाती हैं और वेदि का निर्माण पूरा हो जाता है तब वह यज्ञ कहा जाता है। यहां हम सर्वप्रथम देवों के परिषूत रस पर विचार करते हैं। सायणाचार्य ने इसका अर्थ किया है **"देवानामर्थं परिषूतं परिगृहीतं (वस्तु)"** अर्थात् देवों को देने के लिए हविरूप में जो वस्तु ग्रहण की गई है वह देवों का परिषूत रस है। हमारे विचार में सायणाचार्यप्रदर्शित यह अर्थ अधूरा है। इसका पूर्णभाव यह है कि सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल, विद्युत्, मेघ आदि भौतिक देवों से जो रस परिषूत अर्थात् परिस्रवित होकर पृथिवी पर आता है, वह पृथिवी पर आकर ओषधि, वनस्पति आदि नाना रूपों में परिणत होता है। इन्हीं ओषधि, वनस्पति आदि के परिपक्व हो जाने पर इनके रसों को फिर परिपूत अर्थात् निचोड़कर देवों को देने के लिए हविरूप में परिणत किया जाता है तब यह '**देवानाँ परिषूतं तदेष यज्ञो भवति**' यज्ञ का पूर्णरूप तथा '**देवानां परिषूतम्**" का पूर्ण अर्थ बनता है। सूर्य, चन्द्रमा आदि भौतिक देवों से परिस्रवित रस औषधि-वनस्पति में आकर जब परिपाक को प्राप्त होता है तब यह सृष्टि-नियम से देवों द्वारा किया गया यज्ञ पूर्ण होता है। इस प्रकार भौतिक देवों द्वारा किये गये यज्ञ से प्राप्त रसों को हविरूप में बना देवों को यज्ञ द्वारा पुनः प्रत्यर्पित कर देना मानव द्वारा किया गया यज्ञ है। अर्थात् **"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये"** की भावना का यह अभिव्यक्तीकरण है। इस प्रकार देवयज्ञ तथा मानव यज्ञ इन दोनों के संगम

से ही यज्ञ की पूर्णता होती है। यही बात श्रीमद्भगवद् गीता में निम्न शब्दों में कही गई है—

"इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

अर्थात् देवता यज्ञभावित होकर इष्ट भोगों को देते हैं, पहिले उन्हें दो, फिर अवशिष्ट का उपभोग करो। यज्ञशिष्ट का उपभोग करना ही पापों को दूर करने का उपाय है। बिना देवों को दिए उनका भोग करना चोरी है। यही तथ्य शतपथब्राह्मण के उपर्युक्त प्रकरण में कथानक के तौर पर दर्शाया गया है। आजकल हम स्वयं तो यज्ञ द्वारा उन्हें हविष्यान्न देते नहीं-फिर देवों के यज्ञ को पूर्ण होने नहीं देते। देवों के यज्ञ की पूर्णता में हम किस प्रकार बाधा डालते हैं यह हम संक्षेप में संकेत किये देते हैं।

ओषधी, वनस्पति तथा फल आदियों में जब रस का परिपाक हो जाता है (शृतानि हवींषि) तब उनसे तैय्यार की गई हवि परिपक्व हवि कहलाती है और तभी देवों द्वारा किया गया यह यज्ञ परिपूर्ण होता है। परन्तु हम करते यह हैं कि इस रस के परिपक्व होने से पूर्व ही फल आदियों को तोड़कर पाल में दबाते हैं यह यज्ञ की अपूर्णता है। देवों द्वारा किए जाते हुए यज्ञ को हम पूर्ण नहीं होने देते। ऐसे अपरिपक्व रस वाले पदार्थों के उपभोग से हम पापों के भागी बनते हैं। अपरिपक्व रसों वाली ओषधि तथा वनस्पति आदि द्वारा निष्पन्न हविष्यान्न देवों को देना तथा स्वयं उपभोग करना व्याधियों को निमन्त्रण देना है। शास्त्र के शब्दों में पापी बनना है। यदि यज्ञों से हम इष्ट भोगों को प्राप्त करना चाहें तो उसका उपाय यही है कि स्वयं उपभोग करने से पूर्व यज्ञ द्वारा देवों को हविष्यान्न दिया जाये और उसमें परिपक्व ओषधियों व वनस्पतियों की हवि प्रदान की जाये। इससे पूर्व अपने उपभोग के लिए इनका स्पर्श तक भी न किया जाये। यही भाव सब यज्ञों के सम्बन्ध में होना चाहिए, चाहे वे यज्ञ आन्तरिक हों या बाह्य। अग्निहोत्र आदि जो यज्ञ हम करते हैं वह देवों को हविष्यान्न देने के लिए ही है। वेदि पर बर्हि (आसन) बिछाने से पूर्व उसका स्पर्श तक न करना इसका तात्पर्य बाह्य यज्ञों में इस प्रकार हो सकता है कि जैसे आम आदि फलों की गुठली में जाली आना आसन बिछना है उपस्थ व योनि में लोम की उत्पत्ति होना आसन का बिछाया जाना है अतः पूर्णयौवन के पूर्व ही जब कि वीर्य व रजरूपी आहुति का परिपाक नहीं हुआ है, दर्शन, स्पर्शन व सम्भोग आदि करना पाप का ही हेतु है। उदर में पड़ी अन्नरूपी आहुति का जब तक पूर्ण परिपाक नहीं हुआ तब तक वह आम-रस ही है वह शरीर में पहुंच व्याधिजनक ही होता है। इसलिए बृहस्पति ने कहा कि हे मनुष्यो! तुम पाप के भागी न बनो इसका उपाय यही है कि देवों के यज्ञ को पूर्ण होने दो अपना भी यज्ञ परिपूर्ण करो। देवों को देने के लिए कर्मकाण्ड में जो यज्ञ बताये गये हैं उन्हें भी उसी पवित्र भावना से विधिपूर्वक अवमर्श रहित करो अर्थात् वेदि पर बिना आसन बिछे तथा बिना परिपक्व हवि के रखे यज्ञ वेदि को स्पर्श मत

करो। यदि तिनका आदि भी वेदि पर आ पड़े तो उसे हाथ से मत उठाओ आसन आदि द्वारा दूर करो। यही भाव निम्न शब्दों में प्रदर्शित हुआ है "**स यदि पुरा बर्हिष-स्तरणात् किञ्चिदापद्येत बर्हिरेव तत् स्तृणन्नपास्येत्।**" इस प्रकार पवित्र भावना से यज्ञ करने पर पाप के भागी न बनोगे और इष्ट भोगों की प्राप्ति होगी।

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

एकोनविंशति अध्याय

प्राशित्रम्

यज्ञ में बृहस्पति जब ब्रह्मा का आसन ग्रहण कर लेता है तब उसे भक्षण के लिए जो हविर्भाग दिया जाता है उसको प्राशित्र कहते हैं। **'प्राश्नन्ति तदिति प्राशित्रम्'** अर्थात् जिस हवि का प्राशन किया जाता है उसे प्राशित्र कहते हैं। यह प्राशित्र जिस पात्र में निहित होता है या रख कर लाया जाता है उसे प्राशित्र-हरण कहते हैं। श० प० १।३।१।६ के सायण भाष्य में आता है कि **'प्राशित्राख्यो यो भागः स ह्रियते ऽनेनेति प्राशित्रहरणं गोकर्णाकृति पात्रम्'** अर्थात् प्राशित्र नाम का हविर्भाग जिस पात्र में रखकर ले जाया जाता है, उसे प्राशित्र-हरण कहते हैं, और वह गोकर्ण की आकृति वाला होता है। का० श्रौ० सू० २।१६१ में आता है कि **'तूष्णीं प्राशित्रहरणम्'** अर्थात् यह प्राशित्र-हरण पात्र चुपचाप लाना चाहिए। आप० श्रौ० सू० तूष्णीं के साथ समन्त्रक भी विकल्प से मानता है। यहां धूर्त स्वाभिभाष्य में आता है कि **'प्रकृष्टैर्मन्त्रैः प्राश्यत'** इति आप० श्रौ० सू० ३।१।१ अर्थात् प्रकृष्ट मन्त्रों (यजु० २।११ देवस्य त्वा० अग्नेष्ट्वास्येन) को बोलकर जिसका प्राशन किया जाय वह प्राशित्र है। आप० श्रौ० सू० ३।१।२ में आता है कि **'मध्यात् प्राशित्रमवद्यति यवमात्रं पिप्पलमात्रं वा०'** पुरोडाश के मध्य से यवमात्र अर्थात् जौ बराबर अथवा पिप्पल फल मात्र प्राशित्र का अवदान करता है, काटता है। इसका भाव यह है कि ब्रह्मा जब प्राशित्र का भक्षण करे तो वह पुरोडाश को मध्य से काटकर जौ के बराबर अथवा पिप्पल के फल के बराबर लेकर उसका भक्षण करे। इस प्रकार ब्रह्मा द्वारा यह प्राशित्र भक्षण की क्रिया होगी।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्राशित्र को जौ अथवा पिप्पल फल के बराबर भक्षण करने का क्या रहस्य है? इतने स्वल्प परिमाण से बुभुक्षा तो शान्त होती नहीं और न ही इससे शरीर को कुछ सहारा मिलता है। अतः प्रतीत यह होता है कि इतने स्वल्प परिमाण वाले प्राशित्र के भक्षण का रहस्य कुछ और है? प्राशित्र भक्षण एक प्रतीकात्मक क्रिया है। इस रहस्य को समझने का अब हम प्रयत्न करते हैं। प्राशित्र एक देवान्न है। वैसे तो देवान्न में परिमाण कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता परन्तु यहां परिमाण दिया है।

देवान्न प्रतीकात्मक होते हैं। यज्ञ में अथवा साधारण भोजन के समय जो अन्न देवों को देकर भक्षण किया जाता है वह यज्ञीय अन्न व यज्ञीय-आहुति कहलाती है। शरीर में विद्यमान देवों व दिव्य शक्तियों को वह प्राप्त होती है, इससे उन देवों की वृद्धि होती है। इस अवस्था में मुख तो प्रतीकमात्र होता है। इसी दृष्टि से बृहदारण्य-

कोपनिषद् १।५।२ में कहा है कि **'सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत् स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशंसा'** अर्थात् वह मनुष्य प्रतीक द्वारा अन्न खाता है। प्रतीक क्या है? मुख, मुख को प्रतीक मानकर खाया गया अन्न देवों को पहुंचता है इससे मनुष्य में ऊर्ज़ की प्राप्ति होती है।

यह अन्न देवताओं को कैसे पहुंचता है, इसकी प्रक्रिया छा० उ० ५।१९-२३ खण्डों में अन्न-भक्षण में अग्नि-होत्रत्व की सिद्धि के प्रसंग में इस प्रकार दर्शायी है। यहां आता है कि **'तद् यद् भक्तं प्रथममागच्छेत् तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात् प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति०** । छा० उ० ५।१९।१ ।

अर्थात् अन्न के प्रथम ग्रास को होमीय समझें, और **'ओ३म् प्राणाय स्वाहा'** यह मन्त्रोच्चारण कर उसकी मुख में आहुति दें। इस दृष्टि से यहां मुख प्रतीक मात्र है। वस्तुतः उस आहुति को प्राण भक्षण करता है। इससे होता यह है कि प्राण तृप्त होते हैं, बढ़ते हैं। प्राण के तृप्त होने पर चक्षु तृप्त होती है। चक्षु से सूर्य, सूर्य से द्यौ और आदित्य तृप्त होते हैं। इन सबके तृप्त होने पर भोक्ता स्वयं प्रजा, पशु अन्नाद्य और ब्रह्मवर्चस् आदि से तृप्त होता है। इसी भांति अगली आहुतियां भी देनी हैं। ये आहुतियां अपान व्यान समान और उदान की हैं। इससे यह सिद्ध है कि यज्ञ-यागों के अवसर पर ऋत्विजों व यजमान को जो चरु व पुरोडाश आदि भक्षण के लिए दिया जाता है वह प्रतीक मात्र होता है, वह जिस उद्देश्य व लक्ष्य को रखकर दिया जाता है, उसकी वृद्धि करने वाला होता है। इसी दृष्टि से ब्रह्मा को प्राशित्र दिया जाता है। प्राशित्र भक्षण का क्या प्रयोजन है? क्या महत्त्व है? यह किसका प्रतीक है इत्यादि बातों को हम आगे स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। इससे पूर्व एक बात यहां अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि क्या प्रत्येक व्यक्ति इसी भांति देवों को आहुति देकर अपने अन्दर विद्यमान देवशक्तियों को प्रवृद्ध कर सकता है? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि सामान्य व्यक्ति भी यदि प्रतिदिन भोजन के समय प्रथम पांच ग्रास यज्ञीय समझकर प्राणादिकों को आहुति रूप में देवे तो शनैः २ उसमें भी परिवर्तन हो जायगा। उसकी देव शक्तियां प्रबुद्ध होंगी। पर कभी होने वाले दर्श और पौर्णमास आदि यज्ञों के अवसर पर यवमात्र व पिप्पल फल मात्र चरु लेने वाला ब्रह्मा क्योंकि स्वयं दिव्य शक्ति-सम्पन्न होता है। अतः उसकी दिव्य भावना उस स्वल्प परिमाण वाले चरु को ही दिव्य बना देती है और जो चरु यजमान को दिया जाता है वह भी उन ऋत्विजों के दिव्य प्रभाव से ऊर्ज वाला बन जाता है। इस प्राशित्र भक्षण की प्रतीकात्मकता इस दृष्टि से भी स्पष्ट है कि इस यवमात्र व पिप्पल मात्र प्राशित्र को सामान्य हाथ से ग्रहण करना, सामान्य चक्षु से देखना, सामान्य मुख से भक्षण करना आदि क्रियाएं निषिद्ध हैं। ये क्रियाएं वह ब्रह्मा मनुष्य रूप में नहीं करता अपितु तत्तत् देवता के अंगों द्वारा करता है। अमुक २ देवता को मन्त्र बोलकर आवाहन किया जाता है, और उन २ देवों द्वारा वह क्रिया हो रही है यह भावना की जाती है। इससे यह ध्वनित होता है कि यह प्राशित्र भी एक प्रतीकमात्र है इसका रहस्य कुछ और ही है। वह रहस्य क्या है यह हम संक्षेप में देखने

का प्रयत्न करते हैं। यहां हमें कर्मकाण्ड सम्बन्धी ब्यौरेवार सम्पूर्ण प्रक्रिया देनी अभीष्ट नहीं है। ब्रह्माण्ड व पिण्ड में ये किस रहस्य का उद्घाटन करते हैं इसका संकेत मात्र यहां करते हैं।

यहां यह स्मरणीय है कि देवता जब यज्ञ करते हैं तब बृहस्पति ब्रह्मा का आसन ग्रहण करता है और मनुष्यों के यज्ञ में मनुष्य ब्रह्मा बनता है। कहा भी है 'बृहस्पति र्देवानां ब्रह्माऽहं मनुष्याणाम्' का० श्रौ २।१।१८

प्राशित्र का द्युलोक से सम्बन्ध

प्राशित्र हवि का सम्बन्ध द्युलोक से है। पिण्ड में द्युलोक मस्तिष्क है। अतः मस्तिष्क से भी इसका सम्बन्ध है, ऐसा हमें समझना चाहिए। इस उपर्युक्त कथन की पुष्टि में ऋ. १०।६१।७१ मन्त्र को आधार बनाकर शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राशित्र के स्वरूप व उसके प्राशन को लेकर जो कथानक दिया है वहां द्युलोक तथा तत्सम्बन्धी उषा का ग्रहण किया गया है। उस कथानक की हम इसी प्राशित्र-प्रकरण में आगे व्याख्या करेंगे।

दूसरे ब्रह्मा द्वारा प्राशित्र-भक्षण से पूर्व मन्त्र पढ़े गये हैं वे भी द्युसम्बन्धी हैं। यथा '**उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि।**' यजु० २।११

अर्थात् द्यु पिता को मैंने आह्वान किया है। अब वह मुझे आह्वान करे…… …। इस प्रकार द्यु पिता के आवाहन से यह स्पष्ट है कि इस उपर्युक्त प्राशित्र मन्त्र का सम्बन्ध द्युलोक से है और पिण्ड में वह द्युलोक मस्तिष्क है। दूसरे इस प्राशित्र-प्रकरण में अध्वर्यु अपांप्रणयन के समय ब्रह्मा से अनुज्ञा[1] लेते हुए जो मन्त्र बोलता है उससे भी यह सिद्ध होता है कि अध्यात्म में सिर के क्षेत्र में यह यज्ञ निष्पन्न हो रहा है। का० श्रौ० सू० २।२।८ में मन्त्र इस प्रकार दिया है।

ओ३म् प्रणय यज्ञं देवता वर्धय त्वं नाकस्य पृष्ठे यजमानो अस्तु।
सप्तर्षीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि॥

हे ब्रह्मन्! तू यज्ञ का प्रणयन कर देवताओं को प्रवृद्ध कर। यह यजमान नाक के पृष्ठ पर विराजमान हो ऐसा कर। सुकृत अर्थात् पुण्यशाली सप्तर्षियों का जहां लोक है वहाँ इस यज्ञ को तथा यजमान को स्थापित कर।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि जहां यज्ञ का प्रणयन होना है वह स्थान नाक

१—पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन्। ऋ० १०।६१।७
प्रजापति र्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ० ।श० प० १।७।४

(स्वः =द्यौ) के पृष्ठ पर है। वहीं यज्ञ निष्पन्न होना है। यजमान भी वहीं विराजमान है, वहीं पुण्यशाली सप्तर्षियों के पिण्ड में सप्तेन्द्रियों का लोक है। इन उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि यज्ञ का स्थान पिण्ड में मस्तिष्क है। ब्रह्मा मस्तिष्क में विराजमान है, जिसने कि प्राशित्र का भक्षण करना है।

अतः उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध है कि मुखके द्वारा प्राशित्र हवि का भक्षण एक प्रतीकात्मक क्रिया है जिसका प्रभाव मस्तिष्क पर होता है।

अब हम वह मन्त्र तथा उसके आधार पर निर्मित आख्यायिका को भी यहां दर्शाते, हैं जिससे प्राशित्र क्या है यह स्पष्ट होता है, और उसके भक्षण का क्या रहस्य है यह भी ज्ञात होता है। ऋ० १०।६१।७ मन्त्र प्राशित्र का आधार है। इस मन्त्र को आधार मानकर श० प० १।७।४ ऐ० ब्रा० ३।६ ता० ब्रा० ८।२।१० तै० सं० २।६।८, गो० उ० १।१ में आख्यायिका द्वारा प्राशित्र व प्राशित्रावदान-विधि प्रदर्शित की गई है। ऐ० ब्रा० में इस मन्त्र के आधार पर बृहस्पति आदि की उत्पत्ति भी दर्शायी गई है। अतः प्राशित्र के स्वरूप स्पष्टीकरणार्थ हमें इन ब्राह्मणग्रन्थान्तर्गत आख्यायिकाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। इन आख्यायिकाओं में परस्पर कुछ भिन्नता है। कहीं अति संक्षेप में है तो कहीं वर्णन में आधिक्य है पर भाव सब का एक ही है। हम यहां प्रमुख रूप से शतपथ ब्राह्मणान्तर्गत आख्यायिका की व्याख्या करते हैं। सर्व प्रथम हम यहां मन्त्र व उसके शब्दार्थ को प्रदर्शित करते हैं जिसके आधार पर आख्यायिका बनायी गयी है। मन्त्र इस प्रकार है।

पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः सञ्जग्मानो निषिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥ १०।६१।७

(पिता) प्रजापति (स्वां दुहितरं) द्युलोकस्थः (मस्तिष्कस्थ) उषा व द्यौ रूप अपनी दुहिता के प्रति (अधिष्कन्) आकृष्ट हुआ तब (सञ्जग्मानः) संगम करते हुए (क्ष्मया) पृथिवी स्थानीय व सहनशील उषा व द्यौ में (रेतः निषिञ्चत्) उस रेतस् का सिञ्चन किया अथवा क्षमा रूप दुहिता से संगम कर उस रेतस् का सिञ्चन किया। तब (स्वाध्यः देवाः) श्रेष्ठ ध्यान करने वाले देवों ने उस रेतस् से (ब्रह्म अजनयन्) ब्रह्म की उत्पत्ति की और (व्रतपां) व्रतों के पालक (वास्तोष्पतिं) वास्तोष्पति को (निरतक्षन्) तक्षण द्वारा उत्पन्न किया।

मन्त्र का यह सामान्य शब्दार्थ है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने इस मन्त्र की व्याख्या ब्रह्माण्ड और पिण्ड इन दोनों क्षेत्रों में घटायी है। शास्त्रकार पिता से प्रजापति का ग्रहण करते हैं। उसका रेतस् ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार बाह्य देवों की उत्पत्ति करता है, उसी प्रकार मानव-शरीर में वीर्य रूप में वह मनुष्य की उत्पत्ति तथा मस्तिष्क में पहुँच वहां दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति करने वाला होता है। यह आगे आख्यायिका

द्वारा स्पष्ट हो जायगा। प्रजापति की दुहिता से शास्त्रकारों ने द्युलोकस्थ उषा[1] का ग्रहण किया है। ऋ. १।१६४।३३ मन्त्र में पठित **'पिता दुहितु र्गर्भमाधात्'** में भी यही अलंकारगर्भित दृष्टिकोण है। परन्तु वहां स्पष्ट रूप में द्युलोक को पिता तथा पृथिवी को माता कहा गया है जो कि द्युलोक की दुहिता[2] है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि मानव समाज से सम्बद्ध पिता, दुहिता आदि में इसे नहीं घटाना है। अब सर्व प्रथम हम शतपथ ब्राह्मण १।७।४ में आये प्रकरण को यहां दर्शाते हैं 'प्रजापति ने अपनी दुहिता द्यौ व उषा से सम्भोग की इच्छा की और उससे वह मिथुन भाव को प्राप्त हुआ। प्रजापति के इस घृणित कृत्य से देवताओं को क्रोध हुआ कि प्रजापति ने अपनी दुहिता और हमारी स्वसा के साथ यह कुकर्म किया है। देवताओं ने पशुओं के स्वामी रुद्र से कहा कि देखो ! प्रजापति ने 'दुहिता न गन्तव्या' इस लोकमर्यादा को अतिक्रम किया है तू इसे वाण से बींध दे। रुद्र ने देवों का कहना मानकर प्रजापति को वाण से बींध दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मध्य में ही इसका वीर्य स्खलित हो गया। अब देवों ने इस स्खलित वीर्य से सृष्टि की उत्पत्ति प्रारम्भ की। जब देवों का क्रोध शान्त हो गया तब उन्होंने सर्व प्रथम प्रजापति को अभिषिक्त किया और रुद्र ने जो शल्य चुभोया था वह निकाल बाहिर किया।

यह एक कथानक है। यह कथानक ऋ १०।६१।७ मन्त्र **'पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन्०'** के आधार पर रचा गया है। इस मन्त्र की व्याख्या **'आग्नि मारुत उक्थ'** में की गई है। कथानक के अन्त में कहा कि 'स वै यज्ञ एव प्रजापतिः।श०प० १।७।४।४ यज्ञ ही प्रजापति है। अर्थात् यहां यज्ञ रूप प्रजापति में मनुष्यत्व को आरोपित किया गया है।

अब हम कथानक सम्बन्धी शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण के कुछ अंशों की विवेचना करते हैं। इस कथानक का बहुत सा अंश मन्त्र में निर्दिष्ट नहीं। परन्तु मन्त्र में बीज रूप में निहित गुह्य रहस्य को समझाने के लिये कथानक में अन्य कई परिभाषाएँ तथा बातें समाविष्ट कर मन्त्र से इंगित होने वाली अश्लीलता को प्रकृति में चित्रित किया गया है। वेदों में पठित पिता व दुहिता आदि शब्दों को मनुष्य ने लोक व्यवहार में बहुत सीमित व संकुचित कर दिया है। ये पिता, दुहिता आदि शब्द प्रकृति के क्षेत्र में भी प्रयुक्त होते हैं। अतः **'दुहिता न गन्तव्या'** यह मानव समाज की पवित्र भावना प्रकृति के क्षेत्र में कोई मूल्य नहीं रखती। परन्तु मनुष्य की बुद्धि में मन्त्रगत

---

१. **तस्यां दुहितरि महर्षीणां मतभेदमासीत्। अन्ये केचन महर्षयो दिवं द्युलोकदेवतां ध्यातवानित्याहुः। अपरे तु महर्षय उषसमुषः कालदेवतां ध्यातवानित्याहुः। ऐ० ब्रा० ३।९ सायणभाष्यम्।**

२. **द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धु र्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वो र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।ऋ० १।१६४।३३**

रहस्य को बैठाने के लिये कथानक के रूप में रोचक बनाकर तथा मानव-व्यवहार को बीच में लाकर मन्त्र के रहस्य को हृदयङ्गम कराया गया है। ब्राह्मणग्रन्थ आदि शास्त्रों की यह अपनी एक निराली शैली है। इतना कथन करके अब हम कथानक के रहस्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रजापति सृष्टि की प्रजनन शक्ति है 'प्रजननं प्रजापतिः'। शास्त्रों में सृष्टि के प्रजनन को यज्ञ नाम दिया गया है। यह यज्ञ ब्रह्माण्ड व पिण्ड दोनों क्षेत्रों में होता है। ब्रह्माण्ड में इसकी एक व्याख्या यह भी होसकती है कि रुद्र तम-रूप है, यह तम जब रेतस् रूप प्रजापति को (रज) को बींधता है तब भूतों की सृष्टि होती है अर्थात् तम से बिंधकर रज पञ्चभूतों को उत्पन्न करता है। इसी दृष्टि से यहां रुद्र को 'भूतवत्' संज्ञा दी गई है। परन्तु यहां हम इस कथानक की अध्यात्म में व्याख्या करते हैं। यह प्रजनन सम्बन्धी यज्ञ कहां पर हो रहा है, द्युलोक में या द्युलोकस्थ उषा में। यही यज्ञ पिण्ड में मानव के मस्तिष्क में निष्पन्न होता है। और मस्तिष्क की उषा बुद्धिरूप सूर्य से सम्बन्ध रखती है। अर्थात् दिव्य ज्ञान व दिव्य शक्तियों को प्रकाशित करने वाले बुद्धि सूर्य से सम्बन्ध रखने वाली दिव्य उषा है।

मानव-शरीर में जो रेतस् व वीर्य है, यही प्रजापति है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि प्रजापति भगवान् रेतस् व वीर्य में प्रजनन के रूप में रहता है। यह प्रजापति रेतस् प्रजनन करना चाहता है, कहां पर ? द्युलोक में अर्थात् मस्तिष्क में। मस्तिष्क में प्रजनन के लिये इस रेतस् को ऊर्ध्व में पहुँचना होगा। मनुष्य को ऊर्ध्वरेता बनना होगा। यह रेतस् ऊर्ध्व में पहुँच मस्तिष्क के शक्तिस्थानों में जब सिञ्चित होता है तब सूक्ष्मजगत् को प्रकाशित करने वाली दिव्य उषा का उदय होना स्वाभाविक है। जब सूक्ष्मजगत् के नये २ क्षेत्र आभासित होते हैं तब यह दिव्य उषा का प्रस्फुटन है। यह प्रजापति रेतस् जब मस्तिष्क में दिव्य शक्तियों के प्रजनन में ही केन्द्रित हो जाता है तब देव क्रुद्ध होते हैं। देव इन्द्रियां हैं, वे क्रुद्ध इस लिये होती हैं कि उनके अपने अभ्यस्त वासनाजनित भोगों में व्यवधान होता है। रुद्र इन इन्द्रियरूपी देवों में विद्यमान अग्नि है। यह रुद्राग्नि अन्न भक्षण करने वाली है। यदि इसे अन्न न मिला तो वह रोती है। इसलिये शास्त्रकारों ने रुद्र की व्युत्पत्ति यह की है 'यदरोदीद् तस्माद् रुद्रः' 'श. प. ६।१।३।१० अर्थात् अन्न भक्षण के लिये रोती है इस लिये रुद्र है। यदि हम और अधिक स्पष्ट करना चाहें तो यह कह सकते हैं कि इन इन्द्रियों की भूख ही रुद्राग्नि की भूख है। इसी रुद्राग्नि के प्रभाव से ये सब इन्द्रियां आदि देव अपना २ अन्न भक्षण किया करते हैं। इसी कारण ऐ. ब्रा. में रुद्र को इन्द्रियों—देवों का घोरतम तनु बताया है। उनका घोरतम तनु कब होता है, जब उन्हें अपना अन्न भक्षण को न मिले अर्थात् उनके अपने वासनाजनित कार्य निष्पन्न न हों तो वे भूखी मरती हैं उनमें विकृति पैदा होती है यही उनका क्रोध है। क्योंकि यह रेतस् मस्तिष्क में पहुँच दिव्य-शक्तियों की उत्पत्ति में संलग्न होता है, अतः स्वभावतः वासनाजनित सब कार्य समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य की समग्र चेतना मस्तिष्क में केन्द्रित हो जाती है, वह ध्यानस्थ हो

जाता है। परन्तु बीच २ में वासना के झौंके इन्द्रियों में विकृति पैदा करते हैं। इनकी विकृति से, यह कहना चाहिये कि क्रोध से होता यह है कि प्रजापति रेतस् कितना ही मस्तिष्क में केन्द्रित हो, दिव्यशक्तियों के प्रजनन में संलग्न हो, कामवासना का शल्य उसे चुभ ही जाता है। बीच २ में भोग की इच्छा होना, काम-क्रोध आदि वेगों का उत्पन्न होना, रुद्र द्वारा शल्य चुभोना है। इसी शल्य के कारण कभी २ मस्तिष्क अशान्त हो जाता है। प्राशित्र भक्षण का प्रयोजन यह है कि वासना को शान्त करना, मस्तिष्क से उसे बाहिर निकालना। वीर्य में से कामवासना का शल्य निकाल बाहिर करना। इसी तथ्य को श० प० १।७।४।८ में निम्न शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है कि 'ततोऽर्वाचीनं शान्तं तदेतन्निदानेन यत् प्राशित्रम्' अर्थात् प्राशित्र भक्षण से मस्तिष्कस्थ वासना के शांत हो जाने पर (निदानेन), उससे अर्वाचीन, अर्थात् शरीर में अधः स्थित अंग तत्सम्बद्ध वासनाए, वीर्य व रेतस् के वासनाजनित वेग ये सब शान्त हो जाते हैं। इसी को भाष्यकार निम्न शब्दों में प्रकट करते हैं **'बृहस्पतिप्रशमनादर्वाक् शान्तम्'** अर्थात् बृहस्पति के प्रशमन से अर्वाक् (शरीर का अधो भाग) शान्त हो जाता है। इस प्रकार इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि रेतस् व वीर्य ही प्रजापति है। इस रेतस् से मानव आदि की लौकिक उत्पत्ति तथा दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति ये दोनों उत्पत्तियाँ होती हैं। यह वीर्य जब ऊर्ध्वारोहण के द्वारा मस्तिष्क रूपी द्युलोक में दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति करता है, तब उसमें से वासना का स्वल्प-सा भी अंश शान्त करना पड़ता है। वासना के इस स्वल्पांश को भी प्रकृष्ट रूप में शान्त करने के कारण ही मस्तिष्क में विद्यमान रेतस् के बासना अंश को प्राशित्र कहते हैं (प्रशमनात्)। बाह्य कर्मकाण्ड में जो यवमात्र व पिप्पलफल मात्र चरु बृहस्पति को भक्षण के लिये दिया जाता है वह उसी वीर्य का प्रतिनिधि है, प्रतीक है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि यह बाह्य चरु वासना शान्त करने वाला है और रेतस् व वीर्य में से वासना शांत होती है। अतः दोनों को प्राशित्र कहा गया है। कथानक की भाषा में यह कहा जा सकता है कि **'स यत् प्राशित्रमवद्यति यथैव तत्प्रजापतेराविद्धं निरकृन्तनेवमेवैतस्यैतद् यद्वेष्टितं यद् ग्रथितं यद् वरुण्यं तन्निष्कृन्तति'** ।

श० प० ११।२।६।७

प्राशित्रचरु का अवदान अर्थात् काटकर बाहिर करना उसी प्रकार है जिस प्रकार प्रजापति में चुभा हुआ वासना का बाण निकाल बाहिर किया जाता है। यह प्राशित्र वासनावेष्टित, ग्रथित (गांठ पड़ी हुई) तथा वरुण से जकड़ा होता है। वरुण के लिये शास्त्रों में आता है कि 'वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना ग्रहीतो भवति' अर्थात् जो पापी होता है वरुण उसे अपने पाश में बांध लेता है। जब रेतस् का वह स्वल्पांश वेष्टित, ग्रथित आदि नहीं रहता तो यह समझना चाहिये कि प्रजापति में आविद्ध अर्थात् चुभा हुआ बाण बाहिर निकल गया है। शतपथ के शब्दों में **'तद् देवा रेतः प्राजनयंस्तेषां यदा देवानां क्रोधो व्यैदथ प्रजापतिमभिषज्यंस्तस्य तं शल्यं निरकृन्तन्'** ।

श० प० १।७।४।४

देवों अर्थात् इन्द्रियों का क्रोध एक तो प्रातःकाल ब्राह्ममूहूर्त में शांत होता है, समग्र प्रकृति भी उस समय शांत होती है। दूसरे जल का स्पर्श अर्थात् आचमन व अंग स्पर्श आदि भी शांत करने वाले हैं। इसी लिये इस प्राशित्र प्रकरण में आपः = जल-स्पर्श भी शांति में हेतु बताया है। वहां आता है कि **'अथापः उपस्पृशति शान्तिरापस् तदद्भिः शमयति'**। श० प० १।७।४।६

बाह्य कर्मकाण्ड में प्राशित्र

बाह्य कर्मकाण्ड के समय बृहस्पति रूप ब्रह्मा को जो यवमात्र व पिप्पल फल मात्र चरु भक्षण के लिये दिया जाता है, वह भी प्राशित्र कहलाता है। यह प्राशित्र रुद्र बाण से विद्ध रेतस् का प्रतिनिधि है, या प्रतीक है। क्योंकि इस चरु के भक्षण से आन्तरिक वासनाजनित रेतस् शान्त हो जाता है, इस लिये शान्त करने के कारण इस चरु को भी प्राशित्र कह देते हैं। इस प्राशित्र के भक्षण से बृहस्पति = ब्राह्मण में जो स्वल्प मात्रा में वासना होती है वह शान्त हो जाती है। मीमांसा कोष में आता है कि यह प्राशित्र का भक्षण गृहस्थी को नहीं करना चाहिए **'प्राशित्रादिभक्षणं गृहमेधीये नास्ति'** क्योंकि यदि गृहस्थी की सर्व प्रकार की वासना व कामना शान्त हो जाए तो गृहस्थाश्रम चले कैसे ? इसी दृष्टि से गृहस्थी के लिए प्राशित्र-भक्षण मना किया है।

वैसे यह भी नितान्त सत्य है कि योगी व देवपुरुषों में यह अद्भुत शक्ति होती है कि वे स्वल्प मात्रा प्रसाद से भी भयंकरतम व्याधियों व दुर्गुणों आदि का विनाश कर सकते हैं। इस लिये चरु का स्वल्पांश रेतस् को शान्त कर सकता है इसमें कोई अत्युक्ति नहीं।

इस प्रकार बृहस्पति जब ब्रह्मा का आसन ग्रहण कर चरु का भक्षण करता है तो उसका क्या रहस्य है, यह हमने यहां संक्षेप में दर्शाया है।

आग्निमारुत उक्थ

इसी प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण के निम्न वाक्य का भी स्पष्टीकरण किये देते हैं। वह यह है कि **'पिता यत् स्वां दुहितरम्·········इति तदाग्निमारुतमित्युक्थं तस्मिंस्तद् व्याख्यायते'**। श० प० १।७।४।४

अर्थात् इस उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या **'आग्निमारुत'** नामक उक्थ में करनी चाहिए। यह आग्निमारुत उक्थ क्या है, संक्षेप में दर्शाते हैं। प्रजापति का उषा व द्यौ में जो वीर्य का सिंचन है, वह अग्नि और मरुत् सम्बन्धी उक्थ है। उक्थ उत्थान को कहते हैं, उत्थान अग्नि और मरुत् इन दोनों द्वारा सम्पन्न होता है। मरुत् नामक प्राणवायु द्वारा आन्तरिक अग्नि को जो धौंकनी दी जाती है इससे अग्नि खूब प्रज्वलित होती है। प्रज्वलित होकर वह स्वयं ऊर्ध्व की ओर गति करती है। अग्नि की यह

ऊर्ध्वगति रेतस् को ऊर्ध्व में ले चलती है। रेतस् का ऊर्ध्वगमन विष्णु की त्रिपदी है। यह हम विष्णु देवता में स्पष्ट कर चुके हैं। (वीर्यं वै विष्णुः)

ब्रह्मा (बृहस्पति) अतिरिक्त अन्य देवों का प्राशित्र-भक्षण

यह प्राशित्र (रेतस्) भक्षण के लिए अन्य भग, पूषा आदि देवताओं को देने से उन पर क्या प्रभाव हुआ यह हम यहां संक्षेप में दिखाते हैं। यह प्राशित्र जब भग[1] को दिया गया तो वह अन्धा हो गया। भग देवता हमारे शरीर में सम्भोग से सम्बन्ध रखता है। उसका सर्वप्रिय स्थान भग = स्त्रीभग = स्त्री-योनि है। सम्भोग की चरम परिणति स्त्री-योनि में है, इसीलिए स्त्री-योनि का नाम ही भग रख दिया गया है। यह रेतस् रूप प्राशित्र जब देवता को भक्षण के लिए दिया जाता है तो वह अन्धा हो जाता है। क्योंकि सम्भोग के समय सभी अन्धे होते हैं।

देवों ने देखा कि भग को देने से यह प्राशित्र शान्त नहीं हुआ तो चलो, पूषा को देते हैं। यह सोचकर जब देवों ने यह प्राशित्र भक्षण के लिए पूषा[2] को दिया तो उसके दाँत गिर गये। इस लिए पूषा को अदन्तक कहते हैं। उसे भक्षण के लिए जो चरु दिया जाता है वह पिसा हुआ होता है जैसे कि अदन्तक को पिसा भोजन देते हैं।

पूषा पुष्टि का देवता है जिसका प्रकाशन दांत भींचकर हाथों से होता है इस लिए कहा गया है कि **'पूष्णो हस्ताभ्याम्'** अर्थात् पूषा का प्रकटीकरण हाथों से होता है। जब व्यक्ति इस वीर्य व रेतस् का उपयोग केवल शरीर के पोषण के लिए करता है, तब उसके हाथ, उदर आदि अन्य सब अंगों में इतना बल पैदा हो जाता है, दिमाग में इतनी गरमी पैदा हो जाती है कि वह व्यक्ति किसी भी विषय का चिन्तन, मनन व विवेचन आदि नहीं कर सकता अर्थात् किसी विषय का शान्त होकर चर्वण नहीं कर सकता। गरमी के बल से एक दम कार्य कर बैठता है। आलंकारिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि विषय-चर्वण न होने से पूषा के दांत नहीं रहे। उसे तो पिसा पिसाया तैयार किया विषय रूपी अन्न मिलना चाहिए। क्योंकि वह पूषा अदन्तक है। परन्तु यहां भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि पूषा अर्थात् पुष्टि की प्राप्ति वीर्य के स्तम्भन से है। अपने मनोबल से व्यक्ति इस वीर्य का स्तम्भन किये रहता है। परन्तु मनोबल सदा नहीं रहता। वीर्य-स्तम्भन में स्वल्प सी भी ढील हुई कि यह वीर्य-रूपी मृग भाग खड़ा होता है अर्थात् काम-वासना की आहट पाकर यह मृग भाग खड़ा होगा और

---

१. तदु भगाय दक्षिणत आसीनाय पर्याजहुस्तद्भगोऽवेक्षाञ्चक्रे तस्याक्षिणी निर्ददाह तथेन्नूनं तदास तस्मादाहुरन्धोभग इति। श० प० १।७।४।६

२. ते होचुर्नोन्वेवात्र अशमत् (नशान्तम्) पूष्ण एनत् परिहरतेति······तत् पूषा प्राश तस्य दतो निर्जघान तथेन्नूनं तदास तस्मादाहुरदन्तकः पूषेति तस्माद्यं पूष्णे चरुं कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव कुर्वन्ति यथाऽदन्तकायैवम्। श० प० १।७।४।७

शरीर से बाहिर हो जाएगा। अतः हम यह कह सकते हैं कि इस अवस्था में भी यह रेतस् रूपी प्राशित्र शान्त नहीं होता है। जब पूषा के भक्षण से यह प्राशित्र शान्त नहीं हुआ तब देवों ने बृहस्पति[1] से प्रार्थना की कि इस रेतस् रूप प्राशित्र का आप भक्षण करें।

बृहस्पति का प्राशित्र-भक्षण

बृहस्पति के प्राशित्र भक्षण का तात्पर्य यह है कि इस वीर्य व रेतस् का ऊर्ध्वा-रोहण कर ज्ञान-विज्ञान तथा योगशक्ति की उपलब्धि में उपयोग करना, दिव्य शक्तियों का आविर्भाव करना आदि। इसके लिए क्या करना होगा, यह निम्न प्रकार है।

जब प्राशित्र-भक्षण का देवों का यह प्रस्ताव बृहस्पति के सम्मुख रखा गया तो बृहस्पति सविता से आज्ञा लेने उसके पास पहुंचता है। मन्त्र आता है कि **'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेन···प्रतिगृह्णामि'** यजु० २।११ सविता सब देवों का प्रेरक है। सृष्टि में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो सविता की आज्ञा व प्रेरणा का उल्लंघन कर सके। और नाहीं उसके व्रत को कोई तोड़ सकता है। भगवान् का यह सविता रूप हमारे शरीर में, मस्तिष्क में विद्यमान होता है। इसी सविता की प्रेरणा पर शरीर का प्रत्येक अंग तदनुसार आचरण करता है, अतः जब सविता देव की स्वीकृति मिल जाती है तब कोई भी अंग तद् विरुद्धाचरण नहीं कर सकता। इसी दृष्टि से कहा **'तदेनं सवितृ-प्रसूतं नाहिनत् ततोऽर्वाचीनं शान्तं तदेतन्निदानेन यत् प्राशित्रम्'** श० प० १।७।४।८। इससे यह भी ध्वनित होता है कि रेतस् की प्राशित्र संज्ञा प्रशमन व शान्तिकरण की दृष्टि से है। 'सविता देवता' नामक पुस्तक में हमने सविता देव के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया है। यह सविता **'देवानां प्रसविता'** देवों को प्रेरित करने वाला, उन्हें अपने-अपने कार्य में जुटाने वाला है। बृहस्पति को भी वह स्वकार्य में प्रेरित करता है। परन्तु काण्व संहिता २।१६ में सविता को ही बृहस्पति कह दिया है। इस मन्त्र के सायण-भाष्य में लिखा है।

'देवसवितरेतं त्वा वृणते बृहस्पतिं ब्रह्माणम्०······हे सवितर्देव एतं त्वा सवितृरूपं ब्रह्माणं बृहस्पतिरूपं ब्रह्मनामकमृत्विजं वृणते याज्ञिका वरणं कुर्वन्ति। सवितृ-शब्दाभिधः परमेश्वर एव बृहस्पतिरूपेणावतारं कृत्वाऽस्मद् यागे ब्रह्मेति भावयन्तीत्यर्थः'।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि सविता ही बृहस्पति रूप में अवतरित

---

१. **ते होचुर्नो न्वेवात्र अशमत् (न शान्तम्) बृहस्पतय एनत् परिहरतेति··'स बृहस्पतिः सवितारमेव प्रसवायोपधावत् सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्तदेनं सवितृप्रसूतं नाहिनत् ततोऽर्वाचीनं शान्तं तदेतन्निदानेन यत् प्राशित्रम्। श० प० १।७।४।८**

होकर ब्रह्मा का आसन ग्रहण करता है। इस प्रकार यह सविता और बृहस्पति एक ही हैं। या यूं कह सकते हैं कि एक के ही दो रूप हैं। सायणाचार्य के मत में यह सविता परमेश्वर है, वही बृहस्पति भी है। परन्तु परमेश्वर तो सविता, बृहस्पति, अग्नि, इन्द्र आदि सभी देव-रूपों में होता है, अतः विचारणीय यह है कि यहां प्राशित्र-भक्षण में एक अनुज्ञा लेने वाला और दूसरा अनुज्ञा देने वाला ये दो भेद किस दृष्टि से हैं? और मानव-शरीर में उसका क्या रूप है? हमारे विचार में मानव-शरीर में ये दोनों मस्तिष्क की दो शक्तियां हैं जो कि आज्ञावाहक (मोटर Motor) तथा ज्ञानवाहक (सैन्सरी sensory) इन दो नाड़िकेन्द्रों से सन्बन्धित हैं। ये आज्ञावाहक तथा ज्ञानवाहक दो केन्द्र हैं जो कि एक ही शक्ति के अधीन कार्य कर रहे हैं, ऐसा कहा जा सकता है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि एक के ही ये दो रूप हैं। उनमें बृहस्पति रूप दूसरे सवितृ रूप से प्राशित्र-भक्षण की अनुज्ञा लेने आता है। बिना सविता की अनुज्ञा के बृहस्पति प्राशित्र भक्षण करने में असमर्थ है। क्योंकि उसे भय है कि बिना सविता की अनुज्ञा के प्राशित्र भक्षण करने पर मेरी हिंसा हो जाएगी। इस उपर्युक्त कथन को हम यूं समझ सकते हैं कि सविता प्रेरक-शक्ति है। अतः सविता द्वारा रात-दिन तदनुकूल प्रेरणा होते रहने से वीर्य व रेतस् के ऊर्ध्वारोहण में सफलता सुगम होती है। इसमें जोर-जबर्दस्ती से अन्तिम सफलता मिलनी असम्भव है। जोर-जबर्दस्ती से कुछ काल तक तो वीर्य-स्तम्भन हो सकता है पर सदा नहीं। इसलिए वीर्य व रेतस् को पूर्ण रूप से शान्त करने के लिए शास्त्रों में प्राशित्र-भक्षण की यह आलंकारिक प्रक्रिया दर्शायी है। उस प्राशित्रभक्षण में सर्व प्रथम सविता की अनुज्ञा लेनी आवश्यक है यह हम ऊपर दर्शा चुके। सविता की अनुज्ञा मिलने पर अब और भी कुछ शर्तें हैं जो कि पूरी होनी चाहिएँ। वे निम्न प्रकार हैं—

प्राशित्र का ईक्षण

इस प्राशित्र प्रकरण में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि प्रतीकात्मक बाह्य प्राशित्र सम्बन्धी ईक्षण आदि क्रियाओं को आन्तरिक रेतस् रूप प्राशित्र में भी घटाते जाना है।

बृहस्पति रूपी ब्रह्मा जब आसन पर विराजमान हो जाता है तो प्राशित्र-हरण पात्र उसके समक्ष लाया जाता है, तब वह बृहस्पति ब्रह्मा यह विचार करता है कि यदि सामान्य चक्षु से इस प्राशित्र का मैं ईक्षण करूंगा तो आर्ति अर्थात् कष्ट हो जायेगा। इस लिए उसने **'मित्रस्य चक्षुषा त्वा प्रतीक्षे'** का० श्रौ० २।३।१३ मित्र की आंख से उसे देखा। तै० सं० २।६।८ में' **'सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतिपश्यामि'** सूर्य की आंख से देखने का विधान हुआ है। भग की आंख से प्राशित्र को देखने का विधान नहीं है। यह तो अन्धा होकर कामवासना को अत्यधिक प्रबल बनाता है, इससे तो बृहस्पति का ही विनाश है। बाह्य प्राशित्र को मित्र की आंख से देखना प्रतीक मात्र तो है पर इस का भी प्रभाव है। आन्तरिक रेतस् रूप प्राशित्र को शमन करना, रुद्र-

बाण को निकालना और फिर मित्र भाव रखकर उससे उत्पत्ति आदि करना अभीष्ट है। इन बातों की सिद्धि में यह बाह्यप्राशित्र तदनुकूल भावना पैदा कर सहायक होता है। सूर्य की आंख से देखने का तात्पर्य यह है कि व्यापक व दिव्य दृष्टिकोण रखना, तेजस्वी बनना आदि। प्राशित्र के ईक्षण, भक्षण आदि क्रियाओं में अपने अन्दर मित्र, सूर्य, पूषा, अग्नि आदि देवभावों को जागृत करना। अर्थात् अहं भाव से प्रेरित होकर क्रियाएँ न करना यही प्रयोजन है।

प्राशित्र पात्र का ग्रहण तथा भक्षण—

प्राशित्र पात्र को भी सामान्य हाथ से नहीं ग्रहण करना है। मन्त्र कहता है कि **'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे'** का० श्रौ० २।२।१४ यह मन्त्र बोलकर स्वकीय हाथ से उस प्राशित्र पात्र को न लेकर पूषा के हाथों से ग्रहण करता है अर्थात् मैं मनुष्य के हाथ से इसका ग्रहण नहीं कर रहा हूं, अपितु पूषा के हाथ से ग्रहण कर रहा हूं, यह भावना रक्खे। अब अनामिका और अंगुष्ठ से पात्र में से यवमात्र प्राशित्र को लेकर अग्नि के मुख से प्राशन करे। कहा भी है—अनामिकां-गुष्ठाभ्यामग्नेष्ट्वेति प्राशनामि दन्तैरनुपस्पृशन्। का० श्रौ० २।२।१६ अर्थात् मैं प्राशित्र को अनामिका तथा अंगूठे से लेकर दांतों को न छुआता हुआ अग्नि के मुख से प्राशन करता हूं। शा० श्रौ० ४।७ में **'असंचूर्णयन् दन्तैरनुपस्पृशन् इत्यर्थः'** दांतों से स्पर्श न करने का भाव यह है कि उसे दांतों से नहीं चबाना। इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि अन्न को दांतों से चर्वण कर भक्षण करने से एक स्वाद उत्पन्न होता है, एक रस आता है जिससे कि आसक्ति पैदा होती है। वैसे तो वाक् को ही अग्नि माना गया है पर जब हम स्वाद लेकर अन्न का भक्षण करते हैं तब वह **'अहम्'** से भक्षण किया जाता है, देवों से नहीं। योगाग्नि, स्वाध्यायाग्नि, ब्रह्माग्नि आदि जिस अग्नि को हम उद्बुद्ध व प्रवृद्ध करना चाहें उसी को ध्यान में रखकर भक्षण करने से वह अग्नि का मुख हो जाता है।

इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भी यह प्रकरण आता है। कुछ विशिष्टता भी वहां दर्शायी गई है पर संक्षेप में हमने यह शतपथ ब्राह्मणान्तर्गत प्राशित्र प्रकरण प्रदर्शित किया है। अब ऐतरेय ब्राह्मण के प्राशित्र-प्रकरण को संक्षेप में दर्शाते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण (३।३३)

शतपथ ब्राह्मण सम्बन्धी इस आख्यायिका को ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ भिन्न रूप में दर्शाया गया है, उस भिन्नता पर ही हम कुछ विचार करेंगे। आख्यायिका निम्न प्रकार है 'प्रजापति द्यौ व उषा रूपी अपनी दुहिता से जब मिथुन भाव को प्राप्त हुआ तो उस समय प्रजापति ने ऋष्य नामक तरुण मृग का रूप धारण किया और दुहिता ने रोहित मृगी का। देवताओं ने देखा कि प्रजापति अकरणीय व गर्हित कर्म कर रहा है, तो उन्होंने इस प्रजापति की हिंसा के लिये अपने शरीर में जो घोरतम तनुभाग था

उसे इकट्ठा कर पुरुष रूप दिया । यह उत्पन्न नया देव रुद्र कहलाया और इसकी संज्ञा भूतवत् हुई । देवों ने उससे कहा कि प्रजापति ने अकरणीय कर्म किया है तुम इसे बींध दो । इस पर रुद्र ने वर मांगा कि मैं पशुओं का अधिपति बन जाऊं, देवों ने स्वीकार किया । इस पर रुद्र ने प्रजापति को बाण से बींध दिया । बाण से विद्ध हुआ वह प्रजापति रूप मृग ऊर्ध्व की ओर चल पड़ा । अधिदैव क्षेत्र में यह मृग ही आकाश में रोहिणी और आर्द्रा नक्षत्रों के मध्य में विद्यमान मृगशीर्ष नक्षत्र है, जिसे कि मृगव्याध रुद्र ने बाण से बींधा है । यहां जो रोहित मृगी है वह रोहिणी नक्षत्र है, आर्द्रा नक्षत्र रुद्र है । और जिस प्रकार बाण त्रिकाण्ड अर्थात् अनीक, शल्य तथा तेजन इन तीन काण्डों वाला होता है, उसी प्रकार रुद्र के बाण में भी तीन काण्ड हैं । कथानक का यह पूर्व भाग है । अब हम इसका संक्षिप्त रूप में विवेचन करते हैं ।

रुद्र का बाण तथा उसका त्रिकाण्ड सम्बन्धी विवेचन हमने 'विष्णु देवता' पुस्तक के पृष्ठ१५५ से १६३ तक विस्तार से कर दिया है ।

प्रजापति-मृग

प्रजापति ने द्युलोक रूपी मस्तिष्क में विद्यमान उषा से जब सम्पर्क किया तो प्रजापति ने ऋष्य नामक मृग का रूप धारण किया और रोहित=रोहिणी नाम की उषा ने अथवा द्यु ने मृगी का । अब विचारणीय यह है कि इस मन्त्रगत रहस्य को स्पष्ट करने के लिए ब्राह्मण कार ने प्रजापति को मृग का रूप तथा रोहित नामक उषा को मृगी का रूप क्यों धारण कराया ? हमारे विचार में इनको मृग और मृगी का रूप धारण कराना भी एक रहस्य को स्पष्ट करता है ।

मृग के सम्बन्ध में निरुक्त ने निम्न टिप्पणियाँ दी हैं

मृग-मार्ष्टेर्गतिकर्मणः—गत्यर्थक मृज् धातु से प्रत्यय करके मृग की निष्पत्ति की है । इसी प्रकार एक दूसरी व्युत्पत्ति मृगयतेः—मृग अन्वेषणे धातु से बतायी है । अर्थात् मृग में गति रहती है । और वह अपने शिकार तथा अन्न का अन्वेषण करता फिरता है । इसी प्रकार हमारे शरीर में प्रजापति प्रजनन-धर्मा रेतस् रूप में रहता है । यह रेतस् व वीर्य जब ऊर्ध्वगामी होकर मस्तिष्क की ओर प्रयाण करता है, और दिव्य शक्तियों के अन्वेषण में संलग्न होता है, तब यह मृग कहा जा सकता है । प्रजापति ने ऋष्य मृग का रूप धारण किया । ऋष्य मृग के साथ पिपासा का अधिक सम्बन्ध है यथा '**ऋष्यो न तृष्यन्नवपानमागहि** ऋ० ८।४।१० जिस प्रकार एक प्यासा मृग पानी के पास भागा-भागा जाता है उसी प्रकार यह प्रजनन धर्मा रेतस् भी पहुंचता है। पिपासा कई प्रकार की हो सकती है । कामुकता से सम्बन्ध रखने वाली पिपासा है तो ज्ञानपिपासा तथा आध्यात्मिक पिपासा भी होती है । अपनी प्यास बुझाने के लिए यह रेतस् रूप मृग इधर उधर भागता है, स्त्रीयोनि में पहुंचकर शारीरिक प्यास बुझाता है तो मस्तिष्क में पहुंचकर दिव्य मेघ से भी अपनी प्यास बुझाता है । यहां

पर मृग ऊर्ध्व रेतस् का है, इसी लिए कहा है, स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतत्तमेतं मृग इत्याचक्षते। ऐ० ३।६ अर्थात् रुद्र के बाण से बिद्ध होकर यह रेतस् ऊर्ध्व को चल पड़ा—भाग खड़ा हुआ—इस चलित वीर्य को मृग कहते हैं। हमें यहां इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रजापति को यहां यज्ञ भी कहा गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस प्रजापति रेतस् को मृग उसी अवस्था में कहा जायेगा जब यह यज्ञ को निष्पन्न करने वाला होगा। यदि कामुकता के वशीभूत हो इस रेतस् को शरीर से वाहिर फैंक दिया जाता है अथवा व्यर्थ ही स्त्री-योनि में सिञ्चन किया जाता है, तो उस अवस्था में यह रेतस् व वीर्य मृग नहीं कहा जायगा। सन्तानोत्पत्ति के निमित्त स्त्री-योनि में सिञ्चित रेतस् मृग कहा जायेगा, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति भी एक यज्ञ है। विष्णु को जो मृग कहा गया है, वह वीर्य ही है। **'वीर्यं वै विष्णुः' प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः'** वह उसके त्रिपदी रूप में ऊर्ध्वगमन को दृष्टि में रखकर कहा है। अतः मस्तिष्क में दैवी उत्पत्ति तथा स्त्री-गर्भ में यज्ञीय भावना से मानुषोत्पत्ति में वीर्य का अपने स्थान से गमन ऊर्ध्व गमन ही है, ऐसा हमें समझना चाहिए। यह प्रजापति रेतस् मृग तब बनता है, जबकि इसके साथ प्राणायाम के बल से प्राणवायु का सम्बन्ध होता है। ता० ब्रा० १।८।१३ में आता है कि **'वायवे मृगं तेनामृतत्वमशीय वयो दात्रे भूयान् मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे'** अर्थात् इस वीर्य रूपी मृग को वायु देने से मैं अमर होता हूं। दाता का विस्तार हो तथा मुझ प्रतिग्रह करने वाले का मय—कल्याण हो।

प्रजापति को यज्ञ कहा है और यह यज्ञमृग धर्मा होता है। अर्थात् थोड़े से भी कोलाहल आदि से यह भाग खड़ा होता है। इसी तथ्य को ता० ब्रा० ६।७।१० में इस प्रकार कहा है **'प्रक्वाणा इव सर्पन्ति प्रतिकूलमिव हीतः स्वर्गो लोकः त्सरन्त इव सर्पन्ति मृगधर्मा वे यज्ञो यज्ञस्य शान्त्या अप्रत्रासाय'** अर्थात् प्रकृष्ट रूप से मधुर शब्द (ध्वनि) करते हुए गमन करते हैं चूंकि यहां पृथिवी से स्वर्गलोक प्रतिकूल दिशा में है। अतः प्रतिकूल अर्थात् ऊर्ध्व की ओर चलना होता है, कुछ-२ छद्म गति अर्थात् बिना किसी आहट के शनैः-शनैः चलना होता है, क्योंकि यह यज्ञ मृगधर्मा है, मृग के समान भाग खड़ा होता है। अतः यज्ञ की शान्ति के लिए तथा त्रास व भय के निवारण के लिए शनैः २ मृदुपदविन्यास करते हुए चलना पड़ता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह प्रजापति (रेतस्) यज्ञ है और यह शरीर रूपी यज्ञ भी इसी पर आश्रित है। इस लिए इसे यज्ञ कह दिया है। यह रेतस् पृथिवी अर्थात् उपस्थ में नाभानेदिष्ठ है, नाभि के समीप में स्थित है। यहां से यह स्वर्गलोक अर्थात् मस्तिष्क की ओर प्रतिकूल दिशा में जाता है। जब यह ऊर्ध्व की ओर प्रयाण करता है तब इसे मृग कहते हैं। क्योंकि यह मार्गण-खोज करता है, किस की ? देवों की, दिव्य शक्तियों की। क्योंकि यह प्रजापति = रेतस् = यज्ञ मृगधर्मा है। जरा-सी आहट से भाग खड़ा होता है, अतः बहुत धीमे से मृदु पदविन्यास करते हुए चलना पड़ता है। जिससे यह भय-भीत न हो, शान्त रहे। इसके लिए भय का कारण व आहट क्या है ? काम, क्रोध आदि वासना की स्वल्प-सी आहट। यह आहट इसके भाग खड़ा होने में कारण बन जाती है।

इस प्रकार प्रजापति अर्थात् प्रजनन शक्ति को मृग कथन करने का क्या रहस्य है यह हमने यहां देखा ।

मनुष्योत्पत्ति—

प्रजापति रेतस् द्वारा मनुष्य की उत्पत्ति में यह आशा की गई है कि यह रेतस् दूषित न होवे तथा गर्भधारण करने में सफल होवे । इसी दृष्टि से कहा कि '**मेदं प्रजापतिरेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत् तन्मादुषस्य मादुषत्वं मादुषं ह वै नामैतद्यन्मानुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण**' । ऐ० ब्रा० ३।३३।

अर्थात् प्रजापति रेतस् दूषित न हो अर्थात् गर्भधारण करने में समर्थ होवे । अतः **मा दुषत्' = मादुषम् = मानुषम्** मादुष को ही परोक्ष में मानुष कहते हैं ।

आगे आदित्य अग्नि की उत्पत्ति के प्रसंग में बृहस्पति की उत्पति दर्शायी है । इसको हम ब्रह्माण्ड में न दर्शाकर शरीर में दर्शाते हैं ।

'**तदग्निना पर्यादधुस्तन्मरुतोऽधून्वंस्तदग्निर्नप्राच्यावयत् तदग्निना वैश्वानरेण पर्यादधुस्तन्मरुतोऽधून्वंस्तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत् तस्य यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत्**' ।

इसका भाव यह कि यह रेतस् मृगधर्मा बन जब ऊर्ध्व में मस्तिष्क में पहुंचा (उदप्रपतत्) तब अग्नि ने इसे चहुं ओर से घेर लिया और मरुत् अर्थात् प्राणवायु ने इसे धोंकनी दी परन्तु इससे रेतस् में परिवर्तन न हुआ । तदनन्तर जब वैश्वानर अग्नि ने इसे घेरा और मरुतों ने धोंकनी दी तब इसमें परिवर्तन हुआ । इस परिवर्तन से रेतस् से आदित्य की उत्पत्ति हुई ।

यह आदित्य की उत्पत्ति द्युलोक में है पिण्ड में मनुष्य के मस्तिष्क में है । अतः वैश्वानर अग्नि भी द्युलोक (पिण्ड में मस्तिष्क) सम्बन्धी होगी । श० प० १०। ६।१।८ में आता है कि '**चक्षुस्त्वा एतद्वैश्वानरस्य** (यदादित्यः) अर्थात् यह आदित्य वैश्वानर की चक्षु है मस्तिष्क में यह आंख है, दिव्य दृष्टि है । आगे द्वितीय और तृतीय उत्पत्तियां भृगु और अंगिरा की हैं । उस रेतस् का जो द्वितीय पिण्ड हुआ वह भृगु बना । वरुण ने उसे घेरा । भृगु 'भ्रस्ज पाके' धातु से बनता है । ब्रह्माण्ड में जब परिपाक प्रारम्भ हो गया तब वरुण ने (वारण शक्ति) पृथक् २ क्षेत्रों व प्रदेशों को घेरा, जिससे ये सूर्य, चन्द्रमा व नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि पृथक् २ बनते गये । इसी प्रकार शरीर में मातृ-गर्भ में कलल से अंग-प्रत्यंगों का निर्माण होता है । इसी भांति जब मनुष्य योगाग्नि में परिपक्व होना प्रारम्भ होता है, तब तत्तत्क्षेत्र वरुण से घेरा जाता है । जिससे पाप आदि शत्रुओं का वारण होता है, और शक्ति का उद्भावन होता है । इसके अनन्तर तृतीय प्रदीप्ति में अंग-रसों का निर्माण होता है । इन अंग-रसों में काम-क्रोधादि अनेक प्रकार की अग्नियां होती हैं । जब ये काम-क्रोध आदि अग्नियां शान्त हो जाती हैं और एक दिव्य ज्योति व प्रदीप्ति प्रकट होती है तब वह

बृहस्पति होती है। कहा भी है' येंऽगारा आसस्तेंऽगिरसोऽभवन् यदंगाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्'। ऐ० ब्रा० ३।३३।

जो अंगारे थे वे अंगिरस बने अर्थात् अंगों के रस बने। ये अंगों के रस शान्त होकर फिर जब प्रदीप्त हुए तब बृहस्पति हुआ। इस प्रकार बृहस्पति की उत्पत्ति होती है। यह सब कथानक रूप में आलंकारिक भाषा में है। इसके पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए एक-२ पद व परिभाषा पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि प्राशित्र प्रकरण में बृहस्पति की उत्पत्ति दर्शायी गई है इस लिये प्राशित्र प्रकरण पर हमने कुछ विस्तार से विचार किया। गोपथ ब्राह्मण तथा ताण्ड्य आदि ब्राह्मणों में भी इस सम्बन्ध में प्रकरण आते हैं, उनकी व्याख्या करनी भी अभीष्ट है।

उपसंहार

देवों द्वारा निष्पन्न दर्शपूर्णमास यज्ञ में बृहस्पति ब्रह्मा का आसन ग्रहण करता है, मानव-द्वारा निष्पन्न यज्ञ में मनुष्य ब्रह्मा बनता है। यह यज्ञ ब्रह्मा के अन्तर्गत द्युलोक में तथा पिण्ड में मानव के सिर में निष्पन्न होता है। इन्हीं दोनों प्रकार के यज्ञों की प्रतिलिपि मनुष्य बाह्य कर्मकाण्ड के द्वारा किया करता है। बाह्य कर्मकाण्ड की दर्शपूर्णमास सम्बन्धी प्रतिलिपि व ड्रामा मनुष्य के मस्तिष्क में होने वाले दर्शपूर्णमास में सहायक होती है। यहां हमने पिण्ड के अन्तर्गत दर्शपूर्णमास को लक्ष्य कर बृहस्पति-सम्बन्धी प्राशित्राख्य चरु पर विचार किया है।

बृहस्पति को यव अथवा पिप्पल फल के बराबर प्राशित्र नाम का जो हविर्भाग दिया जाता है उसका रहस्य यह है कि ब्रह्मा में वैसे ही वासना नहीं होती यदि कुछ स्वल्पांश में भी हो तो वह भी प्राशित्र (प्रशमनात्) के भक्षण से शान्त हो जाये। इससे यह भी ध्वनित होता है कि बृहस्पति=ब्रह्मा वह ही बन सकता है जिसमें लेश मात्र भी कामवासना न रहे। इसी तथ्य को इस सम्पूर्ण प्राशित्र प्रकरण में दर्शाया गया है। यह काम-वासना रहती कहां है? रेतस् व वीर्य में, यह सब जानते ही हैं। रेतस् में ही प्रजनन शक्ति रहती है अतः यह प्रजापति है। इसी रेतस् से यह शरीर यज्ञ व शिरयज्ञ आदि चालु हैं अतः इस रेतस् को यज्ञ भी कहते हैं। इसी के प्रभाव से मस्तिष्क में द्युः दिव, प्रकाश व ज्ञान होता है, दिव्य उषा का प्रकटन होता है अतः द्यु व उषा इस रेतस् रूप प्रजापति की दुहिता है। यह रेतस् रूप प्रजापति मस्तिष्क में पहुंच द्यु व उषा से सम्पर्क करता है, अतः यह उसका उषा के साथ सम्भोग है। परन्तु इस सम्भोग में वासना नहीं है, यहां वासना समाप्त हो जाती है, क्योंकि ऊर्ध्व-रेता की अवस्था में ही रेतस् मस्तिष्क में पहुंचा करता है। इन्द्रियां आदि अपने २ वासना सम्पृक्त अन्न के न मिलने से क्रुद्ध होती हैं। रुद्र शरीराग्नि है, यह अन्न-भक्षण के लिये होती है। अतः रेतस् रूप प्रजापति में कामवासना का स्वल्प-सा अंश है वह पीडा व कामव्यथा पैदा करता है। यह रुद्र का बाण है इसी काम-व्यथा का प्रशमन ब्रह्मा को प्राशित्र नामक चरु भक्षण के लिये देकर किया जाता है। यह बाह्य चरु

(प्राशित्र) तो प्रतीक मात्र है, वस्तुतः रेतस् ही प्राशित्र है क्योंकि ऊर्ध्व रेतस्-प्रक्रिया द्वारा जब यह मस्तिष्क में पहुंचता है तो मस्तिष्क शक्तियों के लिये यह अन्न बनता है, हवि बनता है। इसे प्राशित्र इस लिये कहते हैं कि इसमें कामवासना का प्रशमन किया जाता है। अतः रेतस् का स्वल्पांश भी प्राशित्र है, क्योंकि उसे प्रशमन किया जाता है। ब्रह्मा को दिया गया वह चरु भी प्राशित्र है क्योंकि यह प्रशमन करने वाला है। इस रेतस् में विद्यमान काम रूपी प्राशित्र को भग=स्त्री-भग को दें तो अन्धा कर देता है। पुष्टि के देवता को दें तो अदन्तक बना देता है। अतः बृहस्पति को ही दिया जाता है। वह इसे शान्त करता है। और दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति में कारण होता है। हमारे मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान की शक्ति दिव्य बनती है वह बृहस्पति का रूप धारण करती है। अतः इसी प्रकरण में देवों के साथ बृहस्पति की भी उत्पत्ति दर्शायी गई है।

विंश अध्याय

बृहस्पति और वाजपेय याग

ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित सन्दर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बृहस्पति का वाजपेय याग के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक प्रकार से वाजपेय याग की पूर्णता पर ही मनुष्य बृहस्पति बनता है। वाजपेय यज्ञ क्या है? उसका अधिकारी कौन है? वह कब करना चाहिए? इत्यादि बातों को अति रहस्यात्मक पद्धति से ब्राह्मण ग्रंथों में दर्शाया गया है। वाजपेय याग के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रंथों में दो एक कथानक आते हैं, सर्वप्रथम हम उन्हें यहां प्रस्तुतं करते हैं।

शतपथ ५।१।१ में आता है कि 'प्रजापति के दो पुत्र थे—देव और असुर। इन दोनों में परस्पर स्पर्धा हो गई। ये एक-दूसरे को पराभूत करने के लिये उपाय सोचने लगे। असुरों ने कहा कि चलो, यज्ञ करते हैं। प्रश्न आया आहुति डालने का। असुर स्वभाव से अतिमानी व अहंकारी थे। उन्होंने कहा हमसे कौन श्रेष्ठ है? इस अभिमान में भरेहुए वे आहुति उठाते और अपने मुँह में डाल लेते। इसका परिणाम यह हुआ कि वे देवों से पराभूत हो गये।

यहां शास्त्रकार का यह कहना है कि मनुष्य को अतिमान—अभिमान नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह पराभव का हेतु है, गिराने वाला गर्त है। असुरों के बाद जब यज्ञानुष्ठान की बारी देवों की आयी तो उन्होंने एक-दूसरे के मुँह में आहुति डालनी प्रारम्भ कर दी। इससे प्रसन्न होकर प्रजापति ने अपने आपको देवों के समर्पित कर दिया। देखा जाय तो यज्ञ देवों का ही है क्योंकि यह उनका अन्न है। अब जब वाजपेय यज्ञ देवों के समक्ष उपस्थित हुआ, तब यह यज्ञ मेरा है, यह मेरा है—करके वे विवाद करने लगे। जब वे किसी निर्णय पर न पहुंचे तब सब देवों ने मिलकर निश्चय किया—चलो, आजिधावन[1] करते हैं अर्थात् वाजपेय को लक्ष्य करके दौड़ते हैं जो जीत जाय तो वह यज्ञ उसका। यह शर्त रखकर सब देव आजि-धावन के लिये उद्यत हुए। तब इसी बीच में बृहस्पति, देवों के मध्य से चुपचाप निकल कर सबके प्रेरक सविता देव के पास जा पहुंचे और उनसे विनती की कि भगवन्! आप सबके उत्पादक व प्रेरक हैं, मैं इस वाजपेय यज्ञ को जीतना चाहता हूं, अतः आजिधावन में विजय प्राप्ति के लिये आपकी अनुज्ञा तथा प्रेरक बल मिल जाये तो आपकी बड़ी

---

१. धावनप्रदेशस्यावधिभूमिविशेषः काष्ठा=आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते, क्रान्त्वा स्थितो भवति। नि० २।५।१

कृपा हो। बृहस्पति की प्रार्थना स्वीकृत हुई और उसे अनुज्ञा मिल गयी। इस प्रकार सविता देव से अनुज्ञा पाकर बृहस्पति आजि-धावन के लिये उद्यत देवों की पंक्ति में आ खड़े हुए और दौड़ने पर विजयी हुए। बृहस्पति की सब देवों पर विजय एक प्रकार से समग्र विश्व पर विजय है। क्योंकि यह समग्र विश्व प्रजापति रूप है। कहा भी है—
"स इदं सर्वमुदजयत् प्रजापतिं ह्युदजयत् सर्वमुह्येवेदं प्रजापतिः"।

श० प० ५।१।१।४।

अब आजिधावन में विजय प्राप्त कर बृहस्पति ने वाजपेय यज्ञ किया और ऊर्ध्व दिशा की ओर उत्क्रमण कर गया। अतः यह ऊर्ध्व दिशा बृहस्पति की दिशा मानी जाती है।'

उपरोक्त कथानक शतपथ ब्राह्मण का है। इससे दो तीन बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो देवों और असुरों में क्या भेद है? यह ज्ञात हो जाता है। दूसरे वाजपेय का सम्बन्ध अतिमान, अहम्भाव व स्वार्थ से बिलकुल नहीं है। यह यज्ञ वही कर सकता है जिसने अहंकार व स्वार्थ का पूर्णरूपेण परित्याग कर दिया है। बृहस्पति ब्राह्मणों का आदिस्रोत है, तथा ब्राह्मणों की पराकाष्ठा है। ज्ञान-विज्ञान का सर्वातिशायी रूप है। अतः बृहस्पति के उच्चासन पर विराजमान होने के लिये अहकार का परित्याग अत्यन्त आवश्यक है। इसी बात को मनुमहाराज ने निम्न श्लोक में सामान्य रूप से रख दिया है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्यैव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा।। मनु० २।१६२

तीसरा तथ्य यह उद्घाटित होता है कि यहां प्रजापति को सर्वजगद् रूप दर्शाया है और इस प्रजापति पर विजय प्राप्त करने से बृहस्पति भी सर्वजगन्मय बन जाता है। यह तभी होता है जब व्यक्ति अहंकार तथा स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है। अहम् सीमा व खण्ड को दर्शाता है। अतः जो व्यक्ति 'अहम्, मम' के दायरे से ऊपर उठ जाता है वह निःसीम व अखण्ड बन जाता है। वह अहकार के क्षेत्र से उठकर महद्ब्रह्म तथा ऊपर प्रकृति व परम ब्रह्म के क्षेत्र में जा पहुंचता है। और बृहस्पति का ऊर्ध्व दिशा की ओर उत्क्रमण करना आध्यात्मिक क्षेत्र में ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ आदि राजस व तामस से ऊपर सत्त्व में पहुंचना है। तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र, मस्तिष्क में पहुंचना है।

अब हम संक्षेप में तैत्तिरीय ब्राह्मण के कथानक को भी दर्शाते हैं। वहां आता है—देवताओं ने अपने-अपने आदर्श के अनुसार यज्ञ किये। किसी ने अग्निष्टोम, किसी ने उक्थ और किसी ने अतिरात्र—इस प्रकार उन्होंने यज्ञों का सम्पादन किया। परन्तु जब देवों की दृष्टि वाजपेय पर पड़ी तो एक-दूसरे को अनसुना कर, इससे यज्ञ करने के लिये आपस में विवाद करने लगे। मैं इससे यज्ञ करूंगा, मैं इससे यज्ञ करूंगा इत्यादि मैं-मैं करके परस्पर झगड़ने लगे। जब उनमें से कोई न माना तब उन्होंने यह निश्चय

किया कि वाजपेय को अवधि बनाकर दौड़ते हैं जो पहले आ जाये वह इससे यज्ञ करे। वे यह शर्त लगाकर दौड़े, उनमें बृहस्पति जीत गया। इसलिये बृहस्पति ने इस वाजपेय यज्ञ द्वारा यजन किया और स्वराज्य प्राप्त किया। अब इन्द्र बृहस्पति के पास पहुंचा और बृहस्पति से प्रार्थना की कि मुझे भी इससे यज्ञ कराओ। बृहस्पति ने इन्द्र को यज्ञ कराया, जिससे वह देवताओं में बड़ा बना और स्वराज्य प्राप्त किया।

इस कथानक से भी दो-तीन बातों का स्पष्टीकरण होता है एक तो यह कि यह वाजपेय यज्ञ वस्तुतः है ब्राह्मणों का, क्योंकि बृहस्पति ब्राह्मणों का प्रतिनिधि है। परन्तु बृहस्पति ने क्षत्रियों के प्रतिनिधि इन्द्र को यह यज्ञ कराया इसलिए इस यज्ञ को करने का अधिकार क्षत्रियों को भी दिया गया है। इसकी पुष्टि मे शतपथ[1] ब्राह्मण ५।१।१।११ का प्रकरण देखा जा सकता है वहां आता है कि "यह वाजपेय यज्ञ ब्राह्मण का ही है क्योंकि बृहस्पति ने इससे यज्ञ किया। ब्रह्म ही बृहस्पति है और ब्रह्म ही ब्राह्मण है। दूसरी तरफ यह यज्ञ क्षत्रिय का भी है क्योंकि इन्द्र ने इससे यज्ञ किया। क्षत्र ही इन्द्र है और राजन्य भी यही है।"

वैश्य को यह यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। कात्यायन श्रौत सूत्र में स्पष्ट शब्दों में वैश्य को निषेध किया गया है। वहां आता है। **"वाजपेयः शरद्यवैश्यस्य"** का० श्रौ० १४।१।१ अर्थात् यह वाजपेय याग शरद् ऋतु में करना चाहिये और वैश्य को इसके करने का अधिकार नहीं है।

मेरे अपने विचार में केवल वैश्य ही नहीं सब ब्राह्मण तथा सब क्षत्रिय भी इसे करने की सामर्थ्य नहीं रखते। इसमें हेतु यह है कि इस यज्ञ द्वारा ब्राह्मण और क्षत्रिय में वाज अर्थात् वेग की प्राप्ति होती है। ब्राह्मण में ब्रह्म वेग और क्षत्रिय में क्षात्रवेग। यह वेग धन-दौलत के कमाने में रात-दिन लगे हुए वैश्य में नहीं पैदा हो सकता। जिस वाज के बल से ब्राह्मण समग्र जीवन को तप और त्याग में सहर्ष बिता देता है, जिस क्षात्र वेग के बल से क्षत्रिय युद्धों में पराक्रम दिखाता है, प्राणों को सहर्ष उत्सर्ग करने में भी नहीं हिचकिचाता वह कार्य वैश्य नहीं कर सकता। और न ही वे नामधारी ब्राह्मण व क्षत्रिय कर सकते हैं जो रात-दिन भोगविलास में डूबे रहते हैं और त्याग-तप से दूर रहते हैं।

इस कथानक से दूसरी बात यह भी पता चलती है कि ब्राह्मणों में ब्रह्मवेग के पैदा होने के अनन्तर ही क्षत्रियों में क्षात्र-वेग उत्पन्न हो सकता है। यदि ब्राह्मणों में ब्रह्म वेग नहीं है तो क्षत्रियों में क्षात्र वेग पैदा नहीं हो सकता। और यदि कोई वेग पैदा भी हुआ तो वह क्षात्र वेग न होकर आसुरी वेग होगा। क्योंकि 'क्षत्रत्व'

---

१. स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञः। यदेनेन बृहस्पतिरयजत। ब्रह्म हि बृहस्पति ब्रह्म हि ब्राह्मणोऽथो राजन्यस्य यदेनेनेन्द्रोऽयजत। क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः।
श० प० ५।१।१।११

इसी सम्बन्ध में तै० ब्रा० १।३।२।३ तथा आप० श्रौ० का प्रकरण द्रष्टव्य है।

'क्षतात् त्रायते' में है। अर्थात् जो विनाश से, अत्याचार से रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। क्षत्रियों का नियामक ब्राह्मण ही होता है। यदि ब्राह्मण में अपनी ब्रह्म नामक सामर्थ्य नहीं है तो वह क्षत्रियों को नियन्त्रित नहीं कर सकता। इसी दृष्टि से कहा है कि "**तद् यत्र ब्राह्मणं क्षत्रं वशमेति तद् राष्ट्रं समृद्धं तद् वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते**" ऐ० ब्रा० ८।९ अर्थात् जिस राष्ट्र में क्षत्र ब्रह्म के वश में होता है वही राष्ट्र समृद्धिशाली तथा वीरप्रजाओं से युक्त होता है। उसी राष्ट्र में वीर पुरुष पैदा होते हैं। तीसरी बात है स्वराज्य प्राप्ति की। स्वराज्य आत्म-नियन्त्रण व आत्मोपलब्धि का द्योतक है। ता० ब्रा० १८।६।४ में आता है कि "जो इस तथ्य को जानकर वाजपेय से यजन करता है वह स्वराज्य को प्राप्त करता है। अपने सम-कक्ष साथियों में आगे-आगे चलता है उसको ही सब अपने से ज्येष्ठ मानते हैं और वह प्रजापतित्व को प्राप्त होता है[1]।"

लाट्यायन श्रौत सूत्र (८।२।१) में आता है कि "**यं ब्राह्मणा राजानश्च पुरस्कुर्वीरन् स वाजपेयेन यजते।**" अर्थात् ब्राह्मण और राजा लोग जिसको सब बातों में आगे करते हैं वह वाजपेय याग से यजन करता है।

वाजपेय की निरुक्ति तथा अर्थ—वाजपेय का संक्षिप्त भाव यह है कि वाज की प्राप्ति के लिए जिस यज्ञ द्वारा अथवा जिन साधनों द्वारा सोम का पान किया जाता है वह वाजपेय कहलाता है। वाज का मुख्यार्थ व केन्द्रीय अर्थ तो वेग है। जो कि ब्राह्मण में ब्रह्म वेग तथा क्षत्रिय में क्षात्र वेग के रूप में रहता है। क्योंकि यह वेग सोम-पान द्वारा पैदा होता है अतः वाजपेय में सोमपान किया जाता है। इसी कारण सोम का एक नाम वाज भी है। औषधि-वनस्पतियों में विद्यमान सोम शरीर में वीर्य व ओज रूप में परिणत हो जाता है। यही वीर्य व ओज सोम कहा गया है। इस वीर्य व ओज का पान करना वाजपेय है। वीर्य व ओज का पान आन्तरिक पान है। जिस समय मनुष्य में वीर्य व ओज का आधिक्य हो जाता है तब वह इसे सम्भाल नहीं पाता। अष्टविध मैथुन द्वारा वह इसे बाहिर कर देता है। परन्तु वाजपेय में इसे बाहिर न फेंककर उज्जित व ऊर्ध्वारोहण साधना द्वारा मस्तिष्क व हृदय सम्बन्धि योग-यज्ञ व ज्ञान-यज्ञ में दिव्य आन्तरिक ज्योति के प्रज्ज्वलन में तथा दिव्यता की प्राप्ति के लिए आवश्यक वाज की उत्पत्ति में लगा देना ही सोम का वास्तविक पान है। अतः वाजपेय द्वारा विशिष्ट विधि-विधानों व परिभाषाओं में प्रदर्शित आन्तरिक क्रियाओं पर कुछ विशिष्ट प्रकार की यौगिक प्रक्रियाओं का अवलम्बन करने से वीर्य व ओज को शरीर के अन्दर ही खपाया जाता है। इस प्रकार पुरा काल में ब्राह्मण ब्रह्म वेग तथा क्षत्रिय क्षात्र वेग पैदा किया करते थे। परन्तु पीछे परवर्ती काल में सुरा

---

१. **य एवं विद्वान् वाजपेयेन यजते गच्छति स्वाराज्यम्। अग्रं समानानां पर्येति तिष्ठन्तेऽस्मै ज्येष्ठाय। वाजपेययाजी वाव प्रजापतिमाप्नोति। तां० ब्रा० १८।६।४**

व मदिरा आदि मादक द्रव्यों के पान से क्षणिक तथा विनाशकारी वेग (उबाल) पैदा करना भी इसमें सम्मिलित हो गया ।

अब वाजपेय की कुछ निरुक्तियां यहां प्रदर्शित की जाती हैं—तै० ब्रा० १।३।२।३-४ में सोम, अन्न तथा ब्रह्म इन तीनों को वाजपेय कह दिया गया है ।

१. **वाजाय पेयः तादर्थ्ये चतुर्थी ।**

२. **वाजार्थं सोमं यत्र पिबन्ति ।**

अर्थात् जिस याग में वाज की प्राप्ति के लिये सोमपान किया जाता है वह वाजपेय है ।

३. **अन्नं पेयं ह वै नामैतद् यद् वाजपेयम् ।** श०प० ५।१।३।३

४. **अन्नं वै वाजपेयः ।**

५. **सोमो वै वाजपेयः ।**

६. **ब्रह्म वै वाजपेयः ।**

७. **तं वा एतं वाजपेय इत्याहुः । वाजाप्यो वा एष वाजं ह्येतेन देवा ऐप्सन् ।** तै० ब्रा० १।३।२।३-४ ।

८. **वाजं पेयं सुरा द्रव्यं यस्मिन्—शास्त्रदीपिका ।**

इस प्रकार ऊपर हमने वाजपेय शब्द के निर्वचन तथा स्वरूप निदर्शक शास्त्र-वचन प्रदर्शित किये ।

सायणाचार्य ने अपनी व्याख्या में लिखा है कि **वाजो देवान्नरूपः सोमः पेयो यस्मिन् यागे स वाजपेय इत्येकं निर्वचनम्, यस्मादेतेन यज्ञेन देवा वाजं फलरूपमन्नमाप्तुमैच्छन् तस्मादन्नरूपो वाजः पेयः प्राप्यो येन स वाजपेयः इत्यपरं निर्वचनम् ।** अर्थात् देवान्नरूप सोम जिस याग में पान किया जाये वह वाजपेय है । यह एक निर्वचन हुआ । दूसरा निर्वचन यह है कि इस यज्ञ द्वारा देवों ने फल रूप में वाज अन्न की प्राप्ति करनी चाही । इस कारण अन्नरूप वाज जिस याग द्वारा पेय अर्थात् प्राप्त होता है वह वाजपेय है । वाजपेय सम्बन्धी कुछ निर्वचन हमने प्रदर्शित किये । इन निर्वचनों के आधार पर वाजपेय का स्वरूप क्या है, उसका क्या प्रयोजन है, वाजपेय का वस्तुतः क्या अर्थ है ? इत्यादि बातों पर हमें विचार करना चाहिये ।

मेदिनी कोष में वाज के निम्न अर्थ दिये हैं "**वाजो निःस्वनपक्षयोः । वेगे पुमानथ क्लीबे घृतयज्ञान्नवारिषु**" इस कोष में वाज के जहां घृत, यज्ञ, अन्न आदि अर्थ दिये हैं वहां वेग अर्थ भी दिया है । वस्तुतः वाज का अर्थ देवान्न रूप सोम है, वेग तो उसका परिणाम है । यह सोम द्युलोक का एक अमृत पेय है । (**दिवि सोमो अधिश्रितः**) वहां से यह सोम सूर्यकिरणों द्वारा, चन्द्ररश्मियों द्वारा, मेघद्वारा पृथिवी पर आता है और औषधि-वनस्पतियों में पहुंचता है । ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण लोग द्युलोक से सीधा भी सोमपान करते हैं । "**सोमं मन्यते पपिवान्०**" मन्त्र में इसी तथ्य की ओर संकेत है । इस प्रकार द्युलोक से सीधा सोमपान किया जा सकता है पर यह किसी भाग्यशाली ब्रह्मवेत्ता के वश की बात है । अन्य सामान्यजन तो सोम-प्रधान औषधियों तथा गोदुग्ध आदि सात्त्विक

अन्न भक्षण से सोम को अपने अन्दर धारण करते हैं। यही सोम रस, रक्त आदि रूपों में होता हुआ जब वीर्य व ओज रूप में परिणत होता है तब यह सोम कहलाता है। आयुर्वेदग्रंथों में—"ओजः सोमात्मकं स्निग्धं" आदि वचनों द्वारा अष्टम धातु ओज को सोम माना है। इस ओज का अधःपतन न करके ऊर्ध्वारोहण प्रक्रिया द्वारा इसका आन्तरिक पान करना तथा मस्तिष्क में स्थित देवशक्तियों का इसे अन्न बनाना होता है। इसी तथ्य को मैत्रायणी संहिता में दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा है—

"ककुभो राजपुत्रः प्राश्नाति वीर्यं वै ककुब् वीर्यमेवास्मिन् धत्ते" मै० सं० १।११।७ राजपुत्र ककुब=(सोम=वीर्य) का प्राशन करता है अर्थात् वीर्य को अपने अन्दर धारण करता है। इसी प्रकार पति-पत्नी जब गृहस्थ भोग चुकते हैं और वानप्रस्थ में जाने के लिये उद्यत होते हैं तो एक प्रकार से वाजपेय याग करते हैं। उस समय पति-पत्नी से संवाद करता है "स्वो रोहावेहि, स्वो रोहावेहि, स्वो रोहावेहि स्वर्वा एतद् रोक्ष्यन् पत्न्या संवदते"। मै० सं० १।११।८

अर्थात् हे पत्नि! आ स्वर्गलोक की ओर आरोहण करें। स्वः की ओर आरोहण का तात्पर्य ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए वीर्य के ऊर्ध्वारोहण से है। वीर्य के ऊर्ध्वारोहण से मनुष्य में वेग पैदा होता है। जिसे (वाज) नाम से कहा जाता है। एक मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि "अश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः"। अथर्व १।४।४। अर्थात् हमारे अश्व तथा गौएं वेगवान् हों। यह वेग सोमपान से आता है। जब सोम उपलब्ध न रहा तो सुरापान से क्षत्रिय लोग क्षणिक वेग पैदा करने लगे। वेदों में प्रयुक्त सुरा शब्द पर यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाये तो यह प्रतीत होता है कि वेदों में सुरा बुरे अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है। एक प्रकार से सुरा सोम का पर्यायवाची है। इसी कारण स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में सुरा को सोम माना है। पर वेदोत्तर कालीन वैदिक साहित्य में सुरा को सोम से पृथक् कर दिया गया है।

वाज=अन्न, अन्नपेय—वाज का अर्थ प्रायः अन्न किया जाता है। इसलिये वाजपेय का दूसरा नाम अन्नपेय भी है। प्रश्न यह पैदा होता है कि अन्न से भौतिक अन्न का ग्रहण करना है या ये किसी अन्य भाव के द्योतक हैं। यदि वाज का अर्थ सामान्य भौतिक अन्न किया जाता है तो इस यज्ञ के करने का सबसे प्रमुख अधिकारी तो वैश्य होना चाहिये। क्योंकि सामान्य अन्न की प्राप्ति में वैश्य के सामने ब्राह्मण और क्षत्रिय की तो कोई गिनती ही नहीं। परन्तु शास्त्रों ने इस याग को करने का अधिकार वैश्य को नहीं दिया, यह पहले दर्शा चुके हैं। इससे यह पता चलता है कि वाज का जो अन्न अर्थ किया जाता है वह सामान्य अन्न नहीं है। जिस औषधि रस व गोदुग्ध आदि के स्थूल अन्न से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म रूपी अन्न के पान से

---

१. प्रमाण आदि बिस्तार के लिये द्रष्टव्य—कु० नीराजना शर्मा पी-एच० डी० लिखित "वैदिक सोम का समीक्षात्मक अध्ययन"।

ब्राह्मण में ब्रह्मवेग उत्पन्न होता है और क्षत्रिय में क्षात्र वेग पैदा होता है जो कि युद्धों में प्रकट होता है वही अन्न वाजनामक सोम है। इस सम्बन्ध में मैत्रायणी संहिता १।११।५ का यह प्रकरण द्रष्टव्य है।

"**अन्नं वै वाजस्तद् य एवं विद्वान् अन्नमत्ति वाजयति ह वा एनमन्नमद्यमानं सोमो वै वाजपेयस्तद् य एवं विद्वान् सोमं पिबति वाजं ह गच्छति यावन्तो हि देवाः सोममपिबंस्ते वाजमगच्छंस्तस्मात् सर्वः सोमं पिपासति**" अर्थात् अन्न वाज है। [वाज का साधन है] इस तथ्य को जानता हुआ जो इस वाज रूपी अन्न का भक्षण करता है वह वाजी बनता है। यह वाज रूपी अन्न सोम है। जिन देवों ने सोमपान किया वे वाज को प्राप्त हुए। अतः सब कोई सोम का पान करना चाहता है।

इस उपर्युक्त प्रकरण में "**अन्नमत्ति वाजयति सोमं पिबति वाजं ह गच्छति**" ये उद्धरण विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। इससे दो एक बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह है कि सोम तो सब अन्नों में है पर वाज (वेग) पैदा करने का गुण सब में नहीं है। अन्न व सोभ का सीधा अर्थ वाज नहीं है पर ये वाज को पैदा करने से वाज नाम से उच्चरित हुए हैं। अतः वाज का मुख्यार्थ वेग व तेज ही है। यह वाजरूपी वेग साध्य है, अन्न व सोम साधन हैं। और वही स्थूल भौतिक अन्न वाज नाम से कहा जायेगा जो कि ब्रह्मतेज व क्षात्रतेज पैदा करने वाला होगा। इस प्रकार वैदिक साहित्य में साधन और साध्य को एक ही नाम से कहे जाने की एक विशिष्ट प्रकार की शैली सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इसी दृष्टि से सोम, अन्न, ब्रह्म ये वाज भी हैं और वाजपेय भी हैं।

ब्रह्म वाजपेय—ब्रह्म वाजपेय है अर्थात् ब्रह्म के धारण करने से मनुष्य में ब्रह्म वेग पैदा होता है। मनुष्य में ब्रह्म की उत्पत्ति के कई साधन हैं उनमें अन्न का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सम्वन्ध में निम्न वाक्यों को ध्यान में रखना चाहिये। यथा- "**अत्ति ब्रह्मणाऽन्नम् आस्य ब्रह्मा जायते अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, अन्नमत्ति प्रतीकेन**" इत्यादि वाक्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है। अन्न को ब्रह्म समझकर तथा अपने अन्दर ब्रह्म-भाव जागृत कर अन्न भक्षण करना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि उस अन्न-भक्षण से उत्पन्न वीर्यादि भी मनुष्य में ब्रह्मतेज उत्पन्न करने में सहायक होंगे, वासना का अभाव होगा। इसी कारण सोम को ब्रह्मतेज माना है। तै० ब्रा० १।३।३ में आता है—**ब्रह्मणो वा एतत् तेजः यत् सोमः। ब्रह्मण एव तेजसा तेजो यजमाने दधाति**" अर्थात् यह सोम ब्रह्म का तेज है। इस ब्रह्म के तेज से यजमान में तेज धारण कराया जाता है। ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय यजमान में तेज धारण कराने की ओर भी यह संकेत है। इस प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति का साधन होने से वाजपेय को ब्रह्म कह दिया गया है।

सोम के स्थान—यजुर्वेद का ९ वाँ अध्याय वाजपेय से सम्बन्ध रखता है। वाजपेय याग में जिस सोम का पान किया जाता है उसका भी इस अध्याय में वर्णन

है। वह सोम कहां-कहां रहता है और किन-किन में किस प्रकार का वेग पैदा करता है इत्यादि बातों का हम यहां संकेत किये देते हैं। यथा—ध्रुवसद्, मनःसद्, नृषद्, अप्सुषद्, घृतसद्, व्योमसद्, पृथिविषद्, अन्तरिक्षसद्, दिविषद्, देवसद्, नाकसद् आदि। अर्थात् यह सोम ध्रुव, मन, नृ, अप, घृत, व्योम, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, देव तथा नाक आदि स्थानों में विद्यमान होता है। (यजु० ९।२)।

इसी प्रकार अन्य मन्त्र में कहा है कि—

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥ ऋ० ९।९६।६

उपरोक्त मन्त्र में सोम द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले वाज (वेग) की पराकाष्ठा का दिग्दर्शन कराया है। अर्थात् देवों के तेज की पराकष्ठा ब्रह्मा है। कवियों अर्थात् क्रान्तदर्शियों का गन्तव्य को प्राप्त कर लेना, चाहे वह परोक्ष क्यों न हो, विप्रों में ऋषि, मृगों में महिष, गृध्रों में श्येन, वनों में स्वधिति, इत्यादि ये सोम के तेज की पराकाष्ठायें उदाहरण रूप में दर्शायी गयी हैं और भी अनेकों पराकाष्ठायें दर्शायी जा सकती हैं। श्रीमद्भगवदगीता में भगवान् कृष्ण की जो विभूतियां परिगणित की गई हैं, वे ही ये सोम की विभूतियां हैं। इन विभूतियों को ही वेद में वाज नाम से कहा गया है। जिस प्रकार भगवान् कृष्ण की विभूतियों का अन्त नहीं है **'नान्तोऽस्ति मे दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।'** उसी प्रकार सोम की विभूतियों का अन्त नहीं है। वस्तुतः भगवान् कृष्ण की विभूतियां सोम की ही विभूतियां थीं, यह कहा जा सकता है। सोम-सम्बन्धी एक और मन्त्र है—

'अपां रसमुद्वयसं सूर्ये सन्तं समाहितम्। अपाँ रसस्य यो रस'''यजु० ९।३

अर्थात् यह सोम जलों का रस अर्थात् सार है जिसका वितान ऊर्ध्व में द्युलोक की ओर है वह सोमरूपी रस सूर्य में पहुंच समाहित होता है। एक प्रकार से यह जलों के सार (रस) का भी सार है। उपर्युक्त मन्त्र का पिण्ड में यह भाव है'''जलों का सार वीर्य ऊर्ध्वारोहण कर मस्तिष्क-द्यु में पहुंचता है और वहां बुद्धि-सूर्य में समाहित होता है। बुद्धि-सूर्य के सात केन्द्रों (Brain Centers) में यह वीर्य पहुंचता है, ऐसा हमें समझना चाहिये। यहां उद्वयसं को स्पष्ट करते हैं। **उद्वयसं-उत्कृष्टं वयो जीवनं यस्मात्तं।' स्वामीदयानन्द** या वयस् में—**वेतेर्गतिकर्मणः** धातु के आधार पर उद्वयसम् का अर्थ होगा कि ऊर्ध्व की ओर है गति जिसकी। शरीर में यह वीर्य के ऊर्ध्वरोहण की ओर निर्देश है। यहां हमें यजु० ९।१ मन्त्र में पठित 'केतपूः' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिये। उव्वट महीधर ने श०प० ६।३।१।१९ के आधार पर केतपूः का अर्थ किया है कि **"केतम् अन्नं पुनातीति"** केत अर्थात् अन्न को पवित्र करने वाला। पर स्वामी दयानन्द ने **"यः केतं प्रज्ञां पुनाति पवित्रीकरोति सः"** अर्थात् जो प्रज्ञा को पवित्र करता है। **'केतमिति प्रज्ञानामसु पठितम्'**। निघ० ३।९ यहा इस **वाजपेय के प्रकरण में स्वामी दयानन्द का अर्थ अधिक उपयुक्त व सुसंगत है।** वाजपेय

याग में सुरापान का विधान बताने वालों के पास कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जो प्रज्ञा को पवित्र करने वाली हो, वहां तो प्रज्ञा का लोप ही है। यह उपर्युक्त कथन सुरा शब्द का बुरा अर्थ मानने वालों की दृष्टि से है और जो सुरा शब्द को सोम का पर्यायवाची मानते हैं तथा सोम को प्रज्ञा को पवित्र करने वाला तत्त्व मानते हैं, जैसा कि स्वामी दयानन्द ने माना है तो उनकी दृष्टि में कोई किसी प्रकार की समस्या ही नहीं है।

बृहस्पति के लिए चरु—नीवार धान्य

वैदिक युग के आरम्भ में बृहस्पति के लिये जो चरु तैयार किया जाता था वह केवल नीवार धान्य का होता था। परन्तु कालान्तर में जाकर वाजपेय याग में कई प्रकार के विशिष्ट अन्नों की चरु रूप में आहुति देने व उसके भक्षण का विधान हुआ है। तै० आ० १।३।८ में सात ग्राम्य तथा सात आरण्य औषधियों से चरु-निर्माण करने को कहा गया है। वे निम्न प्रकार हैं—

तिलमाषव्रीहियवाः प्रियङ्ग्वो गोधूमा वेणुश्यामाकाः।
नीवारार्जतिलाश्च गवीधुका अरण्यजा मार्कटिका विज्ञेयाः॥

गार्मुत सप्तमाः कुलत्थसप्तमा वा सप्तग्राम्याः कृष्टे सप्तारण्याः अकृष्टे।

आप० श्रौतसूत्र

उपर्युक्त औषधियों में सात औषधियां ग्राम्य हैं और सात आरण्य हैं। हमारे विचार में नीवार के अतिरिक्त अन्य जो औषधियां परिगणित हुई हैं वे बाद की वृद्धि प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि पूर्वकाल में वाजपेय याग अरण्य में किया जाता था।

अब विचारणीय यह है कि नीवार धान्य ब्रह्मतेज की उपलब्धि में किस प्रकार कारण बनता है? वाक् के अधिपति बृहस्पति को वाक् की उत्पत्ति तथा उसे दिव्य व उत्कृष्ट बनाने के लिए नीवार धान्य भक्षण के लिये दिया जाता है। कहा भी है—

अथ बृहस्पतये वाचे नैवारं चरुं निर्वपति।
तदेनं बृहस्पतिरेव वाचे सुवति। श० प० ५।३।३।५

अर्थात् नीवार धान्यों से निर्मित चरु बृहस्पति सम्बन्धी वाक् के लिये होता है। मै सं० १।११।७ तथा काठ० सं० १४।७ में एक कथानक आता है जो कि संक्षेप में इस प्रकार है—"ओषधियों के परिपक्व हो जाने पर देवों ने इनमें अपना भाग लेने के लिये आजिधावन किया। बृहस्पति को विजयश्री प्राप्त हुई। विजय-प्राप्ति के कारण अन्नों में से वरण करने का प्रथम अधिकार बृहस्पति को मिला। बृहस्पति ने अपने लिये नीवार धान्य का वरण किया क्योंकि बृहस्पति ने इनका वरण किया इसलिये इन्हें नीवार (न्यवृणीत) कहने लगे। यही नीवारों का नीवारत्व है"। ये नीवार आरण्य धान्य हैं, प्रकृति प्रदत्त हैं। मनुष्यों द्वारा खेतों में कृषिकर्म करके नहीं बोये

जाते । इसलिये इनके सम्बन्ध में कहा है कि—**"एते वै ब्रह्मणा पच्यन्ते यन्नीवाराः"** श० प० ५।१।४।१४ अर्थात् ये नीवार धान्य ब्रह्मविधान से स्वयं उगते व पकते हैं। इसलिये इन्हें अकृष्टपच्या भी कहा जाता है ।

नीवार ही क्यों ? प्रश्न यह पैदा होता है कि बृहस्पति ने आजिधावन में विजय प्राप्त कर नीवार धान्य ही क्यों वरण किया । अध्यात्म क्षेत्र की गहराइयों में डुबकी लगाने वालों का यह कथन है कि जैसा अन्न खाया जाता है वैसा ही मन बनता है । किन हाथों ने कमाया, किन हाथों ने बोया, यह भी विचारणीय होता है । अतः अन्न की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है । जिस व्यक्ति ने खेत में अन्न उत्पन्न किया है उस व्यक्ति के पाप-पुण्य का उस अन्न के साथ सम्बन्ध हो जाता है । हिंसक, क्रूर, दुराचारी का अन्न ऊपर से स्वच्छ दिखता हुआ भी निकृष्ट ही होता है । उस व्यक्ति के सूक्ष्म पापाणु पुद्गल उस अन्न को आ लिपटते हैं । अतः बृहस्पति बनने के लिये ब्रह्म द्वारा उगाया व परिपक्व हुआ अन्न सर्वोत्कृष्ट होता है । इसी दृष्टि से बृहस्पति ने नीवार धान्य का वरण किया । मनुष्य कितना भी पवित्र क्यों न हो कुछ न कुछ मनोविकारों का प्रभाव अन्नों पर हो ही जाता है । बृहस्पतित्व की प्राप्ति के लिये ब्रह्मविधान से स्वयं उगे हुए व परिपक्व हुए अन्न ही सर्वोत्कृष्ट होते हैं । इन धान्यों के वरण करने का दूसरा हेतु यह प्रतीत होता है कि बृहस्पति आचार्य तथा शिष्यों की समग्र शक्ति विद्याध्ययन तथा योगाभ्यास में संलग्न रहनी चाहिये । इस दृष्टि से स्वयं परिपक्व नीवार धान्यों के बोने व संग्रह करने में कोई विशेष श्रम नहीं करना पड़ता । अतः ये ही उपयुक्त समझे गये । नीवार धान्य अरण्य में उगते हैं, वहीं अधिक सुलभ हैं । इससे यह ध्वनित होता है कि बृहस्पति सम्बन्धी वाजपेय याग ग्राम में न करके अरण्य में ही करना चाहिये । इस वाजपेय याग के समय ग्राम की निकटता तथा ग्राम्य आहार विहार सर्वथा त्याज्य है । शास्त्रों में इन्हें देवों का परम अन्न बताया गया है—**"एतद्वै देवानां परममन्नं यन्नीवाराः"** । तै० ब्रा० १।३।६।८

आयुर्वेद के दृष्टिकोण से

अब हम आयुर्वेद के दृष्टिकोण से भी इन पर विचार करते हैं । वैद्यक ग्रंथों में नीवार के जो गुण बताये गये हैं उनसे भी यह ज्ञात होता है कि ये नीवार धान्य वाजपेय यज्ञ की सुसम्पन्नता व उसके उद्देश्य प्राप्ति में अत्यधिक सहायक होते हैं । राजनिघण्टु में आता है कि **"मधुरत्वं स्निग्धत्वं पवित्रत्वं पथ्यत्वं लघुत्वञ्च"** अर्थात् ये नीवार मधुर, स्निग्ध, पवित्र, पथ्य तथा लघु होते हैं । मदनपाल निघण्टु में नीवार के निम्न नाम आते हैं और उनके गुण इस प्रकार दर्शाये हैं ।

यथा—नीवार, उटिका, नाडी, मुनिव्रीहि, मुनिप्रिय ये पांच नाम नीवार के हैं और इनके गुण इस प्रकार हैं । यह ठण्डा और ग्राही है, पित्त को विनाश करता है । और कफ-वात को पैदा करता है । भावप्रकाश में इसी प्रकार के गुण बतलाये हैं । यथा—**"नीवारः शीतलो ग्राही पित्तघ्नः कफवातकृत् ।"**

उपर्युक्त ये सब गुण प्रमुखतया योगाभ्यासी तथा विद्याध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए विद्या प्राप्ति में महान् सहायक होते हैं।

कर्मकाण्ड के ग्रंथों में नीवार को व्रीहि का प्रतिनिधि माना है। कहा भी है— "**नीवाराः व्रीहीणां प्रतिनिधिः।** वि० ६।३।१ नीवाराः प्रतिनिधि भूता व्रीहिभिः समान विधानाः। मीमांसा कोष। अर्थात् व्रीहि सभी श्यामक तण्डुल आदि का सामान्य नाम है, उनमें व्रीहि से यहां वाजपेय में नीवार का ग्रहण करना है।

परन्तु संहिताओं व ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि इस याग में नीवार ही प्रमुख हैं। इन्हीं का उपयोग होना चाहिये यदि नीवार न मिले तो प्रतिनिधि रूप व्रीहि में अन्यों का ग्रहण कर लेना चाहिये।

नीवार से चरु का निर्माण—शास्त्रों में आता है कि बृहस्पति सम्बन्धी चरु दूध में पकाना चाहिये और इन्द्र-सम्बन्धी चरु घी (आज्य) में। तै० स० १।८।६ के राजसूय प्रकरण में आता है कि जो मैत्राबार्हस्पत्य हवि तैयार की जाती है उसमें बृहस्पति सम्बन्धी हवि दूध में तैयार होती है और उसमें खण्डित (कर्णाः) तण्डुल (चावल) डाले जाते हैं। और जो मित्र (इन्द्र-क्षत्र) सम्बन्धी हवि तैयार की जाती है उसमें अखण्डित (अकर्णाः) तण्डुल डाले जाते हैं। यथा '**ये कर्णाः स पयसि बार्हस्पत्यो येऽकर्णाः स आज्ये मैत्रः।** तै०सं० १।८।६ बृहस्पति के चरु में अर्थात् हवि में खण्डित तण्डुल तथा मैत्र (क्षत्र) चरु में अखण्डित तण्डुल के ग्रहण का क्या प्रयोजन है? यह श० प० ब्रा० में अधिक स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है। वहां आता है—**द्वेधा तण्डुलान् कुर्वन्ति। स येऽणीयाँसः परिभिन्नास्ते बार्हस्पत्याः, अथ ये स्थवीयाँसो ऽपरिभिन्नास्ते मैत्रा न वै मित्रः कंचन हिनस्ति न मित्रं कश्चन हिनस्ति नैनं कुशो न कण्टको विभिनत्ति नास्य व्रणश्चनास्ति सर्वस्य ह्येव मित्रो मित्रम्॥**

श० प० ५।३।२।७

अर्थात् इन तण्डुलों को दो में विभक्त करते हैं जो अणु अर्थात् छोटे हैं तथा टूट गये हैं वे बृहस्पति सम्बधी हैं और जो स्थूल हैं तथा पूरे हैं वे मैत्र अर्थात् क्षत्र सम्बन्धी हैं। क्योंकि मित्र सबका मित्र है। न वह किसी की हिंसा करता है और न कोई उसकी हिंसा कर सकता है। वह इतना बलिष्ठ होता है कि कुश व कण्टक भी उसके पैर का भेदन व व्रण नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त आलंकारिक भाषा में ब्राह्मण और क्षत्रिय के भेद, उनके स्वरूप व कार्यों पर बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में उसका स्पष्टीकरण निम्न दो प्रकार से हो सकता हैं। यथा—

एक तो यह कि तण्डुल को प्रतीक मानकर तथा दूसरे साक्षात् रूप में। प्रतीकात्मक दृष्टि से इसकी व्याख्या यह है कि बृहस्पति आचार्य है, इसके समीप जो बालक अध्ययन के लिये आते हैं वे गुण, कर्म व स्वभाव आदि में खण्डित व त्रुटित होते हैंऔर उन्हें पुनरपि तोड़ा जाता है जिससे कि शिक्षा आदि द्वारा उन्हें संस्कृत कर नया रूप दिया जाये। परन्तु क्षत्रिय के पास शरीर, इन्द्रियां व मन आदि से सुघड़ बलिष्ठ व

सम्पूर्णाङ्ग व्यक्ति ही पहुंचने चाहियें। सेना में भर्ती के लिये किस प्रकार के नव-युवक चाहियें, उसका यह अखण्डित (अकर्णाः) तण्डुल प्रतीक हैं। क्षत्रिय को इतना दृढ़ व बलिष्ठ होना चाहिये कि कुश, कण्टक आदि उसे चुभे नहीं। कोई भी विपत्ति उसे विचलित न कर सके, उसे सबका मित्र होना चाहिये। उससे किसी को भय न हो, अन्य व्यक्ति भय से उसका अनुसरण करने वाले न हों, प्रत्युत वे प्रेम व स्नेह से सदा उसके पास पहुंचे। इस प्रकार हमने खण्डित तथा अखण्डित तण्डुलों के दृष्टान्त से प्रतीकवाद का दिग्दर्शन कराया। अब साक्षात् रूप में यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि खण्डित तथा अखण्डित तण्डुलों में परस्पर क्या वैशिष्ट्य होता है? अखण्डित तण्डुल स्थूल, बड़े तथा पूर्णावयव होते हैं। अतः इनमें शक्ति अधिक होती है, इनका स्वाभाविक परिपाक अधिक हुआ है इसी कारण वे कूटे व पीटे जाने पर भी टूटे नहीं हैं। अतः उनमें क्षात्र शक्ति है और जो कूटने-पीटने से टूट गये हैं; एक प्रकार से वे पूर्ण रूप से परिपक्व नहीं हुए हैं। वे शरीर की दृष्टि से कुछ हल्के हैं, स्वभावतः उदर को उन्हें पचाने में भी पूर्ण चावलों की अपेक्षा न्यून शक्ति लगानी पड़ती होगी। इस प्रकार खण्डित व अखण्डित चावलों का यह भी एक भाव हो सकता है।

बृहस्पति सम्बन्धी चरु को दूध में क्यों पकाया जाता है इसका हेतु मै० स० ३।४।१० में यह दिया है "**नैवारश्चरु···पयसि भवति, यत्पयो ग्राम्यं तेनान्नाद्यमवरुन्धे यन्नीवारा आरण्यं तेन तेनैव तदुभयमवरुन्धे**" अर्थात् बृहस्पति सम्बन्धी यह चरु दूध (पयः) में तैय्यार किया जाना चाहिये। इससे यह होगा कि पय द्वारा ग्राम्य अन्न का अवरोध होगा और नीवार द्वारा आरण्य अन्न का। इस प्रकार दूध में नीवार पकाने से ग्राम्य अन्न तथा आरण्य अन्न दोनों का ग्रहण हो जाता है। परन्तु प्रश्न यही बना रहता है कि जब वाजपेय यज्ञ का स्वाभाविक प्रणयन अरण्य में होता है तो ग्राम्य अन्न के ग्रहण की क्या आवश्यकता है? अतः इन दोनों ग्राम्य व आरण्य अन्नों के ग्रहण का क्या प्रयोजन है यह विचारकोटि में आ जाता है। आगे मै० सं० ३।४।८ में यह भी कहा है कि "**बार्हस्पत्यश्चरुर्ब्रह्मणो गृहे**" बृहस्पति सम्बन्धी चरु ब्राह्मण के घर पकाना चाहिये। तैत्तिरीय संहिता में भी इसी बात को पुष्ट किया गया है—"**बार्हस्पत्यं चरुं निर्वपति ब्रह्मणो गृहे**" तै०सं० १।८।६।१। इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण में ब्रह्मत्व की उत्पत्ति ब्राह्मण गुरु ही पैदा कर सकता है। अतः इससे यह ध्वनित होता है कि ब्राह्मणत्व की उत्पत्ति के इच्छुक शिष्यों के गुरु ब्राह्मण ही होने चाहियें। इसी भांति क्षत्रिय में क्षत्रत्व का निर्माण क्षत्रशाला में अधिक सुकर है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वाजपेय याग बृहस्पति ने इन्द्र को कराया था इससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ही ब्रह्मत्व और क्षत्रत्व दोनों का नियामक होता है। इसलिये प्राचीन काल में शिक्षा का क्षेत्र ब्राह्मणों के अधीन था। इस विषय को हम आगे भी स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

इस प्रकार नीवार धान्यों (तिन्नी) के खण्डित चावलों की दूध में पकाई गई खीर बार्हस्पत्य चरु है। और आज्य अर्थात् घी में परिपक्व करने से वह ऐन्द्र चरु हो

जाता है। अतः पुरातन काल में वाजपेय याग के अवसर पर नीवार धान्यों का ही चरु बनाया जाता था परन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया त्यों-त्यों नीवार धान्यों के अतिरिक्त अन्य अन्नों का भी ग्रहण होता गया। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में **'ग्राम्य तथा आरण्य'** अन्नों को ग्रहण करने का जो विधान हुआ है उस सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि क्या इनके अतिरिक्त अन्य अन्नों का भी ग्रहण किया जा सकता है कि नहीं ? यदि कोई व्यक्ति शक्ति-प्राप्ति के निमित्त अन्य पौष्टिक अन्नों का ग्रहण करना चाहे तो क्या वह उन अन्नों का ग्रहण कर सकता है ? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। प्रतीत यह होता है कि पूर्वकाल में भी यह समस्या सामने आयी होगी जब कि नीवार तथा अन्य धान्यों के अतिरिक्त पौष्टिक अन्नों तथा वाजीकरण औषधियों को ग्रहण करने की प्रेरणा मिली होगी और सुरापान का समावेश भी इस वाजपेय याग में इसी दृष्टि से किया गया होगा। जबकि माध्यन्दिनीय यजुर्वेद के वाजपेय सम्बन्धी मन्त्रों में सुरा शब्द आता ही नहीं।

वस्तुतः वाज की प्राप्ति अर्थात् ब्रह्मवेग व क्षात्रवेग की उपलब्धि वीर्य के ऊर्ध्वारोहण पर निर्भर करती है और ब्रह्मचर्य के पूर्ण रूप से पालन करने पर ही वीर्य का ऊर्ध्वारोहण सम्भव है। इसमें जो विघातक बातें हैं वे सब त्याज्य हैं। अन्न व औषधियां आदि वाजी बनने में सहायक अवश्य हैं पर यदि उनके सेवन से वीर्य का ऊर्ध्वारोहण नहीं होता है और वे वासना आदि के जनक बनकर वीर्य के अधः पतन में कारण बनते हैं तो वे सेवन किये जाते हुए भी वाज को प्राप्त नहीं करा सकते। अतः अन्न वह लेना है और वहां तक लेना है जहां तक वह वासना आदि को जागृत करने वाला न हो, उत्तेजक न हो। इसका निर्णय बहुत अंश में अन्न की उज्जिति पर भी निर्भर करता है। क्योंकि अन्न की उज्जिति की अवस्था में भक्षण किया गया अन्न बल व वेग आदि का पैदा करने वाला होता है। पूर्व काल में वाजपेय याग द्वारा वाज अर्थात् वेग की प्राप्ति आत्मिक दृष्टिकोण से अधिक मान्य थी इसलिए वीर्य में उत्तेजना न पैदा करने वाले नीवार धान्य को प्रमुखता दी गयी थी। परन्तु तत्पश्चात् तथा आधुनिक समय में वाज का आत्मा से सम्बन्ध विशेष न मानकर प्राण व शरीर पर अत्यधिक आश्रित मानने लगे हैं। अतः इस परिवर्तित युग में वाज की प्राप्ति का इच्छुक कोई व्यक्ति नीवार धान्य को अपने भोजन का प्रमुख पथ्य न बनाना चाहे तो उसे इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि अन्न सात्त्विक हो, वासना को भड़काने वाला तथा उत्तेजक न हो। अतः संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि वाजपेय याग में सीधा भौतिक अन्न प्रमुख पेय नहीं है, प्रत्युत अन्न से उत्पन्न सोम ही वास्तविक पेय है। यह अन्नगत सोम वीर्य रूप में पहुंच देव रूप इन्द्रियों व देव-शक्तियों का पेय बनता है। यह वीर्य व ओज भी पूर्ण सोम नहीं है, यह ओज सोम का आयतन है इस कथन को हम 'आत्म समर्पण'[1] नामक पुस्तक के 'सोमाहरण' प्रकरण में स्पष्ट

---

१. आत्मसमर्पण = पं भगवद्दत्त वेदालंकार (सोमाहरण प्रकरण)

कर चुके हैं। वाजपेय याग में अन्न की उज्जिति एक प्रकार से सोम अर्थात् वीर्य व ओज की है। वीर्य व ओज में उज्जिति-धर्म पैदा होने से स्थूल भौतिक अन्न भी उज्जिति धर्म वाला हो जाता है। उज्जिति धर्म वाला अन्न वासना को जागृत करने वाला व उत्तेजक नहीं रहता। अब हम शास्त्र-प्रमाणों के आधार पर उज्जिति के स्वरूप पर विचार करते हैं।

अन्न की उज्जिति—बृहस्पति के सम्बन्ध में अन्न की उज्जिति का क्या तात्पर्य है, इसमें क्या रहस्य है? यह विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये। अन्न की उज्जिति को ही शास्त्रों में वाजपेय यज्ञ कहा गया है। यथा—'**अन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते।**' "**अन्नपेयं ह वै नामैतद् यद् वाजपेयं तद् यदेवैतदन्नमुदजैषीत्त देवास्या एतत् करोति**" श० प० ५।१।१।१२ अर्थात् जो वाजपेय से यजन करता है वह अन्न की उज्जिति करता है। अन्न की उज्जिति, अन्नपेय और वाजपेय ये सब समानार्थक हैं। उज्जिति (उत्+जितिः) का शब्दार्थ यह है कि गति करते हुए आसुरी शक्ति पर विजय प्राप्त करते जाना? यह ऊर्ध्व गति भौतिक अन्न की नहीं है। भौतिक अन्न से उत्पन्न सोम (वीर्य व ओज) की है। जैसे-जैसे वीर्य उर्ध्व गति वाला होता जाता है तैसे-तैसे मानव के शत्रु व्याधि व अपवित्र विचार आदियों पर विजय प्राप्त होती जाती है। तथा नये-नये दिव्य क्षेत्रों का उद्घाटन होता जाता है। यह सब उज्जिति का प्रभाव है। उज्जिति में वे सब साधन भी समाविष्ट समझने चाहियें, जिनके अवलम्बन करने से, अन्न से उत्पन्न वीर्य में ऊर्ध्वगति का गुण पैदा होता है। यह वीर्य राजसिक तथा तामसिक अन्न के भक्षण से ऊर्ध्व गति वाला नहीं बन सकता। इसी कारण सत्त्वगुण प्रधान तथा लघु व सुपाच्य गुणों से युक्त नीवार धान्य का भक्षण बृहस्पति के लिये विहित हुआ है। अन्न में वाज व वेग गुण तभी पैदा होता है जब वह वीर्य को ऊर्ध्वगति वाला बनाने में सहायक हो। और फिर वीर्य व ओज की ऊर्ध्वगति उसी अवस्था में सम्भव है जब मनुष्य का मन पवित्र हो, जीवन सदाचारी हो। मैत्रायणी संहिता में सत्य को भी उज्जिति गुण वाला बताया गया है वहां आता है—"**साम गायते, सत्यं वै साम सत्येनैवोज्जयति उज्जितिर्वाजयति अन्नं वै वाजोऽन्नाद्यस्योजित्यै०**" मै० सं० १।११।७ अर्थात् सामगान करता है। मनुष्य के जीवन में साम, शान्ति व समता आदि का होना सामगान का मूल है। इन समता व शान्ति आदि की उपलब्धि व स्थिति सत्य पर आश्रित है। जीवन में सत्य होने पर सब बातें सिद्ध हो जाती हैं। मन में पवित्रता, जीवन में सदाचार आदि केवल सत्य के धारण करने पर ही आ पाते हैं। सत्य पर सतत आचरण करने वाला व्यक्ति वास्तव में उज्जिति करता है। वह उन्नति तथा शत्रुओं पर विजय-लाभ करता है। उज्जिति से ही उसमें वेग (वाज) पैदा होता है। ब्राह्मण में ब्रह्म वेग तथा क्षत्रिय में क्षात्र वेग की उत्पत्ति होती है। परन्तु यह सब सविता देव की प्रेरणा पर निर्भर करता है। अतः कहा है—**देवस्य सवितुः प्रसवे सत्यसवनस्य बृहस्पतेर्वाजिनो वाजजितो वाजं जेष्मः।** मै० सं० १।११।७

अर्थात् सत्य का सवन करने वाले सविता देव की प्रेरणा पर वाजजित

बृहस्पति के वाज को हम जीत लेवें।

उज्जिति में सुरा—उज्जिति में अन्न का ग्रहण किया है। अन्न से तात्पर्य वस्तुतः सोम से है। सोम को उत्पन्न करने वाले स्थूल भौतिक अन्न भी इस वाजपेय याग में गौणरूप में ग्रहण कर लिये जाते हैं। बृहस्पति अर्थात् ब्राह्मण में ब्रह्मवेग पैदा करने वाले सात्त्विक अन्न में विशेषकर नीवार धान्य का ही परिगणन किया गया है। इसी भांति क्षत्रिय में भी क्षात्र वेग पैदा करने के लिये आदर्श अन्न सोम ही है पर सभी क्षत्रियों में वाजपेय सम्बन्धी वेग पैदा होना दुष्कर है अतः प्रतीत होता है कि कम से कम युद्धस्थली में क्षात्र वेग को उत्तेजित करने के लिये पुराकाल में सुरा का भी समावेश कर लिया होगा। इसी दृष्टि से हमें शास्त्र का यह कथन समझना चाहिये। श० प० ५।१।२।२ में आता है कि **"प्रजापतेर्वा एते अन्धसी यत् सोमश्च सुरा च तत् सत्यं श्री ज्योतिः सोमोऽनृतं पाप्मा तमः सुरैते एवैतदुभे अन्धसी उज्जयति सर्वं वा एष इदमुज्जयति यो वाजपेयेन यजते"**

अर्थात् सोम और सुरा ये दोनों प्रजापति के अन्न हैं। इनमें सोम से सत्य, श्री तथा ज्योति प्रकट होती है और सुरा से अनृत, पाप्मा और तम प्रादुर्भूत होते हैं। वाजपेय द्वारा इन दोनों की उज्जिति करनी होती है।

इसका तात्पर्य यह है कि वाजपेय याग के द्वारा सोम रूप अन्न से सत्य, श्री तथा ज्योति का मनुष्य में प्रादुर्भाव होता है। और सुरा रूप अन्न से उत्पन्न अनृत पाप्मा तथा तम को इस उज्जिति प्रक्रिया द्वारा दबाया जाता है। इन पर विजय प्राप्त की जाती है। इस प्रकार उज्जिति से ये दोनों कार्य होते हैं। तै० ब्रा० १।३।३ में आता है कि—**"एतद्वै देवानां परममन्नं यत्सोमः एतन्मनुष्याणां यत् सुरा परमेणै-वास्मा अन्नाद्येनावरमन्नाद्यमवरुन्धे"** अर्थात् सोम देवों का परम अन्न है और सुरा मनुष्यों का। सोम परम अर्थात् सर्वोत्क्रृष्ट अन्न है और सुरा अवर अन्न है। सोम ब्रह्म का तेज है और सुरा अन्न का शमल है। सोमयाग से ब्रह्मतेज धारण किया जाता है और अन्न के शमल रूप सुरा से मनुष्य का अवर भाग अधोभाग धारण किया जाता है।

सुरा निर्माण करने वाले कुछ द्रव्यों का निम्न प्रकार परिगणन किया गया है। यथा—**"सज्जत्वक्[1] त्रिफला चैव शुण्ठी चैव पुनर्नवा। चतुर्जातसंयुक्तं पिप्पली गज-पिप्पली। वशोऽवका बृहच्छत्रा मित्रकं चेन्द्रवारुणी। अश्वगन्धा समुत्पाट्य मूलान्येतानि निर्दिशेत्। धान्यादिकं च यवानीं च जीरकं कृष्णजीरकम् द्वे हरिद्रे वचा चैव विरुढा व्रीहयो यवाः। इति।**

इन उपर्युक्त द्रव्यों से सुरा निर्माण किया जाता है। वैसे तो जो अन्न हम

---

१. सुराद्रव्याणि। का० श्रौ० सू० की टिप्पणी में। (विद्याधर शर्मा)

खाते हैं उससे देह के अन्दर सोम और सुरा दोनों का निर्माण होता रहता है। पर बाह्य कर्मकाण्ड में सुरा निर्माण के लिये जो द्रव्य लिये गये हैं उनसे सुरा-सम्बन्धी देह के अंगों जिन्हें की देह का अवर व अधोभाग कहा गया है और जो कि शास्त्रों की दृष्टि में अमेध्य है, उसके उत्तेजक होने के कारण इन द्रव्यों से उत्पन्न पेय पदार्थ भी सुरा कही गई है।

जिस ब्राह्मण कुल में सोमपान की परम्परा नहीं रहती वह ब्राह्मण व्रात्य बन जाता है। कहा भी है—

"यस्य पिता पितामहो वा सोमं न पिबेत् स व्रात्यः।" अर्थात् जिसके पिता व पितामह ने सोम का पान न किया हो, जिस कुल में सोमपान की परम्परा समाप्त हो गई हो, उस कुल में उत्पन्न ब्राह्मण व्रात्य बन जाता है। हम पूर्व पृष्ठों में यह देख चुके हैं कि सोमपान वीर्य के ऊर्ध्वारोहण प्रक्रिया के अवलम्बन करने से होता है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि सोमपान करने वाले की सन्तति सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मवर्चस्वी तथा सर्वगुणसम्पन्न होती है। सामान्य जन की सन्तति प्रायः व्रात्य ही होती है।

अब प्रश्न यह है कि प्रथम तो सोमपान करना और फिर उस सोम को वाज युक्त करना अर्थात् उसमें वेग पैदा करना किन साधनों से होता है? इस विषय पर विस्तार से तो वाजपेय याग सम्बन्धी सभी प्रकरणों तथा यजुर्वेद के ९ वें अध्याय के मन्त्रों पर विचार करके ही लिखा जा सकता है। पर यहां हम कुछ संकेत ही करते हैं—

सोम ग्रह—सुरा ग्रह—मानव शरीर में सोम को ग्रहण करने वाले तथा सुरा को ग्रहण करने वाले अंग भिन्न-भिन्न हैं। कर्मकाण्ड की भाषा में उन अङ्गों व शक्तियों को ग्रह अतिग्रह में बांटा गया है। शतपथ ब्राह्मण के चतुर्थ काण्ड में इन पर विशेष विचार हुआ है। यहां हम संक्षेप में संकेत किये देते हैं।

ग्रह—बाह्य कर्मकाण्ड में ग्रह एक लकड़ी का पात्र होता है। जिसमें अभीष्ट देवता को उद्देश्य करके सोम रखा जाता है। यह पात्र तथा सोम जो कि देवान्न है दोनों ग्रह नाम से कहे जाते हैं। इनको ग्रह इसलिये कहते हैं कि अभीष्ट देवता इनके द्वारा पकड़ में आता है और जो कामना होती है वह उससे पूरी करा दी जाती है। ग्रह यजुः से किया जाता है। मानव-शरीर में यह वीर्य रूपी सोम शरीर के विभिन्न शक्तिस्थानों व आयतनों में जब पहुंचता है तब वे आयतन और उन आयतनों में रखा यह वीर्य रूपी सोम दोनों ग्रह कहलाते हैं। मन्त्र में आता है कि—**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते"** सब देवता इस शरीर रूपी बाड़े में पहिले से ही विद्यमान हैं। यह वीर्य रूपी सोम उनके आयतनों व स्थानों में पहुंच उन्हें पकड़ता है और यजमान की कामना पूरी कराता है। यजमान मन होता है। जो अन्न हम भक्षण करते हैं वह सोम-प्रधान या सुरा-प्रधान होता है। वह भक्षित अन्न दो भागों में

विभक्त हो जाता है। उसका सोम-भाग शरीर के ऊर्ध्व भाग मस्तिष्क आदि में पहुंचना चाहिये क्योंकि ऊर्ध्व के अंग सोम के स्वाभाविक पात्र हैं, जिनमें सोम भरा जाता है। दूसरे अन्न का शमल कूड़ा करकट मल आदि सुरा कोटि में आते हैं। जो अन्न वासना आदि को प्रवृद्ध करने वाले हैं, बुद्धि को विलुप्त करते हैं वे सुरा श्रेणी में गिने जाते हैं। इस प्रकार सोम व सुरा इन दोनों के पात्र शरीर में पृथक्-पृथक् हैं। श० प० ५।१।२। १६—१८ में आता है कि अध्वर्यु सोमग्रह पात्र को थामे तथा नेष्टा सुराग्रह पात्र को **"सोमग्रहमेवाध्वर्यु र्गृह्णाति सुराग्रहं नेष्टा"** और फिर यह कहा कि अध्वर्यु सोमग्रह पात्र को अक्ष के ऊपर ही रखे तथा नेष्टा सुराग्रह पात्र को अक्ष के नीचे रखे। मानव-शरीर में इनकी स्थिति निम्न प्रकार है। शरीर रूपी शकट का अक्ष व्यान वायु का प्रदेश है। मन्त्र में कहा भी है—**"व्यानो अक्ष आहितः"** ऋ० १०। ८५।१२ और यह व्यान वायु हृदय-प्रदेश में रहती है। नाभि से ऊर्ध्व देह मेध्य माना गया है और नाभि से नीचे अमेध्य। इसी कारण सोमग्रह पात्र को अक्ष के ऊपर रखने का विधान है और सुराग्रह पात्र को अक्ष के नीचे। **उपर्यु पर्येवाक्षमध्वर्यु: सोम-ग्रहं धारयत्यधोऽधोऽक्षं नेष्टा सुराग्रहं**। श० प० ५।१।२।१८

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इन दोनों पात्रों को एक-दूसरे के प्रदेश में या साथ-साथ न रखे। यदि इस बात को ध्यान में न रखा गया तो इनका परिणाम यह होगा कि तम और ज्योति, सत्य और अनृत का मिश्रण हो जायेगा। इसका तात्पर्य यह है कि मस्तिष्क आदि ऊर्ध्व के अङ्ग सोमपान द्वारा सत्य ज्योति तथा सत्य ज्ञान विज्ञान के उपार्जन में ही लगने चाहियें। यदि इनका शरीर के अधो-भाग अर्थात् उदर, उपस्थ, शिश्न आदि के भोगविलासों में ही सदा उपयोग हुआ तो दिव्य ज्ञान की प्राप्ति तथा वाजपेयी बनने का संकल्प सब धरा का धरा रह जायेगा। आजकल शिक्षणालयों में इन दोनों का मिश्रण हुआ है। इसलिये इतनी अधिक अव्य-वस्था, ज्ञानार्जन के प्रति अरुचि दृष्टिगोचर होती है कि एक प्रकार से ज्ञान व ज्योति को तम ने अभिभूत किया हुआ है। शास्त्रकार कहते हैं—**"प्रजापतिर्यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्यैतत् सत्यं श्रियं ज्योतिरुज्जयति"** श० प० ५।१।२।१२

---

१. **गृह्यते अनेनेति करण व्युत्पत्त्या ग्रहः। दारुमयं पात्रम्। सायणभाष्य श० प० ४।१।१।१ तद्यदेनं पात्रै र्व्यगृह्णत तस्माद् ग्रहोनाम। श० प० ४।१।३।५ तद्य एनं सोमं यस्मात् कारणात् पात्रैर्विभज्य देवा अगृह्णत तस्मात् तानि पात्राणि ग्रहा इति सिद्धाः। सायणाचार्य। ग्रहेणागृह्णात् तद् ग्रहस्य ग्रहत्वम्। तै० ब्रा० २।२।२। प्राणो वा अस्यैष ग्रहः। श० प० ४।१।१।२२ स य एष सोम ग्रहः अन्नं वा एष सः। स यस्मै देवतायाः एतं गृह्णन्ति साऽस्मै देवता एतेन ग्रहेण ग्रहीता तं कामं समर्धयति यत् काम्या गृह्णन्ति। श० प० १।२।२।१९**

अर्थात् यह प्रजापति रूपी वाजपेय यज्ञ जितनी मात्रा में किया जायेगा उतनी ही मात्रा में सत्य, श्री तथा ज्योति पर विजय प्राप्त की जा सकेगी। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वाजपेय यज्ञ की पूर्णता के लिये क्या उपाय किया जाये कि सोम ग्रह पात्र तथा सुराग्रह पात्र अपने-अपने स्थानों में ही रहें, उनका एक-दूसरे के प्रदेश में आक्रमण न हो। इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि व्यान वायु को सक्रिय रखा जाये। व्यान वायु सक्रिय उसी अवस्था में रह सकता है जब श्वास-प्रश्वास अवरुद्ध हो जाते हैं। अब एक प्रश्न और पैदा होता है कि क्या इन दोनों पात्रों का कभी भी सम्मिश्रण न होगा? क्या शरीर के दोनों भाग बिल्कुल पृथक् रह सकते हैं? इस सम्बन्ध में मन्त्र कहता है—**"सम्पृचौ स्थः संमा भद्रेण पृङ्क्तमिति विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तमिति"** श० प० ५।१।२।१८ अर्थात् इन दोनों का उपयुक्त व सन्तुलित सम्पर्क व पार्थक्य हो कि जिससे भद्र की प्राप्ति हो और पाप का निवारण हो। परन्तु हमारा ध्येय यह होना चाहिये जैसा कि मै० सं० १।११।६ में आता है—**"पाप्मनैवैनं विपुनन्ति तस्मादाहुर्वाजपेययाज्येव पूत इति"** अर्थात् सोम और सुरा वाले शरीर भागों को वाजपेय यज्ञ करने वाले व्यक्ति पापरहित कर पवित्र किया करते हैं। इसलिये पवित्र कौन है? वाजपेय याजी। वे क्या करते हैं? वे दोनों ग्रहों को पृथक्-पृथक् रूप में ग्रहण करते हैं—कहा भी है—**"सप्त दश पुरुषः चत्वार्यङ्गानि शिरोग्रीवात्मावाक् सप्तमी दश प्राणा अङ्गे-अङ्गे वै पुरुषस्य पाप्मा पश्लिष्टो यद् व्यतिषङ्गं ग्रहान् गृह्णन्ति अङ्गादङ्गादेवैनं पाप्मनो मुञ्चति।** मै० सं० १।११।६ अर्थात् पुरुष के १७ विभाग हैं यथा-चार अङ्ग (२ हस्त + २ पाद) शिरो, ग्रीवा, आत्मा (मध्य देह) वाक् तथा दश प्राण ये १७ विभाग मैत्रायिणी संहिता के हैं। मनुष्य के प्रत्येक अङ्ग में पाप्मा संश्लिष्ट है। यदि मनुष्य सोम और सुरा को पृथक् पृथक् ग्रहण करे, कभी भी दोनों साथ-साथ न रखे तो इस प्रकार सावधानी बरतने से प्रत्येक अङ्ग से पाप्मा दूर हो जाता है और उनमें श्री का प्रादुर्भाव हो जाता है क्योंकि सोम ही श्री है (श्रीर्वै सोमः) इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो मनुष्य बृहस्पति बनना चाहता है, वाज का पान करना चाहता है, उसे यह चाहिये कि नाभि से ऊर्ध्व के अंगों को कभी भी वासना से अभिभूत न होने दे। सतत रूप से ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में योगसाधना में लगावे और यदि उदर-चिन्ता तथा शृङ्गार भङ्गी हो तो वह क्षणस्थायी हो। इससे समय आने पर सोम के प्रभाव से वे व्यक्ति उत्क्रमण करने वाले होंगे। **'आगते काले प्राञ्चः सोमैरुत्क्रामन्ति प्रत्यञ्चः सुरोपयामैः**—मै० सं० १।११।६ वर्तमान की ओर देखें तो, आजकल प्रायः सब समय वासना की आंधी उठती रहती है अर्थ की चिन्ता लगी रहती है। अतः ऐसी अवस्था में वाजपेय याग की सफलता नितान्त असम्भव है।

काठक संहिता १४।५ में कहा है कि यह सोम देवों की परम अन्न है। और मनुष्य का अन्न सुरा है। सोम तेजरूप है और सुरा अन्न का शमल है। वाजपेय याजी ब्राह्मण अपना सम्बन्ध प्रायः सोम ग्रहों से रखता है और पत्नी का सुरा ग्रहों से। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह स्वयं तो ब्रह्मविद्या की उपलब्धि में संलग्न रहता है और

घर-गृहस्थी तथा अन्य भोग-सम्बन्धी कार्यों को पत्नी के सुपुर्द करता है । **"आत्मानमेव सोम ग्रहैस्स्पृणोति पत्नीं सुराग्रहैः ।"**

वाजपेय याग में १७ संख्या का महत्त्व—इस वाजपेय याम में १७ संख्या का बहुत अधिक महत्त्व है । इसमें दीक्षायें १७ हैं । यूप १७ अरत्नि लम्बा लेना होता है उस पर १७ वस्त्र लपेटे जाते हैं । १७ सोम ग्रह तथा १७ सुराग्रह, १७ पशु, नैवार चारु=१७ शराव परिमित, गौ, वस्त्र, अजा, अवि, आदि १७, १७ होते हैं, १७ रथ, चक्र में १७ अरे, १७ दुन्दुभि, १७ बाण इत्यादि ।

इस प्रकार इस बार्हस्पत्य यज्ञ में १७ संख्या का महत्त्व बहुत अधिक है । अब विचारणीय यह है कि इसका क्या रहस्य है ? इस सम्बन्ध में संक्षेप में यह कहना है कि यह १७ संख्या का महत्त्व प्रजापति के कारण है । प्रजापति को शास्त्रों में १७ विभागों में विभक्त किया गया है । यथा—श०प० १४।४।१।१७ में निम्न विभाग हैं—

२ लोम+२ त्वग्+२ असृक्+२ मेद+२ मांस+२ स्नायु+२ अस्थि+२ मज्जा=१६+१ प्रजापति (प्राण) । इसी प्रकार मै० सं० तथा काठक सं० में ये १७ विभाग और दृष्टि से हैं । वहां आता है—**"सप्तदश पुरुषः प्राजापत्यश्चत्वार्यङ्गानि शिरोग्रीवमात्मा वाक् सप्तमी दश प्राणाः ।** मै० सं० १।११।६ काठ० सं० १४।६ अर्थात् मध्यदेह के ४ अङ्ग+शिरोग्रीव+आत्मा (स्थूलशरीर)+वाक्+१० प्राण इस प्रकार ये १७ विभाग होते हैं । श०प० ५।१।२।१३ में एक और दृष्टि से १७ विभाग किये हैं । १७ सोम ग्रह तथा १७ सुरा ग्रह की दृष्टि से ग्रह-संख्या ३४ हो जाती हैं । ३४ संख्या प्रजापति को बताती है । वह शास्त्र के आधार पर इस प्रकार है—**'त उभये चतुस्त्रिंशद्ग्रहाः सम्पद्यन्ते । त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ।**

इस प्रकार यहां वाजपेय प्रकरण में ३३ देवताओं के आधार पर प्रजापति का ग्रहण करना होता है । शास्त्रों में ३३ देवताओं का भी कई दृष्टियों से परिगणन किया गया है ।

यजुर्वेद की तैत्तिरीयादि शाखा संहिताओं में १७ संख्या का देवताओं के आधार पर विस्तार से परिगणन हुआ है । उदाहरणार्थ मैत्रायणी संहिता के प्रकरण को यहां दर्शाते हैं—

तालिका में वह निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

देवता	अक्षर	उज्जिति (१ म)	उज्जिति (२ य)
अग्नि	१	वाक्	पृथिवी
अश्विनौ	२	प्राण-अपान	प्रमा-अन्तरिक्ष
विष्णु	३	लोकत्रय	प्रतिमा-स्वर्गलोक
सोम	४	चतुष्पाद् पशु	अश्रीवी नक्षत्र
सविता	५	पांच दिशायें	अक्षरपंक्ति (पंक्ति)=७

पूषा	६	षट् ऋतुयें	गायत्री ४×५।४×६
मरुत्	७	सप्तपदा शक्वरी	उष्णिक् ४×७
बृहस्पति	८	अष्ट दिशाएं	अनुष्टुप् ४×८
मित्र	९	नवप्राण	बृहती ४×९
वरुण	१०	विराट्	विराट् ४×१०
इन्द्र	११	त्रिष्टुप्	त्रिष्टुप् ४×११
विश्वेदेव	१२	जगती	जगती ४×१२
वसु	१३	१३ श मास	१३ श मास
रुद्र	१४	१४ श मास	१४ श मास
आदित्य	१५	१५ श मास	१५ श मास
अदिति	१६	१६ श मास	१६ स मास
प्रजापति	१७	१७	१७

इस प्रकार १७ देवताओं के आधार पर ये १७, १७ प्रकार की उज्जिति हैं ? सर्वप्रथम अग्नि के द्वारा वाक् पर विजय प्राप्त करनी होती है। जब अग्नि शुद्ध, परिमार्जित व परिवर्द्धित होगी तो वाक्-शक्ति भी शुद्ध व परिवर्द्धित होगी। वाक् शक्ति के शुद्ध व परिवर्धित होने से पृथिवी पर भी उसकी विजयदुन्दुभि बजेगी। उसका चहुं ओर यश फैलेगा। यह अग्नि अक्षर रूप होनी चाहिये। अक्षर न+क्षर। अर्थात् अविनाशी क्षरण न होने वाली होनी चाहिये। यह एक व्याख्या है। इसी प्रकार आगे अश्विनौ आदि देवताओं तथा उनकी उज्जिति आदि पर विचार किया जा सकता है। यह एक बड़ा व्यापक तथा गूढ़ रहस्य है। इनके स्पष्टीकरण से हमें यह ज्ञात हो सकता है कि वाजपेय याग द्वारा बृहस्पति बनने वाले व्यक्ति की कितनी व्यापकता व सामर्थ्य हो जाती है, कौन-कौन से देवता उसमें प्रादुर्भूत होकर उज्जिति करते हैं।

इस आधार पर यह नीवार चरु भी १७ मुष्टि अथवा १७ शराव परिमित लेना है। अन्न के सोम और सुरा इन दो भागों में विभक्त होने से १७-१७ के दो विभाग हो जाते हैं। इसी प्रकार शरीर के ये १७ अवयव रथ का रूप धारण करते हैं। जिनका अक्ष, व्यान वायु है। इस व्यान वायु के प्रभाव से ये रथ दिव्यता की ओर दौड़ लगाते हैं। कौन-सा अवयव दिव्यता की उपलब्धि में सर्वप्रथम आता है यही रथों की दौड़ का रहस्य है। इन १७ रथों पर विराजमान १७ दिव्य पुरुष बाणों द्वारा अपने-अपने लक्ष्य का भेदन करते हैं या अपने-अपने शत्रुओं का विनाश करते हैं। इसी प्रकार अन्य सब १७ संख्याओं की व्याख्यायें की जा सकती हैं। संक्षेप में यह केवल विचारसरणी हमने प्रदर्शित की है। इस प्रकार यह वाजपेय याग बृहस्पति पद को प्राप्त कराने में सहायक बनता है।

एकविंश अध्याय

बृहस्पति-सव

बृहस्पति सव से पौरोहित्य की प्राप्ति—यह बृहस्पति सव वाजपेय के अनन्तर[1] किया जाता है। कई इसे वाजपेय के अन्तर्गत मानते हैं अर्थात् यह वाजपेय का एक अंङ्ग[2] है जिसे कि एक दिन में पूरा करना होता है। अतः यह 'एकाह' एक दिन में पूरा होने वाला कहा जाता है। शतपथकार[3] ने वाजपेय को बृहस्पतिसव नाम से भी सम्बोधित किया है अतः प्रश्न यह पैदा होता है कि वाजपेय और बृहस्पतिसव ये एक ही हैं या पृथक्-पृथक् हैं। इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि कई शास्त्रकार इन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं मानते और कई इस रूप में पृथक् मानते हैं कि यह बृहस्पति-सव वाजपेय का एक अङ्ग है जो कि वाजपेय के अनन्तर पौरोहित्य की उपलब्धि के लिये करना होता है। मैत्रायणी[4] तथा काठक आदि संहिताओं में आता है कि यदि ब्राह्मण इससे यजन करे तो यह बृहस्पति सव कहलाता है और यदि राजन्य यजन करे तो इसे इन्द्रसव[5] कहते हैं। वाजपेय बृहस्पतित्व की प्राप्ति के लिये है और बृहस्पति सव पौरोहित्य की प्राप्ति के लिये है। बृहस्पति ने देवों का पुरोहित बनने की कामना की तो इस बृहस्पति-सव द्वारा वह देवों का पुरोहित बना[6]। जो यजन करता है तो उसकी सारी सन्तति[7] ब्रह्मवर्चस्विनी होती है। और वह स्वयं ब्रह्मवर्चस्वी बन जाता है। इस बृहस्पति सव की प्रक्रिया व पद्धति आदि के सम्बन्ध में भी शास्त्रों में कुछ मतभेद हैं। अतः इस सव की प्रक्रिया-पद्धति, मतभेद आदि के विस्तार में न जाकर हम तत्सम्बन्धी कुछ स्थूल बातों पर ही अपने विचार प्रकट करते हैं।

---

१. वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत।...वाजपेयोत्तरकालत्वं बृहस्पतिसवस्य। मीमांसा कोष

२. बृहस्पतिसवः वाजपेयाङ्गम्।

३. बृहस्पतिसवो वा एष यद् वाजपेयम्। श० प० ५।२।१।१६

४. ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत। मीमांसा कोष
यदि ब्राह्मणो यजेत बृहस्पतिसवो ह्येष...बृहस्पतिसवो वा एष बार्हस्पत्यो ब्राह्मणो देवतया। मै०सं० ३।४।२

५. यदि राजन्यो यजेतेन्द्र सवो ह्येष। मै० सं० ३।४।३

६. स एष बृहस्पतिसवो बृहस्पतिरकामयत देवानां पुरोधां गच्छेयमिति स एतेनायजत सदेवानां पुरोधामगच्छत्॥ ता० ब्रा० १७।११।४

७. स एष बृहस्पतिसवो ब्रह्मवर्चसकाम एतेन यजेत ब्रह्मवर्चसी भवति तस्यैषैव नियतिः प्रजास्सर्वा ब्राह्मणी ब्रह्मवर्चस्विनीर्भवन्ति। काठ० ३७।७

जैमिनीय ब्राह्मण[1] २।१२९ (२१४ पृष्ठ) में बृहस्पति सव के सम्बन्ध में निम्न बातें आती हैं। एक तो यह कि बृहस्पति-सव में रथन्तर साम होता है। अर्थात् अशनया रूपी रथ को उतार फैंकना होता है। सब प्रकार की इच्छायें व कामनायें आदि समाप्त करनी होती हैं। क्योंकि ये कामनायें ही रथ हैं जो कि मनुष्य को इधर-उधर भगाये फिरती हैं। दूसरे यह रथन्तर साम त्रिवृत् होता है। "स त्रिवृद् रथन्तर सामा भवति" जै० ब्रा० १।१२९। त्रिवृत् का यहाँ तात्पर्य त्रिविध रथों को अथवा तीन स्थानों के रथों को उतारने से है। कामनाओं को हम तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं। वे तीन विभाग-अन्नमय-प्राणमय तथा मनोमय हैं। सब प्रकार की कामनायें इन तीन विभागों में विभक्त की जा सकती हैं अथवा यह भी कह सकते हैं कि सब कामनाओं का इन स्थानों में निवास है। इन कामना रूपी रथों को अपने ऊपर से उतार फैंकना ब्रह्म व बृहस्पति बनना है। इन तीन स्थानों से कामनाओं व अशनया को दूर कर देने पर उनका स्थान ब्रह्म ले लेता है। इसलिए ब्रह्मा भी त्रिवृत् कहा गया है। इस ब्रह्मवर्चस् की वृद्धि से क्या-क्या दक्षिणा मिलती है? इसका समाधान इस ब्राह्मण में यह किया कि ३३ देवताओं की तथा ३४ वें अश्व की प्राप्ति होती है। इन ३४ का वह पुरोहित बन जाता है। ये ३४ देवता निम्न प्रकार हैं। ८ वसु + ११ रुद्र + १२ आदित्य + १ अनुबन्ध्या + १ उदवसानीया + १ अश्व (प्रजापति) = ३४। ये ३३ देव इसे सवनों के क्रम से दक्षिणा रूप में प्राप्त होते हैं। कहा भी है—**"तस्यैता यथापूर्वमनुसवनं दक्षिणा ददाति—'अष्टौ प्रातःसवने ददाति एकादश माध्यन्दिने सवने द्वादश तृतीयसवने"** जै० ब्रा० २।१२९, तै० ब्रा० २।७।२।३ में प्रत्येक सवन में ११, ११ देवताओं का ग्रहण किया गया है। ये ११,११ क्या हैं, यह विचारणीय है। श० प० ५।१।२।११-१३ में १७ सोमग्रह तथा १७ सुराग्रह को मिलाकर ३४ देवता बनाये हैं। १३ वीं कण्डिका के सायणभाष्य में ८ वसु + ११ रुद्र + १२ आदित्य + वषट्कार + इन्द्र। इस प्रकार ३३ देवता बनाये हैं ३४ वां प्रजापति है। इस प्रकार इन ३४ की बृहस्पति-सव करने से उपलब्धि होती है। अब हम अनुबन्ध्या और उदवसनीया ये दो नयी परिभाषायें हैं इन पर कुछ विचारकरते हैं।

अनुबन्ध्या—अनुबन्ध्या में एक देवता है और वह मित्र और वरुण का एक सम्मिलित रूप है। मित्र और वरुण ये ब्रह्म और क्षत्र का रूप है। वरुण क्षत्रिय मित्र रूप ब्रह्म को पुरोहित बनाता है और तदनुसार उससे प्रेरित हो कार्य करता है।

---

१. **ब्रह्म वै त्रिवृद् ब्रह्म रथन्तरम्। ब्रह्मणा वाव स तद् ब्रह्मवर्चसमाध्नोंत् ब्रह्मणैव ब्रह्मवर्चसमृध्नोति य एवं वेद। जै० ब्रा० २।१२९**

टिप्पणी—क्रतु = संकल्प। दक्ष = दक्षता, कौशल। इदं कुर्वीयेति मनसाऽभिलषतीति यत् सः क्रतुः संकल्प इत्यर्थः। तत् संकल्पितमस्मै लोकाय येन समृध्येत स दक्षः। श० प० ४।१।४।१ सायणभाष्य

इसी प्रकार मित्र और वरुण-प्राण अपान भी हैं। अपान प्राण के अनुकूल रहता हुआ कार्य करता है। इसी प्रकार मित्र, वरुण, ऋतु और दक्ष भी हैं। अनुबन्ध्या एक पारिभाषिक संज्ञा भी है। यह गौ का वाचक है। वि० ५।१।६ में आता है कि "**अनुबन्ध्या गौः ज्योतिष्टोमे**" अर्थात् ज्योतिष्टोम में अनुबन्ध्या गौ का विधान है। गौ इन्द्रियों को भी कहते हैं। यहां बृहस्पति-सव में इन इन्द्रियों को बांधकर रखना तथा इन्हें अनुबन्ध्या अर्थात् बांझ बना देना चाहिये, जिससे कि ये विषयों में न भागें और विषय-भोगसम्बन्धी उत्पत्ति न कर सकें। बृहस्पति को इस याग द्वारा यह सिद्धि प्राप्त हो जाती है कि वह इन्द्रियों को विषय-भोगों में नहीं जाने देता और नहीं तत्सम्बन्धी उत्पत्ति होने देता है। 'पश्यन्नपि न पश्यति, शृण्वन्नपि न शृणोति' की स्थिति हो जाती है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि ध्यान के समय एक स्थान पर व एक केन्द्र-बिन्दु पर बांध देना अनुबन्ध्या क्रिया हो जाती है। इस अनुबन्ध्या क्रिया से जो दक्षिणा मिली उससे मित्र वरुण का पौरोहित्य प्राप्त हो जाता है। ऋतु संकल्प है। इन्द्रियों को रोक रखने में समर्थ व्यक्ति का संकल्पबल अत्यन्त प्रवृद्ध हो जाता है। संकल्प वाले व्यक्ति में दक्षता का होना अवश्यम्भावी है। अब अगली प्रक्रिया उदवसानीया की है। इसका भाव निम्न है।

उदवसानीया—उदवसानीया की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार की गई है "**उत् पूर्वस्य अवपूर्वस्यस्यतेः प्रहाणं इत्यर्थः सत्रमुत्सृज्य उदवसानीयः कर्तव्यः**" अर्थात् उत् पूर्वक तथा अवपूर्वक स्यति षो अन्तकर्मणि धातु से यह निष्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्र की समाप्ति पर उसके उत्सर्जन के समय यह उदवसानीया क्रिया करनी होती है। वाजपेय व बृहस्पति-सव के बाद वेदि से उठकर जो और कर्म किये जाते हैं उनको उदवसानीय नाम से गृहीत किया गया है। जै० ब्रा० के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उदवसानीया प्रक्रिया करनी अभीष्ट है, क्योंकि इसके करने से कर्म की सिद्धि होती है। कहा भी है—**अथ मां उदवसानीयां एकां···कर्म मे दक्षिणावद् असद् इति।** जै० ब्रा० २।१२९ उदवसानीया से कर्म का ग्रहण किया गया है और यह आशा की गई है कि मेरे कर्म दक्षिणा वाले बनें अर्थात् मैं जो भी कर्म करूं उनसे मुझे कुछ प्राप्ति अवश्य हो, वे निष्फल न जावें। इस उदवसानीया पर विचार करते हुए यह प्रश्न पैदा होता है कि यह उदवसानीया सत्र का अंग है कि नहीं। पूर्व काल में भी इस पर बड़ा विवाद रहा है। मीमांसा कोष में इस विवाद पर विचार किया गया है। जिज्ञासु व्यक्तियों को यह वहीं देखना चाहिए।

अश्व—बृहस्पति सव में ३४ वां अश्व है। इस अश्व के सम्बन्ध में जैमिनीय ब्राह्मण में आता है—'**अश्वश्चतुस्त्रिंशः। प्रजापतेर्वा एतद् रूपं यदश्वः। अथ यमनुसवनमश्वं तृतीयश······प्रजापतेरेव तेन पुरोधायाऽनुत**" जै० ब्रा० २।१२९। बृहस्पति के पौरोहित्य का तीसरा कारण अश्व है। यह अश्व स्वयं प्रजापति का रूप है। इसे सवनों के क्रम से करना होता है। अश्व की प्राप्ति प्रजापति की प्राप्ति है। इसी प्रजापति का पौरोहित्य प्राप्त होता है।

अश्व प्राणबल को कहते हैं, यह प्राणबल जब व्यापक (अशूङ् व्याप्तौ) होकर दिव्यता का प्रजनन करता है तब यह बृहस्पति-सव में बृहस्पति को पुरोहित बनने की सामर्थ्य प्रदान करता है।

इसका तात्पर्य संक्षेप में इस प्रकार है। प्रजापति प्रजनन का स्वामी है। स्त्री में वीर्य सिञ्चन द्वारा जो पुरुष का प्रजनन है वह भौतिक प्रजनन है। प्रजापति का यह रूप अश्व नहीं है; क्योंकि अश्व रूप व्याप्ति को दर्शाता है। अश्व-सम्बन्धी व्याप्ति प्राण से सम्बन्ध रखती है। प्राण जब शरीर व शरीर से बाहिर ब्रह्माण्ड में व्याप्त होने लगता है तभी वह अश्व कहलाता है। स्त्री में वीर्य सिञ्चन से तो क्षीणता पैदा होती है, अतः प्रजापति के इस रूप का तो आलम्भन[1] व हिंसन करने का विधान हुआ है। यह तभी होता है जब वीर्य को अवरुद्ध कर ऊर्ध्वरेतस् बनाया जाता है। ऊर्ध्व रेतस् अवस्था में शरीरस्थ देव प्रजापति से प्रजनन प्रारम्भ करते हैं। शरीर की समग्र शक्तियाँ विकसित होती हैं, दिव्य बनती हैं और ब्रह्माण्ड में अभिव्याप्त होती हैं। यह प्रजापति का 'अश्व' रूप व्यापकरूप (अश्नुते—अशूङ् व्याप्तौ) होता है। इसी दिव्य अवस्था में बृहस्पति के पौरोहित्य में प्रजापति द्वारा प्रजनन होता है। बृहस्पति इन सब दिव्य उत्पत्तियों का नियामक होता है। इसी दृष्टि से कहा है **"प्रजापतेरेव तेन पुरोधायाश्नुत"** जै० ब्रा०। क्योंकि ये उत्पत्तियाँ व्यापक रूप में होती हैं इसलिये इस प्रजापति को 'अश्व' कह दिया है।

आगे कई कहते हैं कि इस प्रजापतिरूप अश्व को मन से देना चाहिये अर्थात् मनोयोग पूर्वक अश्व प्राण से बृहस्पति के अधीन उत्पत्ति करनी चाहिये। और यह उत्पत्ति प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन इन तीनों में होनी चाहिए। पर कईयों का यह कहना है कि मन **'हृत्प्रतिष्ठ'** है अतः केवल माध्यन्दिन सवन में ही मन का योग अभीष्ट है। इसमें इनको यह भय प्रतीत होता है कि यदि मन को प्रातः सवन में भी लगाया गया तो इससे वासना व कामना आदि जागृत हो जायेंगी, क्योंकि प्रातःसवन का सम्बन्ध निचले अंगों से है। इसी बात को निम्न शब्दों में कहा गया है—**"तदाहुर्मनसैव प्रातःसवने दद्यात् मनसा तृतीयसवने मध्यन्दिन एव सवने दद्यात्। तदु वा आहुः-अतीर्थं वै प्रातःसवनं दक्षिणानाम् अतीर्थं तृतीय सवनम्। मध्यन्दिन एव सवने दद्यात् तदेव तीर्थं तदायतनम्। नैवेतरयोः सवनयोर्मनसा च न ददद्ाद्रियेतेति।"** अर्थात् कइयों का यह कहना है कि प्रातःसवन आदि तीनों सवनों के साथ मन का योग होना चाहिए। इस पर याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रातःसवन तथा तृतीय सवन ये दोनों तीर्थ नहीं हैं। आगे कहा कि—**ब्रह्मणेऽश्वं ददाति**—

अर्थात् इस अश्व रूप प्रजापति को ब्रह्म को सौंप दे समग्र शरीरान्तर्गत प्राण में जो प्रजनन हो रहा हो वह ब्रह्म के लिए हो, ब्रह्मप्राप्ति के लिए हो। यह अश्व[2] जिस

---

१. **यस्मात् प्रजापतिरालब्धोऽश्वोऽभवत्। तस्मादश्वो नाम।** तै० ब्रा० ३।९।२१।४।३।९, २२।१२

२. **अश्वो न देववाहनः।** ऋ० ३।२०।१४।

समय दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति करता है और उन्हें वहन करता है तभी **'देववाहन'** कहा जाता है।

बृहस्पति का अभिषेक तथा पृथिवी व बृहस्पति का एक-दूसरे से भयभीत होना—

अथेमामुपावेक्षमाणो जपति नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इति॥

श० प० ५।२।११।१८

वाजपेय यज्ञ (बृहस्पति सव) में जब बृहस्पति का अभिषेक होता है तब यजमान- (बृहस्पति) पृथिवी की ओर दृष्टिपात करता हुआ निम्न मन्त्रपदों से जप करता है। वे इस प्रकार हैं—**'नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इति'** अर्थात् माता पृथिवी को मेरा बार-बार नमस्कार है। उपर्युक्त मन्त्र द्वारा जप करने का हेतु यह दिया है कि जिस समय बृहस्पति का अभिषेक होने लगा तो पृथिवी को यह भय पैदा हो गया कि कहीं यह बृहस्पति मुझे विदीर्ण न कर देवे। इसी प्रकार बृहस्पति को भी पृथिवी से यह भय पैदा हो गया कि कहीं यह पृथिवी मुझे अपने ध्येय से कंपा न देवे। इस प्रकार वे दोनों एक-दूसरे से भय करने लगे। तब इस उपर्युक्त पार्थिव-नमस्कार के मन्त्र द्वारा दोनों में मेल हो गया। बृहस्पति ने पृथिवी को माता मान लिया और पृथिवी ने बृहस्पति को अपना पुत्र समझ लिया। क्योंकि माता कभी भी अपने पुत्र की हिंसा नहीं किया करती और इसी प्रकार पुत्र भी अपनी माँ की हिंसा नहीं करता। इस उपर्युक्त कथन का तात्पर्य अध्यात्म क्षेत्र में हम इस भाँति स्पष्ट कर सकते हैं। शरीर में बृहस्पति का स्थान मस्तिष्क है और पृथिवी का उदर। पृथिवीस्थानीय उदर से वीर्य उर्ध्व में मस्तिष्क में जाकर ज्ञानाग्नि में प्रज्वलित होकर बृहस्पति का रूप धारण करता है अतः वीर्य से उत्पन्न होने के कारण यह बृहस्पति उदर (पृथिवी) का पुत्र है और उदर माता है। जब बृहस्पति का अभिषेक होता है अर्थात् शरीर व इन्द्रियाँ आदि का सम्राट् बृहस्पति को बनाया जाता है, तब उदर रूप पृथिवी को यह भय होता है कि कहीं बृहस्पति मेरी उपेक्षा न कर देवे। क्योंकि ज्ञान-विज्ञान में तल्लीन व्यवित अन्नादि भक्षण व शरीर के पोषण में अत्यधिक लापरवाह हो जाते हैं। इससे स्थूल शरीर व इन्द्रियाँ आदि क्षीण हो जाती हैं। यही पृथिवी का विदीर्ण होना व उसकी हिंसा है। दूसरी ओर बृहस्पति भी पृथिवी से भयभीत हो जाता है। उसको यह भय होता है कि पार्थिव अंगों की कामना, वासना आदि कहीं मुझे अपने ध्येय से विचलित न कर देवें। इस प्रकार दोनों को एक-दूसरे से भय बना रहता है। तब बृहस्पति पृथिवी माता के पास पहुँचता है और कहता है, माँ! तुझे मेरा बार-बार नमस्कार है। इस पर माँ का हृदय द्रवित हो जाता है। वे एक-दूसरे के विरोधी न बनकर सहायक बन जाते और उनका भय जाता रहता है।

बृहस्पति-सव में होता—बृहस्पतिसव कराने वाले होता का शास्त्रों में निम्न स्वरूप वर्णित है।

परि स्रजी होता भवति। अरुणो मिर्मिरस्त्रिशुक्रः। एतद्वै ब्रह्मवर्चसस्य रूपम्। रूपेणैव ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे। तै० ब्रा० २.७.१.२ काठ० सं० ३७.७ **परिस्रजी—खलतिः शिरसि स्रगाकारेण परित एव केशा न तु मध्ये इत्यर्थः अरुणः=सन्ध्या वर्णः। मिर्मिरः =पुनः पुनरति वेगेन चक्षुर्मीलनयुक्तः। त्रिशुक्रः=त्रिषु वेदेषु शुद्धः, मातृवंशपितृवंश-निजाचारेषु वा शुद्धः।**

इसका भाव यह है कि बृहस्पतिसव कराने वाला होता गंजा हो। सिर में चारों ओर माला रूप में बाल हों। पर मध्य में गंजा हो। और वह अरुण सन्ध्या-काल के समान लाल वर्ण का हो और अतिवेग से चक्षु को उन्मीलन व निमीलन करने वाला हो। तीनों वेदों का ज्ञाता तथा शुद्धोच्चारण करने वाला हो। अथवा पिता-माता तथा स्व आचार में श्रेष्ठ व शुद्ध हो—ऐसा व्यक्ति बृहस्पतिसव कराने वाला होना चाहिए।

वाजपेय याग में पति-पत्नी का स्वरारोहण—वाजपेय याग में पति-पत्नी स्वः अर्थात् स्वर्ग की ओर आरोहण करते हैं। मै० सं० १.११.८ में आता है कि "स्वो रोहा-वेहि स्वो रोहावेहि—स्व र्वा एतद् रोक्ष्यन् पत्न्या संवदते—**पत्न्या सह स्वर्गे लोके भवत।** अर्थात् यजमान पत्नी से कहता है कि हे पत्नि! आ, हम दोनों स्वर्ग की ओर आरोहण करें। स्वो रोहाव—के भाव को इस मन्त्र द्वारा स्पष्ट किया है। मन्त्र इस प्रकार है—

पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहम् अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥

अब विचारणीय यह है कि (स्वः) की ओर आरोहण का क्या तात्पर्य है? स्वः का तात्पर्य है मूर्धा। कहा भी है 'स्वर्मूर्धा०' स्वर्मौर्ध्न्याय। काठक० १४.१ अर्थात् वाजपेय याग में पतिपत्नी मूर्धा की ओर आरोहण करते हैं अर्थात् भोग-विलास से विरत होकर ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में अपने को लगाते हैं। संयमी जीवन व्यतीत करते हैं। वस्तुतः यही पतिपत्नी का स्वरारोहण है।

वाजपेय—अग्निष्टोम—यह वाजपेय अग्निष्टोम का विकार[1] है। वाजपेय काम्-येष्टि[2] है अग्निष्टोम का ही संस्थान विशेष है अतः अग्निष्टोम से पूर्व इसे करने का विधान नहीं है। इसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि अग्निष्टोम में अग्नि का स्तवन व अन्य साधनों द्वारा उसकी अभिवृद्धि करनी होती है। इसलिए कई स्थलों पर अग्नि[3] को ही अग्निष्टोम नाम से स्मरण किया गया है। अग्नि की स्तुति व उसकी अभिवृद्धि से मनुष्य में ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति होती है। इसलिए अग्नि वह लेनी है जो ब्रह्मवर्चस्[4] की वृद्धि में कारण हो।

---

१. **वाजपेयः अग्निष्टोमविकारः।** वि० ११.३.१५.४६
२. **वाजपेयः काम्य अग्निष्टोमस्य संस्थाविशेषः। अग्निष्टोमानुष्ठानात् प्रागयं नानुष्ठातव्यः।** वि० ५.३.१३.१४
३. **स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमस्तं यदस्तुवंस्तस्मादग्निस्तोमः।** ऐ० ब्रा० ३.४३। **अग्निरग्निष्टोमः।** ऐ० ब्रा० ३.४१, श० प० ३.६.३.३५
४. **ब्रह्म वा अग्निष्टोमः।** कौ० २१ **ब्रह्मवर्चसं वा अग्निष्टोमः।** तै० ब्रा० २.७.१.१

स्वभावतः यह अग्नि आन्तरिक अग्नि है और वीर्य से सम्बद्ध है। अर्थात् इस ब्रह्माग्नि की वृद्धि ब्रह्मचर्य-पालन व वीर्यलाभ से ही सम्भव है। इसी कारण शास्त्रों में वीर्य[1] को भी अग्निष्टोम कह दिया गया है। इस प्रकार अग्निष्टोम के पश्चात् अर्थात् ब्रह्मचर्य द्वारा वीर्यलाभ करने पर मनुष्य में आन्तरिक अग्नियाँ-उदराग्नि मानस अग्नि आदि खूब प्रवृद्ध होती हैं। एक प्रकार से शरीर में अग्नि का स्तोम (समूह) पैदा हो जाता है। और उसके मुख से ब्रह्मवर्चस् तेज टपकता है। इस अवस्था में वाजपेय याग करना चाहिए। क्योंकि वाज अर्थात् ब्रह्मवर्चस् वेग का प्रकाशन सम्भव है। यह वाज=(सोम=वीर्य) के आन्तरिक पान पर सम्भव है। इस अवस्था में पहुँच कर वीर्य का अधःपतन नहीं होता। वाजपेय याग करने का इच्छुक पति पत्नी के साथ स्वः का आरोहण करे।

पृष्ठ ६० का चित्र—

अश्वमेध

जिस प्रकार सौरमण्डल में आदित्य अश्व है उसी प्रकार राष्ट्र में राजा अश्व है। क्योंकि अश्वमेध द्वारा राजा पर अश्व शक्ति को आरोपित किया जाता है अर्थात् राजा में अश्व शक्ति पैदा की जाती है यह चित्र से स्पष्ट है। यह चित्र मद्रास प्रदेशान्तर्गत त्रिचुरापल्ली मन्दिर के भित्तिचित्र का है।

---

१. **वीर्यं वा अग्निष्टोमः** । तां० ब्रा० ४.५.२१

मन्त्र-व्याख्या.

ऋ० मं० १ । सू० १८

वेद-विद्या का अधिपति ब्रह्मणस्पति

ऋषिः **मेधातिथिः काण्वः** । देवता **१-३ ब्रह्मणस्पतिः, ४ इन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः सोमश्च, ५ ब्रह्मणस्पतिः सोम इन्द्रो दक्षिणा च, ६-८ सदसस्पतिः, ९ सदसस्पतिर्नराशंसो वा** । छन्दः **गायत्री** ।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः ॥१॥

(**ब्रह्मणस्पते**) हे वेदवाणी के स्वामिन् (**सोमानं**) सोम सेवन करने वाले (**कक्षीवन्तं**) शिर में विभिन्न प्रकार के सहस्रों ज्ञान प्रकोष्ठों वाले कक्षीवान् को (**स्वरणं कृणुहि**) शब्दायमान कर (**यः**) जो कक्षीवान् (**औशिजः**) उशिक् अर्थात् तेज व कमनीयता का पुत्र है।

इस मन्त्र में 'कक्षीवान्' तथा 'उशिक्' ये दो शब्द विशेष विचारणीय हैं। ऐतिहासिक इन्हें ऋषि-विशेष मानते हैं। इन पर विस्तृत विचार स्वतन्त्र रूप से लिखते हुए ही हो सकता है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना है कि अध्यात्म क्षेत्र में कक्षीवान् वह व्यक्ति है जिसके मस्तिष्क-सम्बन्धी विद्या-प्रकोष्ठ दिव्य तेज से देदीप्यमान् हो गये हैं। (उशिक् वष्टेः कान्तिकर्मणस्तस्य पुत्रः औशिजः) कान्ति, कमनीयता व तेजस्विता को कहते हैं और कक्षीवान् वह है जिसमें कमनीयता व तेजस्विता के प्रवेश के कारण मस्तिष्क के विद्याप्रकोष्ठ खुल गये हैं (बह्व्यः प्रशस्ताः कक्षाः ज्ञानकोष्ठाः विद्यन्ते यस्मिन सः) ये ज्ञानकोष्ठ (Brain Centers) दिव्यता में ही खुलते हैं। साधारण व्यक्ति में ये प्रकोष्ठ नहीं खुलते।

दूसरी बात मन्त्र में यह कही कि कक्षीवान् को 'स्वरण' अर्थात् शब्दायमान किया जाए। इसका भाव यह है कि मस्तिष्क के ये ज्ञानकेन्द्र खुलकर दिव्य स्वर निकालने वाले अर्थात् दिव्यज्ञान को प्रकट करने वाले बनें। यह कार्य ब्रह्मणस्पति की कृपा से होता है।

यो रेवान्यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः । स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥२॥

(**यः**) जो ब्रह्मणस्पति (**रेवान्**) धनवान् है (**यः**) जो (**अमीवहा**) शत्रुओं व रोगों का नाशक है (**वसुवित्**) वसु प्राप्त कराने वाला है (**पुष्टिवर्धनः**) पुष्टि का बढ़ाने वाला हैं और (**यः**) जो (**तुरः**) शीघ्र फल-प्रदाता है (**सः**) वह (**नः**) हमसे (**सिषक्तु**) सम्पर्क करे।

इस मन्त्र में 'ब्रह्मणस्पति' का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। रयि की उपलब्धि, रोग-विनाश, वसु प्राप्ति तथा पुष्टि-वृद्धि आदि का होना ब्रह्मणस्पति का प्रथम कार्य है। ये उपलब्धियाँ वसु ब्रह्मचारी की हैं। ब्रह्मणस्पति रूपी गुरु की सहायता से शिष्य इन्हें प्राप्त करते हैं।

मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य। रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥३॥

(**अररुषः**) अत्यन्त क्रोधी, अदानशील, अथवा समीप आकर बुरी बातों की प्रशंसा करने वाले (**मर्त्यस्य**) मनुष्य का (**शंसः**) कथन और (**धूर्तिः**) हिंसा व धूर्तता (**नः**) हमें (**मा प्रणक्**) नष्ट न करे। (**ब्रह्मणस्पते**) हे ब्रह्मणस्पति ! तू (**नः रक्ष**) हमारी रक्षा कर।

उपर्युक्त मन्त्र में 'अररुषः' शब्द की निम्न व्युत्पत्तियाँ व अर्थ हो सकते हैं—

१. अलं रोषकस्य=अत्यन्त क्रोधी (रुष रिष हिंसायाम्)।

२. अदानशीलस्य=दान न देने वाला, रा दाने इत्यस्मात् क्वसुस्ततः षष्ठ्येकवचनम्।

३. प्रापकस्य=समीप पहुंचने वाले, गत्यर्थात् ऋ धातोः अरुः प्रत्ययः अर्तेररुः उ० ४.८०।

ब्रह्मणस्पति आचार्य अपने शिष्यों को 'अररु' अर्थात् पापी मनुष्य से बचाता है। ये व्यक्ति दूसरों को पतन के मार्ग पर प्रेरित करते हैं। यदि इनका कहना न मानें तो अत्यन्त क्रुद्ध हो हिंसा करने व अन्य धूर्तता करने पर उतारू हो जाते हैं। ऐसे धूर्त व्यक्तियों से रक्षा करना ब्रह्मणस्पति का काम है।

स घा वीरो न रिष्यति यमिन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः।
सोमो हिनोति मर्त्यम् ॥४॥

(**स घा वीरः**) वह ही वीर पुरुष (**न रिष्यति**) हिंसित नहीं होता (**यं मर्त्यं**) जिस वीर मनुष्य को (**इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः सोमः हिनोति**) इन्द्र ब्रह्मणस्पति तथा सोम बढ़ाते हैं।

मनुष्य की वृद्धि व रक्षा आदि में इन्द्रादि दिव्यशक्तियों व दिव्य पुरुषों की सहायता अपेक्षित है। मनुष्य का स्वतः प्रयत्न पूर्ण सफलता को नहीं दे सकता यदि उपर्युक्त देवों की सहायता न हो।

त्वं तं ब्रह्मणस्पते सोम इन्द्रश्च मर्त्यम्।
दक्षिणा पात्वंहसः ॥५॥

(**ब्रह्मणस्पते**) हे ब्रह्मणस्पति ! (**त्वं**) तू (**तं मर्त्यं**) उस सोम सवन करने वाले

मनुष्य की रक्षा कर (**सोमः इन्द्रः दक्षिणा**) सोम इन्द्र और दक्षिणा ये भी उस मनुष्य की (**अंहसः पातु**) पाप से रक्षा करें।

यहाँ इस मन्त्र में ब्रह्मणस्पति, सोम और इन्द्र के अतिरिक्त दक्षिणा का भाव और ग्रहण किया गया है। दक्षिणा का भाव यहाँ पर देवों के प्रति हविर्दान का प्रतीत होता है। अध्यात्म में यह दक्षिणा आत्मदान के लिए समझनी चाहिये। अर्थात् ये इन्द्रादि देवता मनुष्य की उसी समय रक्षा कर सकते हैं जबकि मनुष्य उन देवों के प्रति आत्म-दान कर देवे।

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषम् ॥६॥

(**सदसस्पतिं**) सदसस्पति नामक देव को जो कि (**अद्भुतं**) अद्भुत है (**इन्द्रस्य प्रियं**) इन्द्र का प्यारा है, (**काम्यम्**) कमनीय है तथा (**सनिं**) धनादि ऐश्वर्य का प्रदाता है, उसको मैं (**मेधां**) मेधा में (**अयासिषम्**) प्राप्त करता हूँ।

यहाँ ब्रह्मणस्पति को ही सदसस्पति कहा गया है। सदसस्पति का भाव यह है कि जो देवों के निवास-स्थान मस्तिष्क का स्वामी है। सदः देवस्थान को कहते हैं जहाँ कि देव बैठते हैं। हमारे में देवों का 'सदः' स्थान मस्तिष्क है। और मेधा में ही उसे प्राप्त करने का विधान हुआ है।

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति ॥७॥

(**यस्मात् ऋते**) जिस सदसस्पति के बिना (**विपश्चितः चन**) मेधावी पुरुष का भी (**यज्ञः**) मेधासम्बन्धी यज्ञ (**न सिध्यति**) सिद्ध नहीं होता (**सः**) वह सदसस्पति (**धीनां योगं**) बुद्धियों के योग अर्थात् परस्पर के मेल को (**इन्वति**) प्राप्त करता है।

हमारे मस्तिष्क में विद्यमान बुद्धिकेन्द्रों का पारस्परिक कार्य-व्यवहार, सब नाड़ियों का परस्पर का आदान-प्रदान आदि सब कार्य इस सदसस्पति के अधीन होता है। सदसस्पति गुरु के बिना उपर्युक्त कार्य-व्यवहार सम्पन्न नहीं हो सकते।

आदृध्नोति हविष्कृतिं प्राञ्चं कृणोत्यध्वरम्।
होत्रा देवेषु गच्छति ॥८॥

पूर्व मन्त्रोक्त बुद्धि-केन्द्रों के युक्तावस्था के (**आत्**) अनन्तर ही यह सदसस्पति (**हविष्कृतिं**) हवियों के निर्माण को (**ऋध्नोति**) बढ़ाता है (**अध्वरं प्राञ्चं कृणोति**) यज्ञ को प्रगतिशील बनाता है। इस अवस्था में ही (**होत्रा**) वाक् (**देवेषु गच्छति**) देवों के पास पहुंचती है।

बौद्धिक केन्द्रों के परस्पर युक्त होने पर अथवा मनुष्य के मन का बुद्धि-केन्द्रों के साथ योग होने पर निम्न बातें होती हैं। एक तो यह कि मस्तिष्क में विद्यमान देवों के उत्थान व उनकी वृद्धि के लिए तदनुसार हवि का निर्माण शुरू हो जाता है। दूसरे देवों का यह ज्ञान-यज्ञ अत्यन्त प्रगतिशील बन जाता है। और तीसरे बुद्धि-केन्द्रों की जो अपनी विशिष्ट वाक् है जिसे कि शास्त्र में होत्रा कहा गया है, वह देवों के पास पहुंचती है। किसलिये ? उनके शरीर में उद्‌गम व आविर्भाव कराने के लिये।

नराशंसं सुधृष्टममपश्यं सप्रथस्तमम् ।
दिवो न सद्‌ममखसम् ।।६।।

(**नराशंसं**) मस्तिष्क में विद्यमान इस नराशंस अग्नि को मैंने (**अपश्यम्**) देखा है किस रूप में ? (**सुधृष्टमम्**) अत्यधिक घर्षणकर्त्ता के रूप में (**सप्रथस्तमम्**) अत्यन्त विस्तृत व व्यापक रूप में (**दिवः न सद्‌ममखसम्**) द्युलोक के देवसदन में यज्ञकर्त्ता के रूप में।

यहाँ सदसस्पति को ही नराशंस कहा गया है। यह इन्द्रिय-रूपी नरों द्वारा प्रशंसित है। इन्द्रियाँ नर हैं क्योंकि ये आत्मा व मन को इधर-उधर ले जाती हैं। मस्तिष्क की इस नराशंस अग्नि के ये निम्न रूप यहाँ दिखाये गये हैं। 'सुधृष्टमम्' शत्रुओं व आवरणों का खूब घर्षण करने वाली। इस समग्र ब्रह्माण्ड में खूब व्याप्त हुई (**सप्रथस्तमम्**) द्युलोक में विद्यमान 'सद्‌म' अर्थात् देवसदन में होने वाले 'मख' अर्थात् यज्ञ को करने वाली (**सद्‌ममखसम्**)।

इस प्रकार यह सूक्त ब्रह्मणस्पति आदि देवों का सूक्त है। हमने मेधातिथि ऋषि की दृष्टि से अध्यात्म में इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।

ऋ० मं० १। सू० ४०

ऋषिः **कण्वो घौरः**। देवता **ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः **प्रगाथः**।
=विषमा बृहत्यः+समाः सतो बृहत्यः।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे ।
उपप्रयन्तु मरुतः सुदानव इन्द्रं प्राशूर्भवा सचा ।।१।।

(**ब्रह्मणस्पते**) हे ब्रह्मज्ञान के स्वामिन् तू (**उत्तिष्ठ**) खड़ा हो अर्थात् तैयार हो (**देवयन्तः**) देवों व दिव्यता की कामना वाले हम (**त्वा ईमहे**) तुझे चाहते हैं। (**सुदानवः**) उत्तम शक्ति प्रदान करने वाले (**मरुतः**) दिव्य प्राण (**उपप्रयन्तु**) हमें प्राप्त हों और (**इन्द्र**) हे दिव्य मन ! तू (**सचा**) हममें समवेत होकर (**प्राशूः भव**) हमारे अन्दर प्रकृष्ट रूप से व्याप्त हो।

देवयन्तः—**देवान् आत्मनः इच्छन्तः ।**
प्राशूः=**प्रकर्षेण समन्तात् अश्नुते व्याप्नोति ।**
अशूङ्=**व्याप्तौ ।**
सुदानवः—**शोभनं दानुर्दानं येषां ते ।**

इस सूक्त के शब्दार्थों, भावों तथा क्षेत्रादि का निर्णायक पद 'देवयन्तः' है । अर्थात् इन मन्त्रों को दिव्यता के क्षेत्र में घटाना चाहिए ।

त्वामिद्धि सहसस्पुत्र मर्त्य उपब्रूते धने हिते ।
सुवीर्यं मरुत आ स्वश्व्यं दधीत यो व आचके ।।२।।

(**सहसस्पुत्र**) हे साहस व बल के पुत्र ब्रह्मणस्पति ! (**मर्त्यः**) यह मरणधर्मा मनुष्य (**धने हिते**) प्रच्छन्न रूप में निहित आध्यात्मिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (**त्वाम् इत्**) तुझसे ही (**हि**) निश्चय से (**उपब्रूते**) समीप आकर याचना करता है (**मरुतः**) हे प्राणो व देवो ! (**यः वः**) जो तुम्हारी (**आचके**) कामना करता है उसके अन्दर तुम (**सुवीर्यं**) उत्तम वीर्य शक्ति तथा (**स्वश्व्यं**) श्रेष्ठ पदार्थों में व्याप्त होने वाली प्राणशक्तियों को (**आदधीत**) धारण कराओ ।

आचके—**कं शब्दे, आचके कान्तिकर्मा ।** निघ० २.६
हिते—**निहिते—प्रच्छन्ने वृत्रवलादिभिः वा ।**
स्वश्व्यम्—**शोभनानामश्वानां समूहो अश्वीयं तदस्यास्तीति ।**
अश्वशब्द प्राण का प्रतीक है ।

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्रदेव्येतु सूनृता ।
अच्छा वीरं नर्यं पंक्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ।।३।।

(**ब्रह्मणस्पतिः**) वह ब्रह्मज्ञान का स्वामी (**प्रैतु**) हमें प्राप्त हो (**सूनृता**) उत्तम, संयमित तथा सत्यमयी (**देवी**) दिव्य वाक् (**प्रैतु**) प्रकृष्ट रूप से हमें प्राप्त हो (**देवाः**) दिव्य गुण, दिव्य ऐन्द्रियिकशक्ति (**वीरं**) वीरों से युक्त (**नर्यं**) मानव हितकारी (**पंक्ति-राधसं**) पंक्तिबद्ध ऐश्वर्य को अथवा धर्मात्मा मनुष्यों की श्रेणी को साधने वाले (**यज्ञं**) यज्ञ को (**अच्छा**) शुद्ध रूप में (**नः नयन्तु**) हमें प्राप्त करावें ।

सूनृता=सु+ऊन+**ऋता**=उत्तम—**स्वल्प तथा सत्य ।**

पंक्तिराधसम्—**यः पंक्तीर्धनैश्वर्यसमूहान् राध्नोति धर्मात्मवीरसमूहान् वा । पंक्तिसमृद्धं राधो यस्य तम् । कपालि शास्त्री । पंक्तिभी राध्नोतीति पंक्तिराधस्तम् (सायणाचार्य) । पङ्क्त्यर्थं राधोऽन्नं-यस्यतम् । स्वामी दयानन्द ।**

यो वाघते ददाति सूनरं वसु स धत्ते ग्रक्षिति श्रवः ।
तस्मा इडां सुवीरामायजामहे सुप्रतूर्तिमनेहसम् ।।४।।

(**यः**) जो मनुष्य (**वाघते**) दिव्यवाक् को वहन करने वाले ब्रह्मणस्पति को (**ददाति**) ग्रपने को सौंप देता है (**सः**) वह (**सूनरं वसु**) मनुष्य को उत्तम बनाने में उपयोगी धन ग्रर्थात् ग्रात्मरूप को (**धत्ते**) धारण करता है। उसका (**ग्रक्षितिः**) ग्रक्षय (**श्रवः**) यश व कीर्ति सर्वत्र फैलती है (**तस्मै**) ब्रह्मणस्पति के प्रति समर्पण करने वाले व्यक्ति के लिए ग्रान्तरिक दिव्य शक्तियाँ (**सुवीरां**) श्रेष्ठ वीर्य से सम्पन्न (**सुप्रतूर्तिम्**) शोभन प्रकार से तथा त्वरितगति से प्राप्त कराने वाली ग्रथवा शत्रु विनाश करने वाली (**ग्रनेहसं**) ग्रहिंसनीय इस (**इडां**) इडा नामक दिव्य वाक् का हम (**ग्रायजामहे**) यजन करते हैं।

वाघते—**वाघतः वाङ्नाम । निघं० ३।१८, वोढारः नि० ११।१६**
सूनरम्—**शोभना नरा यस्मात् तं यज्ञं, सुष्ठु नेतव्यम् वा ।**
सुप्रतूर्तिम्—**सुष्ठु प्रकृष्टा तूर्ति स्त्वरिता गतिर्यया ताम् सुष्ठु प्रकर्षेण वेगवतीं हिंसाकारिणीं शत्रूणाम्—कपालि शास्त्री—तुर्वी हिंसायाम्**
ग्रनेहसम्—**न हन्यते इति ग्रनेहाः तम् ।**
श्रवः—**श्रूयते इति श्रवः ।**

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो ग्रर्यमा देवा ग्रोकांसि चक्रिरे ।।५।।

(**ब्रह्मणस्पतिः**) वह वेदज्ञान का स्वामी (**उक्थ्यं**) ग्रन्दर हृदय में उठने वाले (**मन्त्रं**) मन्त्र को (**नूनं**) निश्चय से (**प्रवदति**) प्रकृष्ट रूप में बोलता है, उपदेश देता है। (**यस्मिन्**) जिस मन्त्र के उत्थान में या परमात्मा में (**इन्द्रः वरुणः मित्रः ग्रर्यमा देवाः**) इन्द्र वरुण ग्रादि देव (**ग्रोकांसि चक्रिरे**) ग्रपने ग्राश्रयस्थानों को बनाते हैं ग्रर्थात् निवास करते हैं।

भक्त-पुरुष की हृदयस्थली में ब्रह्मणस्पति की कृपा से जब मन्त्र ग्राविर्भूत होने लगते हैं तब मन्त्रों के ये इन्द्र, वरुण ग्रादि देव भी ग्रपने-ग्रपने स्थानों का निर्धारण कर उद्भूत होना प्रारम्भ करते हैं।

उक्थ्यम्—**उत्थानात्-वक्तुं श्रोतुं योग्येषु ऋग्वेदादिषु भवम् । स्वामी दयानन्द ।**

तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा ग्रनेहसम् ।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो विश्वेद्वामा वो ग्रश्नवत् ।।६।।

(**देवाः**) हे इन्द्रादि देवो ! हम (**तमित्**) उस ही ब्रह्मणस्पति प्रदत्त (**शम्भुवं**) कल्याणकारी (**ग्रनेहसं**) ग्रहिंसनीय (**मन्त्रं**) मन्त्रसमूह को (**विदथेषु**) ज्ञानगोष्ठियों व

अध्ययनाध्यापनादि ज्ञान-यज्ञों में (**वोचेम**) बोलें (**नरः**) हे नेतारूप देवो व दिव्यशक्तियो ! (**इमां च वाचं**) इस हमारी वाणी को तुम (**प्रतिहर्यथ**) कान्तिमयी व तेजस्विनी बना दो। (**वः**) तुम्हारी (**विश्वा वामा**) सब सुन्दर व संभजनीय वाक् (**इत्**) निश्चय से (**अश्नवत्**) प्राप्त होवे।

विदथेषु—**विद् ज्ञाने विदथानि वेदनानि**। निरु० ६.७
प्रतिहर्यथ—**हर्य गतिकान्त्योः**।
वामा—**वाम इति प्रशस्यनामसु पठितम्**। निघ० ३.८

को देवयन्तमश्नवज्जनं को वृक्तबर्हिषम्।
प्र प्र दाश्वान् पस्त्याभिरस्थितान्तर्वावत् क्षयं दधे॥७॥

(**देवयन्तं**) देव बनने की इच्छा वाले शिष्य को (**कः अश्नवत्**) कौन प्राप्त करता है? (**वृक्तबर्हिषम्**) बर्हि अर्थात् कुशा के समान आन्तरिक शत्रुओं को काटकर आत्मा को दिव्य बनाने वाले गुरु को (**कः अश्नवत्**) कौन प्राप्त करता है? अर्थात् गुरु को देव बनने की इच्छा वाला कोई विरला ही शिष्य मिलता है और इसी प्रकार शिष्य के संशयों व आन्तरिक शत्रुओं को विनष्ट कर शिष्य को देव बनाने की शक्ति रखने वाला गुरु भी कोई विरला ही मिलता है। (**दाश्वान्**) ब्रह्मणस्पति को अपने को सौंप देने वाला शिष्य (**पस्त्याभिः**) दिव्य शक्तियों के निवास स्थानों से (**प्र अस्थित**) प्रस्थान करता है और (**अन्तर्वावत्**) अन्दर की ओर प्रवाह वाले अन्तर्गति वाले (**क्षयं**) आत्मा के दिव्य घर को (**प्रदधे**) प्रकृष्ट रूप में धारण करता है।

क्षयम्—**क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिस्तत्।...'भयादीनामिति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन नपुंसकम्**। स्वामी दयानन्द।
अन्तर्वावत्—**अन्तर्वाति गच्छतीति अन्तर्वा अन्तर्गतं अन्तःस्थितं वा वस्तु ततो मतुप् मतोर्वः**। कपालि शास्त्री।
पस्त्याभिः—**पस्त्यं गृहनाम। पस्त्यानां जीवशरीरम्**। स्वामी दयानन्द। निघ० ३.४
वृक्तबर्हिषम्—**वृक्तं वर्जितं छेदितं वा बर्हिरिव अन्तः शत्रवो येन तम्**।

उप क्षत्रं पृञ्चीत हन्ति राजभिर्भयेचित् सुक्षितिं दधे।
नास्य वर्ता न तरुता महाधने नार्भे अस्ति वज्रिणः॥८॥

यह ब्रह्मणस्पति (**क्षत्रं**) क्षत्र शक्ति के साथ (**उपपृञ्चीत**) सम्पर्क करे अर्थात् ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति का मेल हो। [यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह] ऐसा होने पर (**भयेचित्**) भय अर्थात् राष्ट्र पर संकट आने पर (**राजभिः**) अस्त्रशस्त्रों से देदीप्यमान योद्धाओं के द्वारा (**हन्ति**) शत्रु का विनाश कर देता है और (**सुक्षितिं दधे**)

पृथिवी को उत्तम रूप में धारण करता है। (**अस्य वज्रिणः**) इस वज्री का (**वर्ता**) घेराव करने वाला तथा (**तरुता**) उल्लंघन करने वाला (**न**) कोई नहीं है (**महाधने अर्भे**) बड़े-बड़े संग्रामों में अथवा छोटे संग्रामों में (**न अस्ति**) मुकाबला करने वाला कोई नहीं है।

महाधने—**महच्च तद्धनं च महाधनं तद्हेतुभूतः संग्रामः।**
पृञ्चीत—**पृची सम्पर्के।**
वर्ता वर्ततेर्वृणोतेर्वा।
तरुता—**तृ प्लवनसंतरणयोः।**

ऋ० मं० १। सू० १३९

ऋषिः **परुच्छेपो दैवोदासिः**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **अत्यष्टिः**।

होता यक्षद्वनिनो वन्त वार्यं बृहस्पतिर्यजति वेन उक्षभिः पुरुवारेभिरुक्षभिः। जगृम्भा दूर आदिशं श्लोकमद्रेरध त्मना। अधारयदररिन्दानि सुक्रतुः पुरू सद्मानि सुक्रतुः ॥१०॥

(**होता**) देवों का आह्वान करने वाली यह दैव्य अग्नि (**यक्षत्**) यजन के लिए देवों को संगत करे। (**वनिनः**) सोमरस द्वारा दिव्य शक्तियों का सेवन करने वाले अंग (**वार्यं**) वरणीय सोमरस का (**वन्त**) सेवन करें। (**वेनः**) कान्तिमान् देदीप्यमान् (**बृहस्पतिः**) मस्तिष्कस्थ ज्ञान देवता (**उक्षभिः**) महान् (**पुरुवारेभिः**) बहुत क्षेत्रों को घेरने वाले (**उक्षभिः**) सेचनकारी दिव्य रसों से (**यजति**) यजन करता है। (**अध**) और (**त्मना**) आत्मरूप से (**अद्रेः**) किसी भी आसुरी शक्ति से विदीर्ण न होने वाले बृहस्पति के (**दूर आदिशं**) दूर आदेश वाले (**श्लोकं**) वचन को हम (**जगृम्भ**) ग्रहण करते हैं। (**सुक्रतुः**) उत्तम क्रतु-संकल्प बल वाला व्यक्ति (**अररिन्दानि**) दिव्य धाराओं को (**अधारयत्**) धारण करता है और वह (**सुक्रतुः**) श्रेष्ठ संकल्प वाला व्यक्ति (**पुरू**) बहुत तथा व्यापक (**सद्मानि**) आन्तरिक दिव्य शक्ति के सदनों को धारण करता है।

इस मन्त्र की व्याख्या हमने मस्तिष्क में विद्यमान बृहस्पति शक्ति को मानकर की है। सायणाचार्य ने देवों का आह्वान करने वाली दैव्य अग्नि को होता माना है। यह दैव्य अग्नि मस्तिष्क-सम्बन्धी है और मस्तिष्क में देव केन्द्रों में दिव्य शक्तियों का आह्वान किया गया है। ये दिव्य शक्तियाँ अपने-अपने केन्द्रों में सोमरस का पान कर प्रबुद्ध होती हैं। इन दिव्य शक्तियों का अधिपति बृहस्पति इनका यजन करता है और दिव्य धाराओं से सिंचन करता है जिससे ये शक्तियाँ पुष्पित और पल्लवित हो जायें और (**पुरुवारेभिः**) अनेकों क्षेत्रों में व्यापक हो जायें। अनन्त ऊँचाइयों तथा अनन्त गहराइयों में विद्यमान बृहस्पति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप वाले दूर से आते हुए वचन, कथन, आदेश

आदि को सुनने व ग्रहण करने की शक्ति उन्हें प्राप्त होती है जो यह बृहस्पति यज्ञ करते हैं। श्रेष्ठ संकल्प वाला व्यक्ति दिव्य धाराओं (**अररिन्दानि**) को ग्रहण करने में समर्थ होता है। क्योंकि उपर्युक्त अवस्था के होने पर ज्ञान व शक्ति की दिव्यधाराएं प्रवाहित होने लगती हैं और ऐसे दृढ़ संकल्प वाले व्यक्ति के मस्तिष्क आदि में विद्यमान शक्तियों के सदन प्रकट हो जाते हैं, उनके दिव्य द्वार खुल जाते हैं। यह अररिन्दानि पद चारों वेदों में इसी एक स्थल पर आया है। ब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी यह नहीं आता। अतः इसकी व्युत्पत्ति आदि दुष्कर है। निघ० १.१२ में यह उदक-नामों में पढ़ा है। सायणाचार्य ने इसकी निम्न व्युत्पत्तियाँ प्रदर्शित की हैं।

अररिन्दानि—१. **ररिर्दाता नास्त्यन्यो ररिरस्य (पिपासोपशमनस्य तादृशं पिपासोपशमनं) ददतीत्यररिन्दानि।**

२. **अररिः इतश्चेतश्च गमनम्, औणादिक अरि प्रत्ययः कः प्रत्ययः पृषोदरादित्वात् अभिमतस्वरूपसिद्धिः। तद्ददतीत्यररिन्दानि उदकानि।**

३. **ररि दानम्, न विद्यते तादृशं दानमितरभूतेषु तत् अररि, तद्ददतीत्यररिन्दानि।**

दूर आदिशम्—जो दूर से कहा जा रहा है। यहाँ दूर से भाव अनन्त ऊँचाई व गहराई का लेना चाहिए।

ऋ० मं १ । सू० १९०

ऋषिः **अगस्त्यो मैत्रावरुणिः**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।
गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः ॥१॥

(**अनर्वाणम्**) आध्यात्मिक ज्ञान-बल में अन्यों पर अनाश्रित अहिंसित व पाप-रहित (**वृषभं**) वर्षणशील (**मन्द्रजिह्वं**) मन्द्र आनन्दप्रद तथा गम्भीर घोष वाले (**नव्यं**) स्तुति के योग्य (**बृहस्पतिं**) ज्ञान-विज्ञान के अधिपति आचार्य को (**अर्कैः**) अर्चनीय स्तोत्रों से हे शिष्य ! (**वर्धय**) बढ़ा। (**गाथान्यः**) गाथा=गीति—संगीत के नेता (**सुरुचः**) उत्तम रुचि वाले तथा उत्तम दीप्ति वाले (**देवाः**) देव और (**मर्ताः**) मनुष्य (**नवमानस्य यस्य**) नवन के योग्य अर्थात् स्तुति के योग्य जिस बृहस्पति के सम्बन्ध में (**आशृण्वन्ति**) सर्वत्र सुनाते हैं।

अनर्वाणम्—**अप्रत्यृतोऽन्यस्मिन्—निघ० ६.२३ अगन्तारं स्तोतुरधीनमित्यर्थः।**

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक प्रणीत—निरुक्त सम्मर्श में अनर्वा पद की चार व्युत्पत्तियाँ दी हैं।

गाथान्यः—**ये गाथा नयन्ति। गाथा का गीत व संगीत से सम्बन्ध है।**
गायद् गाथं ऋ० १.१६७.६ तदेतत् गाथयाऽभिगीतम्।

छा० उ० १३.५.४.२१

सा गायत्री गाथयाऽपुनीत। जै० उ० १.१८.२.१ इत्यादि उद्धरणों से स्पष्ट है कि गाथा का गान से सम्बन्ध है।

गायान्यः—**स्तुतिवचसो नेतारः—सायणाचार्य।**
नव्यम्—**णु स्तुतौ।**

तमृत्विया उप वाचः सचन्ते सर्गो न यो देवयतामसर्जि।
बृहस्पतिः स ह्यञ्जो वरांसि विभ्वाभवत् समृते मातरिश्वा ॥२॥

(**तं**) उस बृहस्पति गुरु को (**ऋत्वियाः वाचः**) ऋत्वनुसारी वाणियाँ (**उपसचन्ते**) सम्पर्क करती हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न समय-समय पर आने वाली आध्यात्मिक ऋतुओं में तदनुकूल वाणियाँ प्रादुर्भूत होती रहती हैं। (**यः**) जो बृहस्पति (**सर्गो न**) सृष्टि के आदि सर्ग की तरह (**देवयतां**) अपने देव बनाने की इच्छा वाले शिष्यों का (**असर्जि**) सर्जन करता है। (**स बृहस्पतिः**) वह बृहस्पति (**हि**) निश्चय से (**वरांसि**) श्रेष्ठ तथा वरणीय गुणों व शक्तियों का शिष्यों में (**अञ्जः**) प्रकटीकरण करने वाला है। (**मातरिश्वा**) हृदयरूपी अन्तरिक्ष में प्रवृद्ध होने वाला प्राण (**ऋते**) ऋत तत्त्व में (**विभ्वा समभवत्**) व्यापक हो जाता है।

ऋत्वियाः—**या ऋतूनर्हन्ति ताः। अञ्जः—अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु**
देवयताम्—**आत्मनः देवत्वमिच्छताम्।**
वरांसि—**वराणि वरणीयानि वा। मातरिश्वा—मातरि अन्तरिक्षे श्वयति वर्धते।**

'सर्गो न देवयताम्' मन्त्र-भाग से यह प्रतीत होता है कि सर्ग-सर्जन अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में देव सृष्टि होती है। इसी कारण प्रारम्भिक युग को सत्ययुग कहा जाता है। आध्यात्मिकता की भी ऋतुएं होती हैं जैसी ऋतुएं आती हैं वैसी-वैसी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम वाणियाँ भी प्रादुर्भूत होती जाती हैं। मनुष्य में ऋतु के प्रादुर्भूत होने पर हृदयस्थ मातरिश्वा प्राण भी व्यापक बन जाता है। यह सब उसी देवगुरु बृहस्पति की कृपा से होता है। क्योंकि मनुष्य में जो प्रच्छन्नरूप में निहित है और वरणीय है वह उसी की कृपा से अभिव्यक्त होता है।

उपस्तुतिं नमस उद्यतिं च श्लोकं यंसत् सवितेव प्र बाहू।
अस्य क्रत्वाहन्यो३यो अस्ति मृगो न भीमो अरक्षसस्तुविष्मान् ॥३॥

(**उपस्तुतिं**) शिष्य द्वारा किये जाने वाले उपस्तवन को और (**नमस उद्यतिं च**) नमन के उद्यम को (**श्लोकं**) कीर्ति को वह बृहस्पति आचार्य (**प्रयंसत्**) प्रकृष्ट रूप में नियन्त्रित व प्रेरित करता है। (**इव**) जिस प्रकार (**सविता बाहू**) मस्तिष्क की सवितृ-शक्ति बाहुओं को नियन्त्रित व प्रेरित करती है। (**अरक्षसः अस्य**) हिंसादि दोषों व राक्षसभावों से रहित इस बृहस्पति के (**क्रत्वा**) कर्म व प्रज्ञाबल से (**यः**) जो शिष्य (**अहन्यः अस्ति**) दिन के समान प्रकाशित अथवा ज्ञान व प्रकाश में उत्पन्न होता है [वह दुर्जनों व दुर्भावों के प्रति], (**मृगो न भीमः**) सिंह के समान भयंकर तथा (**तुविष्मान्**) बलवान् होता है।

सविता सबका प्रेरक है। मस्तिष्क में सवितृशक्ति शारीरिक अंगों को प्रेरित करने वाली है। जिस प्रकार इस सवितृ शक्ति की प्रेरणा से बाहुएँ कार्य करती हैं, उसी प्रकार बृहस्पति आचार्य की प्रेरणा से शिष्य में स्तुति तथा नम्रता आदि सद्गुणों का उद्गम होता है।

अहन्यः अहनि भवः। अहन् के कई अर्थ हैं। यह ब्रह्म का भी वाचक है। अहन् के कुछ अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार दिए हैं—अहर्वै मित्रः। ऐ० ४.१०, अहरेव सविता गो० पू० १.३३, अहर्देवाः सूर्यः। श० प० १.१.२.२, अग्निर्वा अहः। श० प० ३.४.४.१५ ब्रह्मणो वा एतद् रूपं यदहः। श० प० १३.१.५.४।

इस प्रकार अहन् के कुछ अर्थ हमने यहाँ प्रदर्शित किए। जो व्यक्ति अहन्य अर्थात् प्रबुद्ध व जागरूक हो जाता है, जिसके लिए निशा व अन्धकार नहीं है वह सत्य-असत्य, श्रेष्ठ व निकृष्ट, सुजन व दुर्जन आदि दैवी-आसुरी शक्तियों का विवेक आसानी से कर सकता है और आसुरी शक्ति के विनाश में सक्षम होता है।

अस्य श्लोको दिवीयते पृथिव्यामत्यो न यंसद् यक्षभृद् विचेताः।
मृगाणां न हेतयो यन्ति चेमा बृहस्पतेरहिमायाँ अभि द्यून् ॥४॥

(**अस्य**) इस बृहस्पति का (**श्लोकः**) यश (**दिवि पृथिव्यां**) द्युलोक और पृथ्वी लोक में (**ईयते**) फैलता है। वह बृहस्पति (**यक्षभृत्**) शिष्य के मनरूपी यक्ष का भरण-पोषण करने वाला (**विचेताः**) विशेष रूप में चिताने वाला (**अत्यो न यंसत्**) शिष्य को गतिशील घोड़े के समान नियन्त्रित करता है, सधाता है। (**मृगाणां हेतयो न**) मृगों का हनन करने वाले अस्त्रों के समान (**बृहस्पतेः इमाः**) बृहस्पति के ये अस्त्र हैं जो कि (**द्यून्**) शिष्य के मस्तिष्करूपी द्युलोक में उत्पन्न (**अहिमायान् अभि**) अहिमायाओं की ओर उन्हें छिन्न-भिन्न करने के लिए (**यन्ति**) जाते हैं।

अहिमायान्—अहेर्मेघस्य माया इव माया प्रज्ञा येषामसुराणां तान्। यद्वा अहेः मायाः कुटिलगतयः, ज्ञानावरणानि वा।

जिस प्रकार सूर्यप्रकाश को रोकने वाले मेघ के आवरणों को सूर्य-किरणें छिन्न-भिन्न कर देती हैं, उसी प्रकार शिष्य के मस्तिष्करूपी द्युलोक में आसुरी कुटिल गतियों व अज्ञानावरणों को बृहस्पति की दिव्यशक्तियाँ छिन्न-भिन्न कर देती हैं।

यक्षभृत्—यक्षं बिभर्ति यः। यक्ष मन को भी कहते हैं। शिवसंकल्प वाले मन्त्र में मन को यक्ष कहा गया है।

अत्यः—अत् सातत्यगमने। शिष्य को भी घोड़े के समान निरन्तर गतिशील व सक्रिय रहना चाहिये। आलसी व सुस्त नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार वेगवान् घोड़े को सधाया जाता है उसी प्रकार एक युवा व्यक्ति को भी नियन्त्रित रखना चाहिये तथा उसे सुघड़ बनाना चाहिये।

ये त्वा देवोस्त्रिकं मन्यमानाः पापा भद्रमुपजीवन्ति पज्राः।
न दूढ्ये३ अनुददासि वामं बृहस्पते चयस इत् पियारुम्॥५॥

(**देव**) हे देव बृहस्पति! (**ये**) जो (**पापाः**) पापी (**पज्राः**) बलवान् व्यक्ति (**त्वा भद्रं**) तुझ भद्रको (**उस्त्रिकं मन्यमानाः**) निर्बल तथा अल्पदुग्धा गौ मानकर (**उपजीवन्ति**) तेरे आश्रय में जीते हैं ऐसे (**दूढ्ये**) दुष्टबुद्धि पुरुष को (**वामं**) वाञ्छनीय ज्ञानरूपी धन (**न अनुददासि**) अनुदान रूप में न दो। और हे बृहस्पति! तुम (**इत्**) निश्चय से (**पियारुं**) ज्ञानरस के पिपासु को (**चयसे**) चुनते हो अथवा (**पियारुं**) हिंसक व्यक्ति को (**चयसे**) विनष्ट करते हो।

उस्त्रिकम्—उस्त्रियेति गो-नाम। कुत्सितामल्पक्षीरोत्स्राविणीं गां जीर्णमनड्वाहं वा—सायणाचार्य। य उस्राभिः गोभिश्चरति तम्—स्वामी दयानन्द।

पज्राः—बलवन्तः।

दूढ्ये—दुर्धिये।

चयसे—चि चये, चयसे चातयसि (निघ० ४.२५)।

इस मन्त्र से यह ध्वनित होता है कि शिक्षणालयों में पापबुद्धि, धूर्त तथा दुराचारी विद्यार्थियों का विनम्र शासनप्रिय सरल प्रकृति के विद्यार्थियों पर शासन हो जाता है। मन्त्र कहता है कि आचार्य को इतना सबल होना चाहिये कि ऐसे दुष्ट व्यक्ति अन्यों पर हावी न होने पावें।

सुप्रैतुः सूयवसो न पन्था दुर्नियन्तुः परिप्रीतो न मित्रः।
अनर्वाणो अभि ये चक्षते नोऽपीवृता अपोर्णुवन्तो अस्थुः॥६॥

हे बृहस्पति! तुम शिष्य के लिये (**सुप्रैतुः**) शोभन तथा प्रकृष्ट गति तथा (**सूयवसः**) श्रेष्ठ अन्नवाले पथिक के (**पन्था न**) मार्ग के तुल्य हो। (**दुर्नियन्तुः**) अपनी

इन्द्रिय आदियों को नियन्त्रित कर सकने में असमर्थ शिष्य के लिये (**परिप्रीतः**) प्रीतिपूर्वक व्यवहार करने वाले (**मित्रः न**) मित्र के सदृश हो। (**अनर्वाणः**) अहिंसनीय पापरहित स्वाश्रयी (**ये**) जो गुरुजन (**नः अभिचक्षते**) हमारी देख-रेख करते हैं वे (**अपीवृताः**) गुह्य हृदयप्रदेश में रहने के कारण प्रच्छन्न होते हुए भी (**अपोर्णुवन्तः अस्थुः**) हम शिष्यों के प्रति खुले हुए हैं।

सुप्रैतुः=सु+प्र+इण् गतौ—सुष्ठु विद्योपेतस्य,—स्वामी दयानन्द
सुष्ठु गन्तुः,—सायणाचार्य।

दुर्नियन्तुः—दुःखेन नियमितुः।

अपीवृताः—आच्छादिताः, गुह्यहृदयप्रदेशे प्रच्छन्नाः।

जिस प्रकार खूब चलने वाला पथिक मार्ग में बुभुक्षा के शमन के लिये कुछ अन्न साथ में रख लेता है और आसानी से अपना मार्ग तै कर लेता है, उसी भाँति ज्ञानमार्ग पर चलने वाले शिष्य के लिये बृहस्पति आचार्य एक पन्था के समान हैं, अर्थात् शिष्य, बृहस्पति आचार्य को देखता है और यह निश्चय करता है कि बृहस्पतित्व तक पहुँचना है। बृहस्पति के उपदेश उसके पाथेय हैं। वह उसका पन्था होता हुआ भी शोभनमार्गद्रष्टा भी हैं। अन्य गुरुजन भी अपने हृदय-गुहा में सततरूप में विद्यमान रहते हुए भी सुशिष्य के प्रति सदा खुले रहते हैं। इस मन्त्र से यह ध्वनित होता है कि गुरुजनों को योगाभ्यास भी करते रहना चाहिये।

सं यं स्तुभोऽवनयो न यन्ति समुद्रं न स्रवतो रोधचक्राः।
स विद्वाँ उभयं चष्टे अन्तर्बृहस्पतिस्तर आपश्च गृध्रः॥७॥

(**अवनयः न**) जिस प्रकार अंगुलियाँ किसी पदार्थ को थामने के लिये (**सं यन्ति**) मिलकर जाती हैं और (**न**) जिस प्रकार (**रोधचक्राः**) अवरोध तथा चक्र=भंवर वाली (**स्रवतः**) नदियाँ मिलकर (**समुद्रं**) समुद्र में गिरती हैं उसी प्रकार (**स्तुभः**) स्तुभनामक ये स्तुतियाँ स्तुत्य देव को मिलकर थामती हैं। ऐसे स्तुभनामक स्तुति वाले व्यक्ति को (**विद्वान् बृहस्पतिः**)विद्वान् बृहस्पति आचार्य (**गृध्रः**) संसार सागर से पार पहुँचाने की इच्छा वाला होकर (**अन्तः**) अपने अन्दर हृदय गुहा में बैठ शिष्य के (**तरः आपश्च**) तरणसाधन नौका तथा व्यापक जल (**उभयं**) दोनों को (**चष्टे**) देख लेता है।

रोधचक्राः—रोधचक्राः नदी-नाम। निघ० १.१३
रोधाश्चक्राणि च यासु ताः नद्यः—स्वामी दयानन्द

ऐसी नदियाँ जिनमें बीच-बीच में अवरोध बने होते हैं तथा चक्र अर्थात् भंवर बनती रहती हैं। यहाँ स्तुति-प्रसंग में ये दोनों भाव दृष्टिगोचर होते हैं। स्तुति-प्रवाह के मार्ग में भी अनेकों अवरोध तथा गुमराह करने वाली भंवरें आ जाती हैं। सम्भवतः ये योगज सिद्धियों के रूप में भी हो सकती हैं। जिनके प्रभाव में आकर एक योगी व विज्ञानी पुरुष सीधे मार्ग से भटक जाता है या वहीं रुक जाता है। दूसरी दृष्टि से शिष्य के लिये

भी गुरु के प्रति भक्ति व स्तुति में कई अवरोध व गुमराहें पैदा हो जाती हैं, परन्तु विद्वान् बृहस्पति शिष्य के अन्दर बैठकर उसकी सामर्थ्य व उसके तैरने योग्य वासनादि जल-प्रवाह को सम्यक् प्रकार से देख लेता है। इसका अन्य भी तात्पर्य हो सकता है।

अवनयः—अवनयोऽङ्गुलयो भवन्त्यवन्ति कर्माणि। नि० ३.९। अवनि अर्थात् अंगुलि का उदाहरण यह दर्शाने के लिये है कि जिस प्रकार अंगुलियों की मिलकर पकड़ होती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न स्तुतियों की पकड़ दृढ़ होनी चाहिये, सबका ध्येय व पकड़ एक ही हो।

एवा महस्तुविजातस्तुविष्मान् बृहस्पतिर्वृषभो धायि देवः।
स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद् विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥८॥

(**एवा**) इस प्रकार स्तुभ नामक स्तुति से वह (**महः**) महान् (**तुविजातः**) बहुत रूप में उत्पन्न तथा (**तुविष्मान्**) बलवान् (**वृषभः**) ज्ञानरस की वर्षा करने वाला वह (**देवः**) दिव्य गुणयुक्त बृहस्पति (**धायि**) धारण किया जाता है (**स स्तुतः**) वह स्तुति किया गया बृहस्पति (**नः**) हमें (**जीरदानुं**) जीवनदाता या क्षिप्रदाता (**वीरवत्**) वीर पुत्रों वाले तथा (**गोमत**) गौ आदि पशुओं वाले ऐश्वर्य को (**धातु**) धारण करावे।

तुविजातः—बहुजातः। नि० १२.३६, बहुषु प्रसिद्धः। तुविरिति बहुनाम। निघ० ३.१।
जीरदानुम्—जीराः क्षिप्रनाम। निघ० २.१५।
यो जीवनं ददाति तं।

जो व्यक्ति भगवान् के बार्हस्पत्य रूप की आराधना करता है अथवा बृहस्पतितत्त्व को अपने में उद्बुद्ध करता है उसे गौ आदि पशु, वीरपुत्र, नानाविध ऐश्वर्य प्राप्त होता है और वह बृहस्पति के समान ज्ञानी बनता है। एवं राष्ट्र में बृहस्पति आचार्य की मानप्रतिष्ठा हो तो वह राष्ट्र सर्वगुणसम्पन्न होता है, उस देश के छात्र अनुशासित रहते हैं।

ऋ० मं० २। सू० २३

ऋषिः गृत्समदः (आङ्गिरसः शौनहोत्रः पश्चाद्। भार्गवः शौनकः)।
देवता बृहस्पतिः १,५-९, ११, १७, १९ ब्रह्मणस्पतिः। छन्दः जगती १५, १९ त्रिष्टुप्।

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् ॥१॥

(गणानां गणपतिं) गणों के स्वामी **(कवीनां कविं)** क्रान्तदर्शियों में श्रेष्ठ **(उपमश्रवस्तमं)** उपमेय पुरुषों में सर्वोत्तम अथवा श्रुत में उपमेय व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ **(ब्रह्मणां ज्येष्ठराजम्)** ब्राह्मणों के ज्येष्ठ राजा **(त्वा)** तुझको **(हवामहे)** हम आह्वान करते हैं। हे **(ब्रह्मणस्पते)** ब्रह्मशक्ति के स्वामिन् **(नः शृण्वन्)** हमारी प्रार्थना सुनो और **(ऊतिभिः)** रक्षा साधनों द्वारा **(सादनं सीद)** विद्या की गद्दी पर आसीन हो जाओ।

कविं—क्रान्तदर्शी को कहते हैं।

कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवते र्वा। निरुक्त १२-२-१२।

कवतेः गतिकर्मा। निघ० २.१४।

वेदों में कवि शब्द पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त होता है और वह क्रान्तदर्शित्व अर्थात् परोक्ष वस्तुओं का दर्शन करने वाला तथा परोक्ष व सूक्ष्मतम सत्य व मन्त्र का श्रवण करने वाला होता है।

कवीनां कविम्—यह प्रयोग क्रान्तदर्शिता व सूक्ष्मदर्शिता की पराकाष्ठा को द्योतित करता है।

ज्येष्ठराजं ब्रह्मणाम्—इससे ध्वनित होता है कि ब्राह्मणों का सर्वोच्च अधिकारी ब्रह्मणस्पति व बृहस्पति कहलाता है। जो ब्रह्मशक्ति में सर्वोच्च होगा वही इस पद को प्राप्त कर सकता है।

उपमश्रवस्तमम्—येषां श्रुतेन अन्यस्य श्रुतमुपमीयते ते उपमश्रवस : तानपि अयमतिशेते। वेङ्कट।

उपमीयते येन तच्छ्रवस्तदतिशयितम्। स्वामी दयानन्द।

वेद विद्या में उपमेय तथा पारङ्गत।

देवाश्चित् ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः।
उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि ॥२॥

हे **(असुर्य)** प्राणों के हितकारी, दुष्टों व दोषों के विनाशक अथवा बुद्धिमानों में साधु **(बृहस्पते)** बृहस्पति ! **(देवाः चित्)** देवता व विद्वान् लोग भी **(ते प्रचेतसः)** तुझ प्रकृष्ट रूप से चिताने वाले अथवा प्रकृष्ट ज्ञान वाले के **(यज्ञियं भागं)** यज्ञिय भाग [शिक्षा व ज्ञान] को **(आनशुः)** प्राप्त करते हैं। **(सूर्यः उस्रा इव)** सूर्य जिस प्रकार किरणों को पैदा करता है उसी प्रकार हे बृहस्पति तू **(महः)** महान् **(ज्योतिषा)** अपनी दिव्य ज्योति से **(विश्वेषां इत् ब्रह्मणां)** सम्पूर्ण ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञानों का **(जनिता असि)** उत्पादक है।

असुर्य—असुभ्यः प्राणेभ्यो हितस्तत्सम्बुद्धौ। स्वामी दयानन्द। असुराणां हन्तः। वेङ्कट, सायणाचार्य। असुरत्वमेकं प्रज्ञावत्वं वा अनवत्वं वा। असुरिति प्रज्ञानाम, अस्यत्यनर्थान् (दुष्टान्) निरु० १०.१४। असुर्य शब्द की एक व्युत्पत्ति स्वामी दयानन्द ने यह भी दी है 'असुरेषु प्रवासरहितेषु साधो'। इस व्युत्पत्ति के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बृहस्पति आचार्य व गुरुवर्ग को प्रवास में अधिक दिन नहीं रहना

चाहिए। क्योंकि इससे अध्ययन व अध्यापन में बाधा होती है। 'सीद सादनम्' आदि वाक्यों से भी यही तथ्य ध्वनित होता है।

प्रचेतसः—प्रचेतयिता—प्रकृष्ट रूप से चिताने वाला, जगाने वाला यह बृहस्पति सोतों को जगाता है, दोषों, दुष्टों व व्याधि आदि से सावधान करता रहता है। आधुनिक शिक्षा में शिष्यों को बुराई व व्याधि आदि से दूर रहने के लिए कोई प्रावधान नहीं है।

इस मन्त्र में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि देवता लोग इस बृहस्पति के शिक्षा-सत्र रूपी यज्ञिय भाग से लाभ उठाते रहते हैं। जिस प्रकार सूर्य से किरणें प्रसृत होती हैं उसी प्रकार बृहस्पति से ब्रह्मशक्ति चहुँ ओर फैलती है।

विबाध्या परिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्तं रथमृतस्य तिष्ठसि।
बृहस्पते भीमममित्रदम्भनं रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम्॥३॥

(**परिरापः**) चहुँ ओर के निन्दकों व पाप कर्मों को और (**तमांसि च**) अज्ञानान्धकारों को (**विबाध्य**) दूर करके (**बृहस्पते**) हे बृहस्पति ! तू (**भीमं**) भयंकर (**अमित्रदम्भनं**) शत्रुओं के हिंसक (**रक्षोहणं**) राक्षसों के हन्ता (**गोत्रभिदं**) अज्ञानावरण के भेदक (**स्वर्विदम्**) स्वः रूपी ज्ञान को प्राप्त कराने वाले (**ऋतस्य**) ऋत के (**ज्योतिष्मन्तं**) ज्योतिष्मान् (**रथं आतिष्ठसि**) रथ पर विराजमान है।

विबाध्य—निः सार्य। स्वामी दयानन्द।

परिरापः—परितो रपः रक्षः। वेंकट। सर्वतः पापात्मकं कर्म। स्वामी दयानन्द।
परितो रपः पापरूपं रक्षः, यद्वा रप लप व्यक्तायां वाचि, परि वदतो निन्दकान्।

इस मन्त्र में दर्शाया गया है कि बृहस्पति ऋत के रथ पर आरूढ़ होता है। ऋत एक ज्योतिष्मान्, गतिमय सत्यमय एक सूक्ष्मतत्त्व है। ऐसे ज्योतिर्मय ऋतात्मक तत्त्व से समावृत व उस पर आरूढ़ व्यक्ति के समक्ष कोई परोक्ष व अन्धकार नहीं रह सकता।

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत् ते महित्वनम्॥४॥

हे बृहस्पति ! (**यः तुभ्यं दाशात्**) जो तुझे आत्मसमर्पण कर देता है (**तं जनं**) उस मनुष्य को तू (**सुनीतिभिः नयसि**) उत्तम व श्रेष्ठ मार्गों से ले चलता है। (**त्रायसे**) रक्षा करता है और (**तं अंहः न अश्नवत्**) उसे कोई पाप नहीं लगता। हे बृहस्पति ! तुम (**ब्रह्मद्विषः**) ब्रह्मद्वेषी को (**तपनः**) तपाने वाले हो (**मन्युमीः असि**) मन्यु को पैदा करने वाले हो। हे बृहस्पति ! (**तत् ते**) वह तेरी (**महित्वनम्**) महिमा व महत्ता है।

मन्युमीः—यो मन्युं मिनोति मीनाति (हिनस्ति-वा) सः। स्वामी दयानन्द।
मन्योश्च कर्त्ता भवसि। वेंकट।

इस स्थान पर सायणाचार्य की निम्न व्युत्पत्ति विचाराधीन है—

परेषां ज्ञानस्य वा हिंसको मन्योः क्रोधस्य परेषां ज्ञानस्य वा हिंसकोऽसि मीङ् हिंसायाम् । सायणाचार्य ।

ब्रह्मद्वेषी को समाप्त करने के लिए मन्यु की आवश्यकता है। परमात्मा से मन्यु की प्रार्थना भी की गई है। "ओ३म् मन्युरसि मन्युं मयि धेहि" अतः मनुष्य को मन्यु धारण करना चाहिए, क्रोध नहीं। मन्यु और क्रोध में भेद है। प्रमुख भेद यह है कि मन्यु में बुद्धि का विलोप व सम्मोह नहीं होता पर क्रोध में होता है। इस मन्त्र में बृहस्पति के प्रति आत्म-समर्पण की महत्ता दर्शायी गई है।

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो विबाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ॥५॥

हे ब्रह्मणस्पते ! (**सुगोपाः**) उत्तम रक्षक तुम (**यं**) जिस व्यक्ति की (**रक्षसि**) रक्षा करते हो (**तं**) उसको (**कुतश्चन**) कहीं से भी (**न अंहः**) न तो पाप और (**न दुरितं**) नाहीं दुष्टाचरणादि पीड़ित करते हैं। उस व्यक्ति को (**न अरातयः**) न तो अराति और (**न द्वयाविनः**) न द्विविध आचरण वाले द्विजिह्व व्यक्ति (**तितिरुः**) पार कर सकते हैं (**अस्मात्**) उस व्यक्ति से (**विश्वा इत् ध्वरसः**) समग्र हिंसाओं या हिंसकों को तुम (**विबाधसे**) दूर करते हो।

द्वयाविनः—उभयपक्षाश्रिताः । स्वामी दयानन्द ।
सत्यानृतयुक्ताः । वेंकट ।
वञ्चकाः । सायणाचार्य ।

विबाधसे—निवारयसि ।

ध्वरसः—ध्वरति हिंसाकर्मा । नि० १.३.८ ।

इस मन्त्र में ब्रह्मणस्पति द्वारा अपने शिष्य व भक्त की की गई रक्षा का विधान है। ब्रह्मणस्पति द्वारा रक्षित व्यक्ति को पाप, दुरित, शत्रु व वञ्चक आदि में से कोई भी आक्रान्त नहीं कर सकता।

त्वं नो गोपाः पथिकृद् विचक्षणस्तव व्रताय मतिभिर्जरामहे।
बृहस्पते यो नो अभि ह्वरो दधे स्वा तं मर्मर्तु दुच्छुना हरस्वती ॥६॥

हे बृहस्पति ! (**त्वं नः गोपाः**) तुम हमारे रक्षक हो (**पथिकृत्**) मार्ग-निर्माता हो (**विचक्षणः**) हम पर सदा दृष्टि रखने वाले हो। (**तव व्रताय**) तुमसे निर्दिष्ट व्रत के लिए हम (**मतिभिः**) बुद्धियों द्वारा (**जरामहे**) स्तुति करते हैं। हे बृहस्पति ! (**यः**) जो (**नः अभि**) हमारे प्रति (**ह्वरः**) क्रोध व कुटिलता (**दधे**) रखता है (**तं**) उसको (**स्वा**) उसकी अपनी (**हरस्वती**) हर लेने वाली (**दुच्छुना**) दुर्बुद्धि (**मर्मर्तु**) बार-बार मारे।

दुच्छुना—दुर्बुद्धिः । सायणाचार्य । अबुद्धि—वेंकट ।
दुष्टेन शुनेव । स्वामी दयानन्द ।

ह्वरः—ह्वृ कौटिल्ये ।

हरस्वती—तेजोविशेषं हरः, येनान्यं हरति । वेंकट ।

जरामहे—जरतिः स्तुतिकर्मा । मर्मर्तु मृङ् प्राण त्यागे ।

आचार्य शिष्यों का मार्गद्रष्टा व मार्गनिर्माता होता है । वह सदा उन पर दृष्टि रखता है । श्रेष्ठ शिष्य आचार्य के द्वारा निर्दिष्ट व्रतों के प्रति केवल ऊपरी प्रशंसा के भाव ही नहीं रखता अपितु बुद्धि से तोलकर सही मानता है, प्रशंसा करता है और पालन करता है ।

इस मन्त्र में प्रतिपादित किया गया है कि दुष्ट बुद्धि व कुटिल शिष्य की अपनी बुद्धि ही उसे मारती है ।

उत वा यो नो मर्चयादनागसो ऽरातीवा मर्तः सानुको वृकः ।
बृहस्पते अप तं वर्तया पथः सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि ।।७।।

(**उत**) और (**यः**) जो (**अरातीवा**) अदानशील (**मर्तः**) मरणधर्मा (**सानुकः**) उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित (**वृकः**) भेड़िए तुल्य व्यक्ति (**नः अनागसः**) हम निष्पापियों की (**मर्चयात्**) हिंसा करता है । हे बृहस्पते ! (**तं**) उसको (**पथः**) हमारे मार्ग से (**अपवर्तय**) हटा दे और (**नः**) हमें (**अस्यै देववीतये**) इस देववीति अर्थात् दिव्यता की प्राप्ति के लिए हमारे (**सुगं कृधि**) मार्ग को सुगम बना दे ।

मर्चयात्—मर्चयति हिंसाकर्मा हिंस्यात् । सायणाचार्य ।

सानुकः—समुच्छ्रितः । सानु समुच्छ्रितम् । नि० २.२४

वृकः—यो वृश्चति छिनत्ति सः स्तेन नाम । नि० ३.२४

अरातीवा—यो अरातीन् शत्रून् वनति संभजति । स्वामी दयानन्द ।

इस मन्त्र में अराति अदान भाव को अधिक द्योतित करता है । जो विद्यार्थी व शिक्षक आचार्य के प्रति पूर्ण समर्पण नहीं करते हैं, अपने को प्रच्छन्न रूप में रखकर भेड़िये के तुल्य व्यवहार करते हैं और अपने सहपाठियों को डराते धमकाते हैं व बरगलाते हैं ऐसों के लिए दिव्यज्ञान के मार्ग को प्रशस्त करना उपयुक्त नहीं है । (**देववीति**) दिव्यता की प्राप्ति को कहते हैं इस देवत्व-प्राप्ति के मार्ग में अनागस अर्थात् निष्पाप व्यक्ति ही चल सकता है ।

'सानुको वृकः' का भाव यह भी हो सकता है कि अधिकार के उच्च शिखर पर विराजमान तथा भेड़िए के समान व्यवहार करने वाला एक अधिकारी ।

त्रातारं त्वा तनूनां हवामहे ऽवस्पर्तरधिवक्तारमस्मयुम् ।
बृहस्पते देवनिदो निबर्हय मा दुरेवा उत्तरं सुम्नमुन्नशन् ।।८।।

(**अवस्पर्तः**) रक्षा द्वारा आपत्तियों से पार लगाने वाले हे बृहस्पति ! (**तनूनां त्रातारं**) शरीरों के रक्षक (**अधिवक्तारं**) उपदेष्टा और (**अस्मयुं**) हमें चाहने वाले तुमको हम (**हवामहे**) बुलाते हैं । हे बृहस्पति ! तुम (**देवनिदः**) देवों की निन्दा करने वालों को (**निबर्हय**) पूर्ण रूप से नष्ट कर दो (**दुरेवाः**) दुष्टाचरण वाले (**उत्तरं**) उत्कृष्ट (**सुम्नं**) सुख को (**मा**) मत (**उन्नशन्**) प्राप्त होवें ।

अवस्पर्तः—अवसा रक्षणेन दुःखात् पारकर्तः । स्वामी दयानन्द । उपद्रवेभ्यः पारयितः यद्वा अवसा रक्षणेनापद्भ्यः पारयितः । सायणाचार्य । अविहिंसितः—वेंकट ।

अस्मयुम्—अस्मान् कामयमानम् । स्वामी दयानन्द ।

देवनिदः—देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा निन्दन्ति तान् । स्वामी दयानन्द ।

उत् + नशन्—नशन्—नाशयेयुः, नश्यन्तु आप्नुवन्ति । स्वामी दयानन्द ।

'तनूनां त्रातारं' में बहुवचन इस बात का द्योतक है कि बृहस्पति शिष्य के स्थूल, सूक्ष्म आदि अनेकों शरीरों का रक्षक होता है ।

अस्मयुम्—गुरु ऐसे होने चाहिएँ जो शिष्यों को चाहने वाले हैं । उनसे दूर न भागें । देवनिन्दक तथा दुराचारी व्यक्तियों को संरक्षण नहीं देना चाहिए ।

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि ।
या नो दूरे तडितो या अरातयो ऽभि सन्ति जम्भया ता अनप्नसः ॥६॥

हे ब्रह्मणस्पते ! (**सुवृधा त्वया**) उत्तम प्रकार से शिष्यों की वृद्धि करने वाले तुझसे (**वयं मनुष्याः**) हम मनुष्य (**स्पार्हा वसु**) वाञ्छनीय विज्ञानादि ऐश्वर्य (**आददीमहि**) ग्रहण करते हैं । (**या नः अरातयः**) जो हमारे अदानभाव या शत्रु (**दूरे**) अभी दूर हैं और (**याः तडितः सन्ति**) जो समीप हैं अथवा दूर होते हुए भी तडित बिजली की तरह आक्रमण करते प्रतीत हो रहे हैं । (**ता अनप्नसः**) उन अकर्मण्य व अरूपी जनों को (**अभिजम्भय**) विनष्ट कर दे ।

मनुष्याः—मनुष्याः । स्वामी दयानन्द । मनुष्येभ्यः इति यास्कः । सुपां सुलुक् चतुर्थी बहुवचनस्याकारः ।

सुवृधा—यः सुष्ठु वर्धयति तेन ।

तडितः—अन्तिके यास्कः । विद्युतः स्वामी दयानन्दः ।
अन्तिकस्थाः, हिंसका वा तडितः ताडयन्ति इति । वेंकट ।

अनप्नसः—अविद्यमानमप्नः कर्म यासां ताः क्रियाः । स्वामी दयानन्द । अनप्नसः अप्न इति रूपनाम । आप्नोतीति सतः । नि० ३.११ । अकर्मणो वा । वेंकट

त्वया वयमुत्तमं धीमहे वयो बृहस्पते पप्रिणा सस्निना युजा ।
मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुरीशत प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि ।।१०।।

हे बृहस्पते ! (**पप्रिणा**) सब विद्या-विज्ञानों से परिपूर्ण या पालनशील (**सस्निना**) शुद्ध व पवित्र (**युजा**) योगयुक्त अथवा सहायक (**त्वया**) तुझसे (**वयं**) हम (**उत्तमं वयः**) उत्तम जीवन व उत्तम आयु को (**धीमहे**) धारण करें। (**नः**) हम पर (**दुःशंसः**) दुष्कीर्ति व दुष्ट शासन वाला अथवा दुष्ट बातों का प्रशंसक (**अभिदिप्सुः**) अभिभव करने की इच्छा वाला व्यक्ति (**मा ईशत**) स्वामित्व न कर सके (**सुशंसा**) शोभनकीर्ति व शोभन बातों के प्रशंसक होकर हम (**मतिभिः**) बुद्धियों से (**प्रतारिषीमहि**) सब विद्या-विज्ञानों को तर जायें।

पप्रिणा—पॄ पालनपूरणयोः ।
सस्निना—ष्णा शौचे, ष्णा वेष्टने ।
दुःशंसः--दुष्टः शंसो यस्य सः, दुष्टः शंसः शासनं यस्यः सः ।
अभिदिप्सुः—अभिदम्भितुमिच्छुः ।

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः ।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद्दमिता वीडुहर्षिणः ।।११।।

हे ब्रह्मणस्पते ! तुम (**अनानुदः**) पीछे न देने वाले (**वृषभः**) ज्ञान-विज्ञानों की वर्षा करने वाले (**आहवं जग्मिः**) युद्ध में पहुँचने वाले (**शत्रुं निष्टप्ता**) शत्रु को तपाने वाले (**पृतनासु सासहिः**) वीर पुरुषों में सहनशील (**सत्यः**) सत्यरूप (**ऋणया**) ऋणों को उतारने वाले तुम (**वीडुहर्षिणः**) बल के अभिमान में फूले न समाने वाले (**उग्रस्य चित्**) उग्र पुरुष के भी (**दमिता असि**) दमन करने वाले हो।

अनानुदः— अनु पश्चात् ददातीति अनुदः स नास्ति यस्य सः । प्रभूत धनदानेन समानः नास्तीत्यर्थः ।
दात्रन्तरशून्यः । सायणाचार्य ।
सकृदेव दाता—वेंकट ।

येऽनुददति ते अनुदा न विद्यन्ते अनुदा यस्य सः । स्वामी दयानन्द । जिसके भक्त व शिष्य पीछे नहीं देने वाले हैं। जो देना है वह पहले ही दे दिया किसी के पीछे या देखा देखी नहीं देते। स्वयं बृहस्पति तथा उसके शिष्य दोनों ही अनानुद हैं।

आहवं—बृहस्पति का युद्ध क्षत्रियों का वाह्य युद्ध नहीं है। यह आन्तरिक युद्ध है। जीवन-निर्माण का युद्ध है। शत्रु भी आन्तरिक हैं।

ऋणया—ऋणस्य यावयिता, जन्म लेते ही मनुष्य पर जो तीन ऋण चढ़ जाते हैं, उनको उतारने में बृहस्पति सहायक होता है।

वीडुहर्षिणः—बलेन वहु हर्षो विद्यते यस्य तस्य । स्वामी दयानन्द । वीडुहर्षी वल के कारण अभिमानी पुरुष का यह ब्रह्मणस्पति दमन करने वाला होता है।

निष्टप्ता शत्रुं —यह आन्तरिक शत्रु तपस्या से तपता है, कायिक वाचिक तथा मानसिक ये तीनों तपस्याएं आवश्यक हैं।

अदेवेन मनसा यो रिषण्यति शासामुग्रो मन्यमानो जिघांसति।
बृहस्पते मा प्रणक् तस्य नो वधो निकर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः ॥१२॥

हे बृहस्पति ! जो (**अदेवेन मनसा**) अदिव्य, अशुद्ध व आसुर मन से हमारी (**रिषण्यति**) हिंसा करता है (**शासां**) शासन करने वालों में (**उग्रः मन्यमानः**) अपने को उग्र समझता हुआ (**जिघांसति**) मारना चाहता है। हे बृहस्पति (**तस्य वधः**) उसका शस्त्र (**नः**) हमें (**मा प्रणक्**) नष्ट न करे। (**दुरेवस्य**) दुष्ट गति वाले (**शर्धतः**) बलवान् के (**मन्युं**) क्रोध का हम (**नि कर्म**) निराकरण कर दें।

रिषण्यति—रिष रुष हिंसायाम्।

प्रणक्—प्रननाश प्रणाशयेत्।

दुरेवस्य —यः दुष्टं एति तस्य।

वधः—वध्यन्ते शत्रवो यस्मातच्छस्त्वम्।

शर्धतः—शर्धः बलनाम। निघ० २.९ बलवतः।

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि बृहस्पति के शिष्यों में 'देव-मन' कार्य करता है। हम सामान्य जनों में 'अदेव मन' ही सर्व क्रियाकलापों को किया करता है। क्योंकि हमारा देव-मन उद्घाटित नहीं हुआ होता।

भरेषु हव्यो नमसोपसद्यो गन्ता वाजेषु सनिता धनन्धनम्।
विश्वा इदर्यो अभिदिप्स्वो३मृधो बृहस्पति र्विवर्हा रथाँ इव ॥१३॥

वह बृहस्पति (**भरेषु**) भरण-पोषण के अवसरों पर या सङ्ग्रमों में (**हव्यः**) आह्वान के योग्य है। (**नमसा उपसद्यः**) नमन द्वारा प्रापणीय है। (**वाजेषु गन्ता**) वाज-सम्बन्धी कार्यों में वह पहुँचने वाला है। (**धनं धनं सनिता**) प्रत्येक प्रकार के धन का वह प्रदाता है। (**अर्यः**) श्रेष्ठ वह बृहस्पति (**विश्वा इत् मृधः**) सब ही पापों को (**अभिदिप्स्वाः**) दबा देने व नष्ट करने के इच्छुक शक्तियों, शिष्यों व भक्तों को (**रथान् इव**) रथों के समान व रथारूढ़ों के समान (**विवर्ह**) विशेष रूप में उठाए हुए हैं।

भरेषु—भरण-पोषण के कार्यों व अवसरों पर अथवा भर इति संग्रामनाम भरतेर्वा हरतेर्वा। नि० ४.३३। संग्राम में भी भरण तथा हरण ये दोनों बातें होती हैं। शत्रुओं व पापों को नष्ट किया जाता है और इनके ऐश्वर्यों से अपने को भरा जाता है। शरीर के क्षेत्र में तो यह दोनों बातें बहुत अच्छी प्रकार घटती हैं।

धनम्—यहाँ बृहस्पति के क्षेत्र में धन शब्द आध्यात्मिक धन का वाचक है। वैसे भी शास्त्रों में सुवर्ण आदि धन को सबसे निचला दर्जा दिया गया है। कहा भी है, 'तस्माद्धिरण्यं कनिष्ठं धनानाम्। तै० ब्रा० ३.११.८.७। धिनोतीति सतः नि० ३.६।

मृधः—पाप्मा वै मृधः । श० प० ६.३.३.८
अग्ने त्वं तरा मृधः इत्यग्ने त्वं तर् सर्वान् पाप्मन इत्येतत् ।
श० प० ६.६.३.४

तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम् ।
आविस्तत्कृष्व यदसत्त उक्थ्यं बृहस्पते विपरिरापो अर्दय ॥१४॥

हे बृहस्पति ! (**ये रक्षसः**) जो राक्षस अर्थात् दुष्ट हिंसक (**दृष्टवीर्यं त्वा**) देख लिया है पराक्रम जिसका ऐसे तुझको (**निदे**) निन्दा के लिए (**दधिरे**) रखते हैं अर्थात् तेरी निन्दा करते हैं उन राक्षसों को (**तेजिष्ठया तपनी**) अतितीक्ष्ण तपनी से (**तप**) तपा । और हे बृहस्पति ! (**यत्**) जो (**ते उक्थ्यं**) तेरा उत्थान का साधन (**असत्**) अभी तक प्रकट नहीं था (**तत्**) उसे तू (**आविकृष्व**) प्रकट कर और (**परि रापः**) सब ओर से पापी व्यक्तियों को (**वि अर्दय**) विनष्ट कर दे ।

परिरापः—परितः रपः पापं यस्य तम् ।
अर्दय—अर्द हिंसायाम् (चुरादि) ।

जो पुरुष ब्रह्मणस्पति के आध्यात्मिक बल को देख चुके हैं, अनुभव कर चुके हैं, वे कोई और चारा न होने से निन्दा करते-फिरते हैं, उनके लिए मन्त्र में ब्रह्मणस्पति से यह प्रार्थना की गई कि तुम्हारी अति तीक्ष्ण तपनी से वे तपाए जावें और जो असत्य बात व असत्याचरण प्रच्छन्न रूप में उनमें निहित है उसे ब्रह्मणस्पति प्रकट कर देवे, अथवा अपना आन्तरिक बल व सामर्थ्य जो अभी तक प्रकट नहीं था उसे ब्रह्मणस्पति प्रकट कर देवे जिससे शत्रु विनाश को प्राप्त हों ।

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु ।
यद् दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ॥१५॥

हे बृहस्पति ! (**अर्यः**) श्रेष्ठ व्यक्ति (**यत्**) जब (**अर्हात्**) योग्य हो जाता है तब वह (**जनेषु**) मनुष्यों में (**द्युमत्**) दीप्तियुक्त तथा (**क्रतुमत्**) संकल्प व कर्मकुशल के रूप में (**अति विभाति**) अन्यों को अतिक्रमण करके चमकता है । (**ऋतप्रजात**) हे ऋत से उत्पन्न बृहस्पति (**यत्**) जो तेज (**शवसा**) बल से (**दीदयत्**) चमकता है (**तद्**) वह (**चित्रं द्रविणं**) अद्भुत धन (**अस्मासु धेहि**) हमारे में धारण करा ।

इस मन्त्र की ऐ० ब्राह्मण ४।११ में निम्न व्याख्या की है ।

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हादित्येतया परिदध्यात्तेजस्कामो ब्रह्मवर्चसकामोऽतीव वान्यान् ब्रह्मवर्चसमर्हति द्युमदिति द्युमदिव ऋतप्रजातेति दीदायेव वै ब्रह्मवर्चसं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रमिति चित्रमिव वै ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मवर्चसी ब्रह्मयशसी भवति ।

उपर्युक्त मन्त्र द्वारा यज्ञ करने, ध्यान व जप आदि करने वाला व्यक्ति अन्य समकक्ष व्यक्तियों को अतिक्रमण कर ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति करता है । वह ऋतोत्पन्न

व्यक्ति ब्रह्मतेज से देदीप्यमान होता है, ब्रह्मवर्चस्-ब्रह्मतेज ही एक अद्भुत मन्त्र है। वह ब्रह्मवर्चस्वी और ब्रह्मतेज के कारण यशस्वी बन जाता है।

मा नः स्तनेभ्यो ये अभिद्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः।
आ देवानामोहते वि व्रयो हृदि बृहस्पते न परः साम्नो विदुः ॥१६॥

हे बृहस्पते ! तू (**नः**) हमें (**स्तेनेभ्यः**) चोरों के प्रति (**मा**) मत दे (**ये**) जो (**द्रुहः पदे**) द्रोह के स्थान में (**निरामिणः**) अत्यन्त रूप से रमण करते हैं अर्थात् जो सदा द्रोह के मौकों की तलाश में रहते हैं और जो (**रिपवः**) शत्रु (**अन्नेषु जागृधुः**) दूसरों के अन्नों को हड़पते रहते हैं या इच्छा रखते हैं उनसे हमें बचा। और उनसे भी हमारी रक्षा कर जो कि (**हृदि**) अपने हृदय में (**देवानां व्रयः**) देवों के वर्जन का भाव (**आ ओहते**) सदा वहन किये हुए हैं। हे बृहस्पते ! ऐसे लोग (**साम्नः परः**) साम के उत्कृष्ट रूप को (**न विदुः**) नहीं जानते हैं। अर्थात् उन्हें साम, समता व शान्ति आदि नहीं आती।

ओहते—अवहन्ति। सायणाचार्य।
व्रयः—व्री वर्जने।

विश्वेभ्यो हित्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नः साम्नः कविः।
स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि ॥१७॥

हे ब्रह्मणस्पति ! (**त्वष्टा कविः**) क्रान्तदर्शी त्वष्टा भगवान् ने (**त्वा**) तुझे (**परि**) चारों ओर से (**साम्नः साम्नः**) सामों को इकट्ठा कर-करके (**अजनत्**) पैदा किया है। (**सः**) वह तू (**ऋणचित्**) ऋण का चयन करने वाला तथा (**ऋणया**) ऋण को दूर करने वाला है (**मह ऋतस्य धर्तरि**) महान् ऋत के धारक में (**द्रुहः हन्ता**) द्रोह का हनन करने वाला होता है।

समग्र संसार को रूप प्रदान करने वाला भगवान् त्वष्टा कहलाता है। वह कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी है उसने अपनी इस क्रान्तदर्शिता से यह देखा कि संसार में साम-शान्ति, समता आदि तत्त्व कहाँ कहाँ हैं, वहीं से साम के अंशों को संग्रह करके बृहस्पति का निर्माण किया। इससे यह स्पष्ट है कि बृहस्पति अत्यन्त शान्ति-समता आदि गुणों वाला होना चाहिए। वह ब्रह्मणस्पति शिष्य के अन्दर ऋणों को संग्रह करता है अर्थात् बताता है और फिर उन्हें दूर करने में सहायता देता है और जो शिष्य ऋत को धारण करने का प्रयत्न करता है उसमें बाधा व द्रोहकारी आसुरी शक्ति को विनष्ट कर सहायता करता है।

तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।
इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम् ॥१८॥

हे (**अंगिरः**) अंगों के रस रूप प्रिय बृहस्पते ! (**तव श्रिये**) तेरी श्रीः शोभा के लिए (**पर्वतः**) आसुरी शक्ति का आश्रय-स्थान पर्वत (**व्यजिहीत**) अपने द्वार खोल देता है और (**गवां गोत्रं**) दिव्य शक्तियों के समूह को (**उदसृजः**) खोल देता है उद्घाटित कर देता है (**इन्द्रेण युजा**) इन्द्र अर्थात् दिव्य मन से युक्त होकर (**तमसा परीवृतं**) अन्धकार से आवृत (**अपां अर्णवं**) सोम समुद्र को (**औब्जः**) आवरण से ढीला कर (**निः**) निकाल बाहर करता है ।

व्यजिहीत = वि + ओहाक् त्यागे ।
औब्जः—य उब्जति आर्जवी करोति तेन निर्वृत्तः सः । स्वामी दयानन्द ।

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥१६॥

हे ब्रह्मणस्पते ! (**त्वं**) तू (**अस्य सूक्तस्य**) इस श्रेष्ठ वेदवाणी का (**बोधि**) ज्ञान प्राप्त करा और (**यन्ता**) नियामक होकर (**तनयं जिन्व**) शिष्य को वेद-रस का पान कराकर प्रीणन कर। (**देवाः**) देवपुरुष (**विश्वं भद्रं**) सम्पूर्ण भद्र की (**अवन्ति**) रक्षा करते हैं। ब्रह्मणस्पति आचार्य के नियन्त्रण में रहते हुए (**सुवीराः**) श्रेष्ठ वीर पुरुष (**विदथे**) ज्ञानगोष्ठियों में (**बृहद् वदेम**) बहुत बोलें ।

ऋ० मं० २ । सू० २४

ऋषिः **गृत्समदः** । देवता **ब्रह्मणस्पतिः** १, १०, **बृहस्पतिः** १२ **इन्द्राब्रह्मणस्पती** । छन्दः **जगती**, १२, १६ **त्रिष्टुप्** ।

सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषेऽया विधेम नवया महा गिरा ।
यथा नो मीढ्वान्त्स्तवते सखा तव बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम् ॥१॥

हे बृहस्पति ! (**यः**) जो तू (**ईशिषे**) सबका ईश है अर्थात् सब पर स्वामित्व रखता है, उसके बल से (**इमां**) हमारे इस (**प्रभृतिं**) प्रकृष्ट रूप से भरण-पोषण को (**अविड्ढि**) रक्षा कर अर्थात् हमारा भरण-पोषण व शिक्षा-दीक्षा तेरे अधीन है वह सुचारु रूप से चलती रहे। हम सब (**अया**) इस (**महागिरा**) महान् वाणी द्वारा (**विधेम**) तेरी स्तुति करते हैं। (**नः**) हमें (**मीढ्वान्**) ज्ञान-धाराओं से सिञ्चन करने वाला (**तव सखा**) तेरा मित्र [अध्यापक वृन्द] (**यथा**) जिस प्रकार [तत्त्व] को (**स्तवते**) प्रकाशित करता है, हे बृहस्पते ! उसी प्रकार (**नः मतिं**) हमारी मति को तू (**सीषधः**) सिद्ध कर अर्थात् सधा ।

प्रभृतिम्—प्र+भृतिम्—भृञ् भरणे,
अविड्ढि—अव रक्षणे
मीढ्वान्—मिह् सेचने

वेद का यह आदेश है कि विद्यार्थी का समग्र भरण-पोषण आचार्य बृहस्पति की देख-रेख में आचार्यकुल में ही होना चाहिए। और विद्यार्थियों को अपने गुरुजनों की सदा सेवा करनी चाहिए।

यो नन्त्वान्यनमन्न्योजसोतादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि।
प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद्वसुमन्तं वि पर्वतम्॥२॥

(**यः**) जो ब्रह्मणस्पति (**नन्त्वानि**) नमन किये जाने योग्य शत्रुओं को (**ओजसा**) अपने ओज द्वारा (**नि अनमत्**) नमा देता है (**उत**) और (**मन्युना**) अपने मन्यु बल से (**शम्बराणि**) कल्याण व सुख की वृष्टि को रोकने वाले आवरणों को (**वि अदर्दः**) विदीर्ण कर देता है। (**अच्युता**) कभी च्युत न होने वालों को जो (**प्राच्यावयत्**) च्युत कर देता है। ऐसा वह ब्रह्मणस्पति (**वसुमन्तं**) गौ आदि वसुओं वाले (**पर्वतं**) मस्तिष्क सम्बन्धी पर्वत-शिखरों में (**वि अविशत्**) प्रवेश कर जाता है।

नन्त्वानि—नमनीयानि, नमितुं योग्यानि।
अदर्दः—दृ विदारणे।

यह ब्रह्मणस्पति अपने ओज के प्रभाव से शिष्य के अन्दर दृढ़ अनमनीय दुर्गुणों को नमा देता है। और मन्यु के बल से शम्बर के पुरों को विदीर्ण कर देता है। और शिष्य के मस्तिष्क के पर्वत-शिखरों के अन्दर प्रवेश कर प्रच्छन्न ऐश्वर्यों को बाहिर निकाल लाता है।

तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृढहाव्रदन्त वीडिता।
उद् गा आजदभिनद्ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत्स्वः॥३॥

(**देवानां देवतमाय**) इन्द्रियादि देवों को देवतम बनाने के लिए बृहस्पति ने (**तत् कर्त्वम्**) वह कर्म किया जिससे कि (**दृढहा अश्रथ्नन्**) दृढ़ शिथिल हो गये (**वीडिता-अव्रदन्त**) चट्टान सदृश कोमल बन गये। (**ब्रह्मणा**) अपनी ब्रह्मशक्ति से (**वलं अभिनत्**) वलासुर को भेदन कर दिया और (**गाः उदाजत्**) गौवों को उस वलासुर के बन्धन से निकाल लिया। (**तमः अगूहत्**) अन्धकार को छिपा दिया और (**स्वः व्यचक्षयत्**) प्रकाश को फैला दिया।

आजत्-अज गतिक्षेपणयोः अव्रदन्त—मानवशरीर में इन्द्रियाँ आदि शक्तियाँ देव कहलाती हैं, इनको और भी श्रेष्ठ देव (देवतम) बनाना बृहस्पति का काम है। श्रेष्ठ देव बनकर ये इन्द्रियाँ दिव्य-ज्ञान को आविर्भूत करती हैं। इनको देवतम बनाने के लिए

बृहस्पति यह कार्य करता है कि जो पाप व दुर्व्यसन आदि चट्टान की तरह दृढ़ हैं उन्हें शिथिल करता है और जो बाधायें मार्ग को रोके हुए हैं, उन्हें हटाता है। इन्हें हटाने के लिए उसे ब्रह्मशक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। ब्रह्मशक्ति द्वारा वलादि का विनाश करने से इस बात का संकेत मिलता है कि ये वल आदि कोई मानवीय शत्रु नहीं हैं। ये पाप व दुर्व्यसन आदि ही हैं जो कि ब्रह्मशक्ति से विनष्ट किये जा सकते हैं।

अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत्।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥४॥

(**अश्मास्यं**) पत्थर से ढके हुए मुंह वाले (**मधुधारं**) मधुज्ञान की धाराओं वाले (**अवतं**) मस्तिष्करूपी गर्त को (**ब्रह्मणस्पतिः**) मन्त्रों का स्वामी यह ब्रह्मणस्पति (**ओजसा**) अपने ओज-बल से (**अभिअतृणत्**) फोड़ देता है, (**तमेव**) उस मधुधार वाले गर्त को (**विश्वे**) सब (**स्वर्दृशः**) स्वः दिव्य ज्ञान का दर्शन करने वाली इन्द्रिय आदि देव (**पपिरे**) पान करते हैं और फिर (**बहुसाकं**) बहुत सारे वे मिलकर (**उद्रिणम्**) सोमरस भरे उस (**उत्सं**) मस्तिष्करूपी उत्स को (**सिसिचुः**) नाना ज्ञानविज्ञानों से सींचते रहते हैं।

अश्मास्यम्—अश्मा आस्ये यस्य तम्।
अतृणत्—तृदिर् छेदने।
उद्रिणम्—उदकवन्तम्।

यहाँ 'अवत' से प्रकृतिरूपी गर्त का भी ग्रहण किया जा सकता है। और तदनुसार मन्त्र का अर्थ प्रकृति के क्षेत्र में ज्ञान-विज्ञान के आविष्कार में संलग्न वैज्ञानिकों के प्रति हो सकता है।

सना ता का चिद् भुवना भवीत्वा माद्भिः शरद्भिर्दुरो वरन्त वः।
अयतन्ता चरतो अन्यदन्यदिद्या चकार वयुना ब्रह्मणस्पतिः ॥५॥

(**ता काचिद्**) वे कुछ (**वयुना**) ज्ञान (**सना**) सनातनकाल से चले आ रहे हैं और सदा रहते हैं। कुछ (**भुवना**) वर्तमान में होते हैं और कुछ (**भवीत्वा**) भविष्य सम्बन्धी हैं, अर्थात् भविष्य में होंगे। कुछ ज्ञान (**माद्भिः**) महीनों में कुछ (**शरद्भिः**) वर्षों में जाकर (**वः**) तुम्हारे (**दुरः वरन्त**) मस्तिष्क कपाटों को खोलते हैं, (**अयतन्ता चरतः**) जो गुरु और शिष्य बिना प्रयत्न किये विद्याध्ययनादि कर्म करते हैं उनका ज्ञान (**अन्यत्**) अन्य ही होता है अर्थात् वह सत्य नहीं होता, पर (**या वयुना**) जिस प्रज्ञान व कर्मों को (**ब्रह्मणस्पतिः**) ब्रह्मणस्पति (**चकार**) करता है वह (**अन्यत्**) और ही होता है अर्थात् सत्य होता है।

सना—सनातनानि।

भुवना—वर्तमानकालसम्बन्धीनि।

भवीत्वा—भव्यानि।

दुरः—द्वाराणि।

वरन्त—विवृण्वन्ति।

वयुना—प्रज्ञानानि।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मणस्पति सामान्य गुरुओं की अपेक्षा विशिष्ट शक्ति वाला होता है।

अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्।
ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ आयन्तदुदीयुराविशम्॥६॥

(ये) जो विद्वान् (**अभिनक्षन्तः**) सामने की ओर खोज करते हुए (**गुहाहितम्**) गुफा में निहित (**पणीनां परमं निधिं**) पणियों की परम निधि को (**अभि आनशुः**) प्राप्त करते हैं (**ते विद्वांसः**) वे विद्वान् (**अनृता प्रतिचक्ष्य**) अनृतों का प्रत्याख्यान कर (**यत उ**) जिस मार्ग से (**आविशं आयन्**) उस गुफा में प्रवेश करते हैं और ज्ञान प्राप्त करते हैं (**पुनः**) फिर (**तत्**) उस मार्ग व उस ज्ञान का अन्यों को (**उदीयुः**) उपदेश करें। अथवा (**यतः**) क्योंकि वे 'आविश' में प्रवेश कर गये हैं अतः वे उसे (**उदीयुः**) बाहिर को निकालें, उद्गम करें।

अभिनक्षन्तः—अभितो गच्छन्तः। सायाणाचार्य।
अभितो जानन्तः। स्वामी दयानन्द।

प्रतिचक्ष्य—प्रत्याख्याय।
प्रत्यक्षेण प्रत्याख्यानाय। स्वामी दयानन्द।
दृष्ट्वा। सायणाचार्य।

आविशम्—आविशन्ति यस्मिन् तत्।

यह 'आविश' पापियों की गुहा है जिसमें परम निधि रखी हुई है। उस गुफा में प्रवेश करते हुए कई अनृत व असत्य बातें भी दिव्यरूप धारण कर प्रकट होती हैं उनका विद्वान् तत्त्ववेत्ता लोग प्रत्याख्यान कर देते हैं। इस दिव्य ज्ञान की गुफा में प्रवेश करने की कोई विधि है जिसका ज्ञान होना आवश्यक है।

ऋतावानः प्रतिचक्ष्यानृता पुनरात आ तस्थुः कवयो महस्पथः।
ते बाहुभ्यां धमितमग्निमश्मनि नकिः षो अस्त्यरणो जहुर्हि तम्॥७॥

(**ऋतावानः**) ऋतवाले अर्थात् सत्यज्ञान वाले (**कवयः**) क्रान्तदर्शी पुरुषों ने (**अनृता प्रतिचक्ष्य**) अनृतों को देखकर अथवा उनका प्रत्याख्यान कर (**पुनः**) फिर (**आतः**) उस स्थान व अवस्था से (**महस्पथः आतस्थुः**) मुक्ति के उस महान् पथ का अनुसरण किया। तब (**अश्मनि**) पत्थर पर (**बाहुभ्यां धमितं तं अग्निं**) बाहुओं से प्रदीप्त

की हुई अग्नि को [अग्निहोत्रादि यज्ञ] (**हि**) निश्चय से (**जहुः**) छोड़ दिया, क्योंकि (**सः**) वह अग्नि (**अरणः नकिः अस्ति**) संसार से निकालने वाली नहीं है।

अरणः—अरणः अपार्णो भवति। नि० ३.२ निरमणे निर्गमने। नि० ११.४२

इस मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि अग्निहोत्रादि यज्ञ तथा काम्येष्टियां मनुष्य को मुक्ति-प्राप्ति में सहायक नहीं हैं। मुक्ति की कामना वाले संसार-विरक्त पुरुष के लिये अग्निहोत्र आदि समुचित साधन नहीं हैं।

ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि प्र तदश्नोति धन्वना।
तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः ॥८॥

(**ऋतज्येन**) ऋत की ज्या वाले तथा (**क्षिप्रेण**) शीघ्र कार्य करने वाले (**धन्वना**) धनुष से (**ब्रह्मणस्पतिः**) वह ब्रह्मणस्पति (**यत्रवष्टि**) जहाँ जिसे चाहता है, (**तत् प्र अश्नोति**) उसे ही प्राप्त कर लेता है। (**तस्य साध्वीः इषवः**) उसकी साधु इच्छाएँ व प्रेरणाएँ उसके बाण हैं (**याभिः**) जिनके द्वारा वह पाप आदि शत्रुओं को (**अस्यति**) परे फेंक देता है। (**नृचक्षसः**) मनुष्यों के द्रष्टा ब्रह्मणस्पति के ये मनरूपी बाण (**कर्णयोनयः**) कान तक आकृष्ट हुए अर्थात् श्रवणगोचर हुए (**दृशये**) साक्षाद्दर्शन के लिये होते हैं। अथवा श्रवणमात्र से ही कार्यसिद्धि दृष्टिगोचर हो जाती है।

कर्णयोनयः—कर्णं श्रोत्रं योनिर्येषां ते। स्वामी दयानन्द।
श्रोत्रेन्द्रियेण ग्राह्या मन्त्रभूताः आकर्णकृष्टा वा बाणाः। सायणाचार्य।

नृचक्षसः—नृणां चक्षास्तस्य, नॄन् पश्यतः।

यहाँ इस मन्त्र में ब्रह्मणस्पति के धनुष की कल्पना की गई है। उस धनुष की डोरी ऋत की है, और उसकी साधु इच्छाएँ ही बाण का कार्य करती हैं अर्थात् ब्रह्मणस्पति की इच्छाएँ ऋत की डोरी पर रखी जाकर परे लक्ष्य पर फेंकी जाती हैं इससे जो अभीष्ट है, प्राप्तव्य है वह प्राप्त होता है और जो विनाश्य है वह विनष्ट हो जाता है। उन इच्छाओं का दूसरे कान तक पहुँचने से ही कार्य सिद्ध हो जाता है, अर्थात् कार्य की सिद्धि साक्षाद् दृष्टिगोचर हो जाती है।

स संनयः स विनयः पुरोहितः स सुष्टुतः स युधि ब्रह्मणस्पतिः।
चाक्ष्मो यद् वाजं भरते मती धनादित् सूर्यस्तपति तप्यतु र्वृथा ॥९॥

(**स पुरोहितः ब्रह्मणस्पतिः**) वह पुरोहित ब्रह्मणस्पति (**युधि**) युद्ध में (**सुष्टुतः**) उत्तम प्रकार स्तुति किया गया (**संनयः**) सेना का सम्यक् प्रकार से नयन करने वाला तथा (**विनयः**) विविध प्रकार से नयन करने वाला होता है। (**मती**) हमारी बुद्धियों में वह (**चाक्ष्मः**) सब कुछ प्रकाशित करके दिखा देने वाला है अथवा यह ब्रह्मणस्पति (**मती**) हमारी बुद्धि में (**यद् वाजं धना**) जो वेग व धनैश्वर्य को (**भरते**) भर देता है (**आदित्**)

तब इसके अनन्तर (**तप्यतुः सूर्यः**) सबका तपाने वाला यह सूर्य तो (**वृथा तपति**) व्यर्थ तप रहा है।

संनयः—सम्यक् नयो यस्य सः।
विनयः—विविधं नयो यस्य सः।
चाक्ष्मः—चष्टेः क्षमतेर्वा। सर्वस्य द्रष्टा—सायणाचार्यः। व्यक्तवाक् —स्वामी दयानन्द।
आदित्—अनन्तरमेव।
तप्यतुः—तापकः।

इस मन्त्र द्वारा ब्रह्मणस्पति का एक काम युद्ध में सेना-संचालन का भी बताया गया है। उसकी कृपा से प्रजाओं व शिष्यों की बुद्धियाँ इतनी विकसित, स्वच्छ व निर्मल हो जाती हैं कि सत्यासत्य का विवेक उन्हें अनायास हो जाता है। उनमें वेग (वाज) तथा दिव्य धन भर जाता है। ऐसी अवस्था सबको प्रकाशित करके दिखाने वाला तथा सबको तपाने वाला सूर्य उन व्यक्तियों के लिये कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। यह अतिशयोक्ति अलंकार है।

विभु प्रभु प्रथमं मेहनावतो बृहस्पतेः सुविदत्राणि राध्या।
इमा सातानि वेन्यस्य वाजिनो येन जना उभये भुञ्जते विशः॥१०॥

(**मेहनावतः**) ज्ञान व शक्ति की वर्षा करने वाले (**बृहस्पतेः**) बृहस्पति का (**विभु**) व्यापक (**प्रभु**) समर्थ तथा (**प्रथमं**) प्रमुख नियम व कर्तव्य यह होता है कि वह (**सुविदत्राणि**) शोभन विज्ञान अर्थात् उत्तम व श्रेष्ठ वेदनीय तत्त्वों को (**राध्या**) सिद्ध करता है। (**वेन्यस्य**) कमनीय (**वाजिनः**) वेगवान् बृहस्पति के (**इमा सातानि**) ये दान हैं (**येन**) जिससे (**उभये जनाः**) देव और मनुष्य ये दोनों (**विशः**) अन्नादि ऐश्वर्य का (**भुञ्जते**) उपभोग करते हैं।

मेहनावतः—मिह् सेचने, प्रशस्तानि वर्षणानि यस्मात् तस्य।
सुविदत्राणि—शोभनानि विदत्राणि विज्ञानानि येभ्यस्तानि।
सुविदत्रं धनं भवति, विन्दतेर्वैकोपसर्गाद् ददाते र्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्। नि० ७.६
सातानि—षणु दाने, वन षण सम्भक्तौ—विभज्य दातुमर्हाणि।
वेन्यस्य—कमनीयस्य, कमितुं योग्यस्य वा।
विशः—अन्नं वै विशः। श० प० ४.३.३.१२, ५.१.३.३

इस मन्त्र में यह दर्शाया गया है कि बृहस्पति की कृपा से राष्ट्र में ज्ञान-विज्ञानों की वर्षा होती है। तथा अन्न और उद्योग आदि भरपूर होते हैं।

योऽवरे वृजने विश्वथा विभुर्महामु रण्वः शवसा ववक्षिथ।
स देवो देवान् प्रति पप्रथे पृथु विश्वेदु ता परिभूर्ब्रह्मणस्पतिः ।।११।।

(**यः**) जो ब्रह्मणस्पति (**अवरे**) अवरकोटि के तथा (**वृजने**) वर्जनीय समुदाय में (**विश्वथा**) सब प्रकार से (**विभुः**) व्यापक है तथा (**शवसा**) अपने बल द्वारा व सामर्थ्य से (**रण्वः**) सत्य का उपदेश करता है ऐसे ब्रह्मणस्पति को तुम (**ववक्षिथ**) वहन करो। (**सः देवः**) वह दिव्यगुणयुक्त ब्रह्मणस्पति (**देवान् प्रति**) देवों के प्रति अथवा देवों का प्रतिनिधि होकर (**पृथु पप्रथे**) विस्तृत ख्याति को प्राप्त करता है अथवा देवों के प्रति वह प्रथन करता है। वह ब्रह्मणस्पति (**इत्**) निश्चय से (**ता विश्वा**) उन समग्र ऐश्वर्यों को (**परिभूः**) चहुँ ओर से घेरे हुए है।

वृजने—वर्जनीये।

रण्वः—सत्योपदेशकः। स्वामी दयानन्द।

यह ब्रह्मणस्पति देवों में ही नहीं, पर अवर कोटि के मनुष्यों में भी महान् ख्याति को प्राप्त करता है। इसका विस्तार देवत्व की ओर होता है और यही अन्यों को देव बनाता है।

विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्रमिनन्ति व्रतं वाम्।
अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम् ।।१२।।

(**मघवाना**) हे दिव्य ऐश्वर्य वाले (**इन्द्राब्रह्मणस्पती**) इन्द्र और ब्रह्मणस्पति (**युवोः**) तुम दोनों के जो भी व्रत व नियम हैं (**इत्**) निश्चय से (**विश्वं सत्यं**) वे सब सत्य हैं। (**आपश्च**) और प्रजाएं (**वां व्रतं न प्रमिनन्ति**) तुम दोनों के व्रत व नियम को तोड़ नहीं सकतीं। (**इव**) जिस प्रकार (**युजा वाजिना**) रथ में जुते हुए वेगवान् घोड़े (**अन्नं**) घास के लिये शीघ्रता से आते हैं, उसी प्रकार तुम दोनों (राष्ट्ररूपी रथ में जुते हुए) (**नः हवि अच्छ**) हमारी हवि की ओर (**जिगातम्**) शीघ्रता से आओ।

जिगाति—गतिकर्मा।

शरीर के क्षेत्र में इन्द्र और ब्रह्मणस्पति हृदय और मस्तिष्क की शक्तियाँ हैं। इस मन्त्र में दोनों के सम्मिलित कार्य को देखना चाहिये। राष्ट्र में ये दोनों ब्रह्म और क्षत्र-शक्ति के प्रतिनिधि हैं जो कि राष्ट्र में सर्वत्र विचरते हैं और यह देखते रहते हैं कि इनके व्रतों का पालन ठीक हो रहा है कि नहीं।

उताशिष्ठा अनुश्रृण्वन्ति वह्नयः सभेयो विप्रो भरते मती धना।
वीडुद्वेषा अनुवश ऋणमाददिः स ह वाजी समिथे ब्रह्मणस्पतिः ।।१३।।

(**उत**) और (**आशिष्ठाः**) शीघ्र कार्य करने वाले (**वह्नयः**) राज्यभार वहन करने वाले राजपुरुष (**अनुश्रृण्वन्ति**) उसके अनुशासन को सुनते हैं। (**सभेयः**) सभा में

कुशल (**विप्रः**) बुद्धिमान् वह ब्रह्मणस्पति (**मती**) अपनी बुद्धि से राष्ट्र में (**धना भरते**) ऐश्वर्यों को भरता है। (**वीडुद्वेषा**) बलवान् दुष्टों से द्वेष करने वाला वह (**अनुवश**) कामना व आवश्यकता के अनुकूल (**ऋणं आददिः**) प्रजाओं से कर आदि लेता है। (**सः**) वह ब्रह्मणस्पतिः (**समिथे**) वाक्-युद्धों में (**वाजी**) वेगवान् होता है।

आशिष्ठाः—आशुतमाः।

वीडुद्वेषाः—दृढद्वेषाः, वीडून् प्रबलान् द्वेष्टि।

अनुवश—वशस्य कामस्य अनुगुणम्।

प्रजाओं से आवश्यकतानुसार कर वसूल करना तथा राजपुरुषों पर नियन्त्रण रखना ब्रह्मणस्पति का कार्य है। 'समिथे' पद से दोनों प्रकार के संग्रामों का ग्रहण हो सकता है, वाक्-युद्ध तथा रणसंग्राम, इन दोनों का संचालन व शिक्षण आदि ब्रह्मणस्पति के निरीक्षण में होता है।

ब्रह्मणस्पतेरभवद्यथावशं सत्यो मन्युर्महि कर्मा करिष्यतः।
यो गा उदाजत् स दिवे वि चाभजन्महीव रीतिः शवसा सरत् पृथक् ॥१४॥

(**यः**) जो (**महिकर्माकरिष्यतः**) महान् कार्य को करने वाले (**ब्रह्मणस्पतेः**) वेद-विद्या के स्वामी के (**यथावशं**) अनुकूल (**अभवत्**) रहता है। उसका (**मन्युः सत्यः**) शत्रुओं के प्रति मन्युभाव सत्य होता है। (**यः**) जो (**गाः उदाजत्**) अपनी आन्तरिक ऐन्द्रियिक किरणों को ऊर्ध्व की ओर गति देता है। (**सः**) वह (**दिवे**) दिव्य प्रकाश के लिए (**वि अभजत्**) विशेष रूप से अपने को लगाता है। यह (**रीतिः**) प्रकाश के प्रति गमन (**महीव**) महान् है। (**शवसो**) बल द्वारा (**पृथक् असरत्**) पृथक् रूप में चलती है।

इस मन्त्र में यह निर्देश है कि शिष्य यदि अपने मन्यु को सत्य सिद्ध करना चाहता है तो उसे अपने आपको पूर्णरूप से ब्रह्मणस्पति गुरु को समर्पित कर देना चाहिए। दिव्य प्रकाश का मार्ग सबसे निराला है।

ब्रह्मणस्पते सुयमस्य विश्वहा रायः स्याम रथ्यो३वयस्वतः।
वीरेषु वीराँ उप पृङ्धि नस्त्वं यदीशानो ब्रह्मणा वेषि मे हवम् ॥१५॥

हे बृहस्पते! हम (**विश्वहा**) सब दिन (**सुयमस्य**) सुनियन्त्रित (**वयस्वतः**) अन्नादि से युक्त (**रायः**) ऐश्वर्य के (**रथ्यः स्याम**) रथों पर ढोकर लाने वाले अर्थात् स्वामी हों। (**त्वं**) तू (**नः**) हमें (**वीरेषु वीरान्**) वीरों में भी वीर पुत्रों को (**उप पृङ्धि**) प्रदान कर (**यत्**) क्योंकि तू (**ईशानः**) ईश है, समर्थ है अतः (**ब्रह्मणा**) ब्रह्मशक्ति द्वारा (**मे हवं वेषि**) मेरे आह्वान, व कामना को पूरा कर।

सुयमस्य—सु+यम्।

रथ्यः—रथा एषां सन्तीति रथ्यः।

वयस्वतः—वयः अन्नं तद् वतः।

उप पृङ्धि—उप+पृची सम्पर्के ।
वेषि—वी गतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु ।

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥१६॥

हे ब्रह्मणस्पते ! (**त्वं**) तू (**यन्ता**) सबका नियामक है । (**अस्य सूक्तस्य बोधि**) इस वेदज्ञान का बोध कर और (**तनयं च जिन्व**) शिष्यरूपी पुत्र को ज्ञान-रस का पान करा । (**देवाः**) देव लोग (**यद् अवन्ति**) जिसकी रक्षा करते हैं । (**विश्वं तद्भद्रम्**) वह सब भद्र ही होता है । (**सुवीराः**) हम सुवीर बनकर (**विदथे**) ज्ञान-गोष्ठियों में (**बृहद् वदेम**) खूब बोलें ।

ऋ० मं० २ । सू० २५

ऋषिः **घृत्समदः भार्गवः शौनकः** । देवता **ब्रह्मणस्पतिः** । छन्दः जगती ।

इन्धानो अग्निं वनवद्वनुष्यतः कृतब्रह्मा शूशुवद्रातहव्य इत् ।
जातेन जातमति स प्र सर्सृते यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥१॥

(**अग्निं इन्धानः**) अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ व्यक्ति (**वनुष्यतः**) अपने आन्तरिक शत्रुओं को विनाश करने वाले व्यक्तियों का (**वनवत्**) सम्पर्क करे, सेवन करे । (**कृतब्रह्मा**) जिसने ब्रह्म [मन्त्र व ब्रह्मशक्ति] को सिद्ध कर लिया है (**रातहव्यः**) ब्रह्मणस्पति को हव्य प्रदान किया है अथवा हविरूप में आत्मार्पण कर दिया है वह (**इत् शूशुवत्**) निश्चय से वृद्धि को प्राप्त करता है । (**ब्रह्मणस्पतिः**) वह ब्रह्मणस्पति (**यं यं**) जिस व्यक्ति को (**युजं कृणुते**) अपना सहयोगी बना लेता है (**सः**) वह व्यक्ति (**जातेन जातं**) पुत्र-पौत्रादि रूप में (**अति प्रसर्सृते**) अत्यधिक विस्तार को प्राप्त करता है ।

वनवत्=सम्भजेत ।
वनुष्यतः=वनुष्यति क्रुध्यतिकर्मा । निघ० २.१२
याचमनान्, संभक्तान् वा ।
शूशुवत्=टुओश्वि गतिवृद्ध्योः ।
कृतब्रह्मा=कृतं ब्रह्म येन सः ।
रातहव्य=रातं दत्तं हविर्येन सः ।

जो व्यक्ति अपने अन्दर अग्नि को प्रदीप्त करना चाहता है उसे चाहिए कि अग्नि प्रदीप्ति में बाधक आन्तरिक शत्रुओं व आवरणों को विनष्ट करने में लगे हुए व्यक्तियों से सम्पर्क किया करे । ब्रह्म अर्थात् मन्त्र-सिद्धि में लगा हुआ व्यक्ति तभी सफल होता है जबकि वह 'रातहव्यः' अपने आपको हवि रूप में बृहस्पति को सुपुर्द कर देता है । जिस

व्यक्ति पर बृहस्पति की कृपादृष्टि हो जाती है उसके पुत्र-पौत्रादि भी खूब फलते-फूलते हैं।

वीरेभिर्वीरान् वनवद्वनुष्यतो गोभी रयिं पप्रथद्बोधति त्मना।
तोकं च तस्य तनयं च वर्धते यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥२॥

(**वनुष्यतः वीरान्**) अपने आन्तरिक शत्रुओं का विनाश करने वाले वीरपुरुषों को (**वीरेभिः वनवत्**) वीरों के साथ सम्पर्क करावे। इस प्रकार (**गोभिः**) ऐन्द्रियिक शक्तियों से (**रयिं**) आन्तरिक दिव्य ऐश्वर्य (**पप्रथत्**) विस्तृत होता है और (**त्मना बोधति**) आत्म रूप से बोध होता जाता है। वह ब्रह्मणस्पति जिस-जिस को सहयोगी बनाता है उस-उस के (**तोकं च तनयं च वर्धते**) पुत्र-पौत्र आदि वृद्धि को प्राप्त होते जाते हैं।

यह मन्त्र इस बात का द्योतक है कि शिक्षणालयों में एकसमान आयु, बल, वीरता, ज्ञान व रुचि आदि गुण-धर्मों वालों का सम्पर्क होना चाहिए। वीरपुरुषों का वीरों के साथ ही सम्पर्क ठीक होता है। यदि एकसमान गुण-धर्मों वाले छात्रों का परस्पर सम्पर्क न होवे तो थोड़े से वीर विद्यार्थी अन्यों पर शासन करने लगेंगे। इससे अहंकार-वृद्धि होकर अनुशासन-हीनता उद्दण्डता आदि दुर्गुण पैदा हो जाते हैं। थोड़े से उद्दण्ड व उच्छृंखल विद्यार्थी नेता बनकर अन्यों को गुमराह करते हैं, यह आधुनिक समय में अत्यन्त स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अथवा इसका यह भी भाव हो सकता है कि जो पाप व दुर्गुण जितना अधिक प्रबल हो, वीर हो, उसका उतने ही प्रबल दैवी विचारों से मुकाबिला करना चाहिए। इससे ऐन्द्रियिक दिव्य शक्ति प्रबल होती है, उनमें दिव्य ऐश्वर्य पैदा होता है और आत्मबोध की स्थिति पैदा होती है। यह सब ब्रह्मणस्पति के सहयोग पर निर्भर करता है।

सिन्धुर्न क्षोदः शिमीवाँ ऋघायतो वृषेव वध्रीँरभिवष्ट्योजसा।
अग्नेरिव प्रसितिर्नाह वर्तवे यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥३॥

(**यं यं युजं**) वह व्यक्ति जिसके साथ ब्रह्मणस्पति अपना सम्पर्क करता है (**सिन्धुर्न क्षोदः**) सिन्धु अर्थात् नदी नद के समान अपनी सीमाओं को तोड़ गिराता है। (**शिमीवान्**) वह कर्मठ बन जाता है। (**वध्रीन् वृषा इव**) जिस प्रकार सांड बधिया किये हुए बैलों को अपने ओज से दबा देता है उसी प्रकार (**ऋघायतः**) उन्नति में बाधा पहुंचाने वालों को वह व्यक्ति (**ओजसा अभिवष्टि**) अपने ओज से ललकारता है। (**अग्नेः प्रसितिः इव**) अग्नि के बन्धन की तरह वह व्यक्ति (**अह**) निश्चय से (**वर्तवे न**) अपने उद्देश्य से रोका नहीं जा सकता।

क्षोदः=क्षुदिर् सम्पेषणे—पीसना क्षुणतितटादीन्।
क्षोदः उदकनामसुपठितम्। निघ० १.१२

शिमीवान्=कर्मवान् शिमीति कर्मनाम।

ऋघायतः—हिंसतः—बाधमानान् वा।
प्रसितिः—बन्धनम्, तन्तुर्वा जाळं। नि० ६.१२
अभिवष्टि—अभिभवितुं कामयते।

यह ब्रह्मणस्पति जिस व्यक्ति से सम्पर्क करता है वह नदी के तुल्य अपने अज्ञान की संकुचित सीमा आदि तटबन्धों को तोड़ गिराता है और जो उसकी उन्नति में बाधा पहुंचाते हैं, उन्हें अपने ओज के प्रभाव से धर दबाता है, जिस प्रकार अग्नि को कोई बाँध नहीं सकता उसी प्रकार उसे उन्नति करने से कोई रोक नहीं सकता।

तस्मा अर्षन्ति दिव्या असश्चतः स सत्वभिः प्रथमो गोषु गच्छति।
अनिभृष्टतविषिर्हन्त्योजसा यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः॥४॥

जिस व्यक्ति से वह ब्रह्मणस्पति सम्पर्क करता है (**तस्मै**) उसके प्रति (**दिव्याः**) दिव्य शक्तियाँ (**असश्चतः**) विभक्त हुई पृथक्-पृथक् रूप में (**अर्षन्ति**) गति करती हैं (**स**) वह व्यक्ति (**सत्वभिः**) सत्वों द्वारा (**गोषु**) गौओं के प्रति (**प्रथमः**) सर्व प्रथम (**गच्छति**) जाता है। (**अनिभृष्टतविषिः**) अदम्य बल वाला वह (**ओजसा**) अपने ओज से (**हन्ति**) शत्रुओं का हनन करता है।

अर्षन्ति—अर्तेर्लटि रूपम्।
असश्चतः—असज्यमानाः, विभागं प्राप्ताः।
सश्चतीति गतिकर्मा। निघ० २.१४
सत्वभिः—सत्त्वगुणोपेतैः।
अनिभृष्टतविषिः—अनिभृष्टा परैरबाधिता तविषी बलं यस्य तादृशः।
यहाँ मन्त्र में गौएं आन्तरिक दिव्य शक्तियाँ हैं।

तस्मा इद्विश्वे धुनयन्त सिन्धवोऽच्छिद्रा शर्म दधिरे पुरूणि।
देवानां सुम्ने सुभगः स एधते यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः॥५॥

जिस-जिससे यह ब्रह्मणस्पति सम्पर्क करता है।

(**तस्मा इत्**) उसके लिये ही (**विश्वे सिन्धवः**) सम्पूर्ण सिन्धुएं अर्थात् नस-नाड़ियाँ (**धुनयन्त**) कम्पन करती हैं अर्थात् गति करती हैं (**अच्छिद्राः**) दोषरहित हुई वे (**पुरूणि शर्म**) बहुत सुख (**दधिरे**) धारण कराती हैं। (**देवानां सुम्ने**) देवों के सुख में अर्थात् दिव्य सुख में (**सुभगः**) सौभाग्यशाली होकर (**स एधते**) वह वृद्धि को प्राप्त करता है।

धुनयन्त—धूञ् कम्पने।
सुम्नम्—सुखम्।
सिन्धवः—स्यन्दनात्।
मनुष्य के अन्दर अनन्त नस-नाड़ियाँ हैं, इनमें बहुत सी दिव्य शक्तियों के स्रोत

हैं पर वे प्रायः प्रसुप्त पड़ी रहती हैं। ब्रह्मणस्पति सदृश दिव्य गुरु की कृपा से वे सक्रिय होती हैं और उनको गतिमय कर दिव्य ज्ञान का उद्बोधन किया जा सकता है।

ऋ० मं० २। सू० २६

ऋषि: **गृत्समदः** (आंगिरसः शौनहोत्रः पश्चात्) **भार्गवः, शौनकः**। देवता **ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः **जगती**।

ऋजुरिच्छंसो वनवद्वनुष्यतो देवयन्निददेवयन्तभ्यसत्।
सुप्रावी रिद्वनवत्पृत्सु दुष्टरं यज्वेदयज्योर्विभजाति भोजनम् ॥१॥

(**ऋजुः इत्**) ऋजुप्रकृतिवाला पुरुष ही (**शंसः**) प्रशस्य है। वह (**वनुष्यतः**) हिंसक भावों व पुरुषों की (**वनवत्**) हिंसा करे (**देवयन् इत्**) देवत्व की कामना वाला होकर (**अदेवयन्तं**) देवत्व के विरोधी को (**अभ्यसत्**) अभिभव करे। (**सुप्रावीः इत्**) अच्छी प्रकार रक्षा करने वाला हो (**पृत्सु**) युद्धों में (**दुष्टरं**) दुस्तर व्यक्ति की (**वनवत्**) हिंसा करे (**यज्वा इत्**) यजनशील बनकर ही (**अयज्योः**) यज्ञ न करने वाले व यज्ञ के विरोधी की (**भोजनं**) भोग-सामग्री (**विभजाति**) बाँट लेवे।

अभ्यसत्—अभिभवेत्।
सुप्रावीः—सु+प्र+अव रक्षणे।
दुष्टरं—दुःखेन तरितुमशक्यम्।

वेद की दृष्टि में सरल प्रकृति (ऋजु) वाला व्यक्ति प्रशंसनीय माना गया है। हिंसक तथा देव-विरोधी को नष्ट करने का विधान हुआ है। जो यज्ञ नहीं करने वाला है, उसका धन यजनशील व्यक्तियों को बाँट लेना चाहिये।

यजस्व वीर प्रविहि मनायतो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये।
हविष्कृणुष्व सुभगो यथाससि ब्रह्मणस्पतेरव आवृणीमहे ॥२॥

(**वीर**) हे वीर (**यजस्व**) यजन कर (**मनायतः**) मन की तरह आचरण करने वाले दुष्ट भावों को (**प्रविहि**) प्रकृष्ट रूप से विनष्ट कर (**वृत्रतूर्ये**) वृत्र के विनाश में (**भद्रं मनः**) भद्र मन को (**कृणुष्व**) तैयार कर (**हविः कृणुष्व**) ब्रह्मणस्पति को आत्म-रूप हवि दे (**यथा**) जिससे तू (**सुभगः अससि**) सौभाग्यशाली हो जाये। हम (**ब्रह्मणस्पतेः**) ब्रह्मणस्पति से (**अव आवृणीमहे**) रक्षा की याचना करते हैं।

ब्रह्मणस्पति द्वारा निर्दिष्ट कठोर व्रत का पालन वीर पुरुष ही कर सकता है। कई दुष्ट भाव इतनी तीव्रता से हावी हो जाते हैं जिससे वे एक प्रकार से मन का स्थान ले लेते हैं। ऐसे उग्र दुष्ट भावों को 'मनायतः' शब्द से कहा है। हविः यहाँ आत्मरूप

हवि है क्योंकि यह ब्रह्मणस्पति का स्थान शिक्षणालय है। आचार्य-कुल में अपने आपको पूर्णरूप से सौंप देना चाहिये, जिससे कि व्यक्ति 'सुभग' बन सके।

प्रविहि—प्र+वी गत्यर्थकः।

मनायतः—आत्मनः मन इवाचरतः।

वृत्रतूर्ये—वृत्रस्य तूर्यं हननं यत्र।

तूरी गतित्वरणहिंसनयोः।

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥३॥

(**यः**) जो (**श्रद्धामनाः**) श्रद्धायुक्त मन वाला व्यक्ति (**देवानां पितरं**) देवों व दिव्यशक्तियों के पिता (**ब्रह्मणस्पतिं**) ब्रह्मणस्पति की (**हविषा**) हवि द्वारा (**आविवासति**) परिचर्या करता है। (**सः**) वह (**इत्**) निश्चय से (**जनेन**) सामान्यजन से (**विशा**) वैश्य से व प्रजा से (**स जन्मना**) वह उत्पत्ति द्वारा (**पुत्रैः**) पुत्रों द्वारा (**नृभिः**) नेतृवर्गों से (**वाजं**) वेग तथा (**धना**) धनैश्वर्यों को (**भरते**) धारण करता है।

श्रद्धामना—श्रद्धा मनसि यस्य तादृशः।

ब्रह्मणस्पति को इस में 'देवानां पितरम्' देवों का पिता कहा गया है। जो श्रद्धाभाव से इसकी परिचर्या करता है वह इस ब्रह्मणस्पति की कृपा से स्वजनों तथा पुत्र-पौत्रों में ब्रह्मवेग व क्षात्रवेग (**वाजं**) धारण करता है तथा नाना प्रकार के धन-धान्यों तथा दिव्य ऐश्वर्यों को उपलब्ध करता है।

यो अस्मै हव्यै घृतवद्भिरविधत् प्र तं प्राचा नयति ब्रह्मणस्पतिः।
उरुष्यतीमंहसो रक्षतीरिषोंऽ३ होश्चिदस्मा उरुचक्रिरद्भुतः ॥४॥

(**यः**) जो (**अस्मै**) इस ब्रह्मणस्पति को (**घृतवद्भिः हव्यैः**) घृतयुक्त हवियों से (**अविधत्**) परिचर्या करता है। (**तं**) उसको यह (**ब्रह्मणस्पतिः**) आचार्य ब्रह्मणस्पति (**प्राचा**) प्रकृष्ट मार्ग से (**प्रनयति**) ले चलता है। (**ईम्**) इसको वह (**अंहसः**) पाप से (**उरुष्यति**) रक्षा करता है, (**रिषः**) हिंसाओं से तथा (**अंहोश्चित्**) अन्य सब पापों से (**रक्षति**) रक्षा करता है। यह ब्रह्मणस्पति (**उरुचक्रिः**) विस्तृत व व्यापक कर्म करने वाला है और (**अद्भुतः**) अद्भुत है।

इस मन्त्र के भाष्य में सायणाचार्य ने ब्रह्मणस्पति को 'आचार्यभूतः' अर्थात् जो आचार्य बना हुआ है ऐसा निर्देश किया है। इससे भी यह स्पष्ट है कि सायणाचार्य के मत से ब्रह्मणस्पति विद्या-मन्दिर का आचार्य होता है। ब्रह्मणस्पति आचार्य को घृतयुक्त हव्य देने का तात्पर्य यह है कि पूर्णरूप से ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके ऊर्ध्वरेतस् बनकर वीर्योत्पन्न तेज को ब्रह्मणस्पति के शिक्षा तथा अध्यात्म यज्ञ में आहुत कर देता है।

ऋ० मं० ३ । सू० ६२

ऋषि: **गाथिनो विश्वामित्रः** । देवता ४-६ **बृहस्पतिः** । छन्दः **गायत्री** ।

बृहस्पते जुषस्व नो हव्यानि विश्वदेव्य ।
रास्व रत्नानि दाशुषे ॥४॥

(**विश्वदेव्य**) विश्वदेवों के हितकारी हे बृहस्पते ! (**नः**) हमारी (**हव्यानि**) आत्माहुतिओं को तू (**जुषस्व**) सेवन कर और (**दाशुषे**) मुझ आत्मसमर्पण करने वालों को (**रत्नानि**) रमणीय धन विद्या-धन तथा ज्योतिरूपी धन (**रास्व**) प्रदान कर ।

शुचिमर्कैर्बृहस्पतिमध्वरेषु नमस्यत ।
अनाम्योज आचके ॥५॥

(**शुचि**) पवित्रज्योतिःस्वरूप (**बृहस्पतिं**) बृहस्पति के प्रति (**अध्वरेषु**) हिंसा-रहित यज्ञों में अथवा प्रशस्त मार्गों में (**अर्कैः**) अर्कों अर्थात् अर्चना करने वाली इन्द्रियों से (**नमस्यत**) नमन करो । हे आचार्य ! मैं आपसे (**अनामि ओजः**) शत्रुओं के प्रति न नमने वाले ओज की (**आचके**) कामना करता हूँ ।

बृहस्पति के प्रति नमन अर्कों अर्थात् अर्चनावाली इन्द्रियों द्वारा किया जाता है, 'अर्क' अर्चना करने वाली इन्द्रियों को कहते हैं यह हम 'वैदिक अध्यात्म विद्या' पुस्तक में विस्तार से दर्शा चुके हैं । और यह नमन भक्ति का द्योतक है । अध्वर के प्रायः दो अर्थ किये जाते हैं, एक तो हिंसारहित यज्ञ अर्थात् निर्माणयज्ञ, और दूसरा अध्वा-मार्ग को द्योतित करने वाले साधन । यह मार्ग ज्ञान-प्राप्ति, देवत्वप्राप्ति व भगवत्प्राप्ति का मार्ग है ।

वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम् ।
बृहस्पतिं वरेण्यम् ॥६॥

(**चर्षणीनां**) मनुष्यों में (**वृषभं**) वृषभ के समान बलवान् अथवा मनुष्यों के प्रति सुख व ज्ञान आदि की वृष्टि करने वाले (**विश्वरूपं**) विश्वरूप वाले अथवा विश्व के समग्र रूपों के ज्ञाता (**अदाभ्यं**) आसुरी शक्तियों से न दबने वाले (**वरेण्यं बृहस्पतिं**) वरणीय बृहस्पति की मैं कामना करता हूँ ।

ऋ० मं० ४ । सू० ५०

ऋषिः **वामदेवो गोतमः**। देवता **बृहस्पति, १०-११ इन्द्राबृहस्पती**। छन्दः **त्रिष्टुब् जगती**।

यस्तस्तम्भ सहसा विज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥१॥

(**रवेण**) ध्वनि द्वारा (**त्रिषधस्थः**) तीनों लोकों, तीनों मस्तिष्कों व शरीर के तीनों भागों में विद्यमान (**यः बृहस्पतिः**) जिस बृहस्पति ने (**ज्मः अन्तान्**) पृथ्वी [शरीर] के अन्तों को (**सहसा**) अपने बल से (**वितस्तम्भ**) विशेष रूप में थामा हुआ है। (**तं मन्द्र-जिह्वं**) उस मन्द्र ध्वनि वाले बृहस्पति को (**दीध्यानाः**) ध्यान में लवलीन (**प्रत्नासः ऋषयः**) पुरातन ऋषि (**पुरः दधिरे**) सामने ले आते हैं।

बृहस्पति-सम्बन्धी ये सब मन्त्र बृहस्पति रूप परमात्मा, मस्तिष्क में बार्हस्पत्य शक्ति तथा ज्ञान-विज्ञान के अधिपति बृहस्पति आचार्य, इन तीनों क्षेत्रों में घटाये जा सकते हैं।

इस मन्त्र के भाव को पूर्णरूप से हृदयंगम करने के लिए सर्वप्रथम हमें 'ज्मः' शब्द पर विचार करना चाहिए।

ज्मः—ज्मा शब्द निघ० १.१ में पृथ्वी नामों में पठित है। प्रश्न यह है कि पृथ्वी को ज्मा क्यों कहा जाता है? धात्वर्थ के आधार पर इसका समाधान इस प्रकार है।

ज्मा शब्द (जमति गतिकर्मा निघ० २.१०) गतिकर्मक जम धातु से निष्पन्न किया गया है। क्योंकि पृथ्वी में गति है इसलिए उसे ज्मा कहा जाता है। दुर्गाचार्य ने जमु अदने, जनी प्रादुर्भावे आदि धातुओं से भी इसकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है। पृथ्वी पर प्रादुर्भूत पदार्थों को हम भक्षण किया करते हैं, अतः प्रादुर्भाव तथा अदन (भक्षण) इन दोनों अर्थों का इसमें समन्वय हो जाता है। अब प्रश्न आध्यात्मिक क्षेत्र का आता है। उपर्युक्त धात्वर्थों के आधार पर ज्मा शब्द को शरीररूपी पृथ्वी में सुचारु रूप में घटाया जा सकता है। परन्तु हमारे विचार में शरीर के क्षेत्र में ज्वलनशील जमत् से भी बनाया जा सकता है (जमत् ज्वलतो नाम निघ० १.१७) जमदग्नि में (प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा। निघ० ७.२४) प्रकृष्ट ज्वलन (प्र+जमत्) है। यह सामान्य अग्नि का ज्वलन नहीं है। चिन्ता, शोक, काम, क्रोध, आदि अग्नियाँ कही जाती हैं। इन्हें प्र+जमत् के क्षेत्र में नहीं मान सकते। शरीर में काम-क्रोध आदि अग्नियाँ भी प्रज्वलित रहती हैं। इस दृष्टि से यह शरीर भी ज्मा है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पार पहुँचे हुए बृहस्पति व्यक्ति में काम, क्रोधादि इन सब अग्नियों का अन्त हो जाता है। जमु अदने धात्वर्थ के आधार पर अदन (अशन=will wish appetite) आदि का भी यहाँ

परिगणन हो सकता है। बृहस्पति अवस्था में पहुँचकर ये सब अग्नियाँ तथा बुभुक्षाएँ शान्त हो जाती हैं। इसी दृष्टि से कहा है—'बृहस्पतिप्रशमनादर्वाक् शान्तम्' बृहस्पति के प्रशमन से अर्वाक् अर्थात् नीचे के अंगों की वासनाएँ आदि सब अग्नियाँ शान्त हो जाती हैं 'ज्मः अन्तान्' कामादि अग्नियों की ज्वलनशीलता की समाप्ति पर ही बृहस्पति का स्थान है। यह इस वचन से भी सिद्ध है 'ये अंगारा आसंस्ते अंगिरसोऽभवन् यदंगाराः पुनरवशान्ता उद्दीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्' ऐ० ब्रा० ३.३४ अर्थात् अंगों के रस ही अंगारे कहलाते हैं। ये शान्त होकर जब पुनः प्रदीप्त होते हैं तब बृहस्पति का रूप होता है। अंगारे अंगों के रस हैं, इन रसों में काम, क्रोध आदि अग्नियाँ प्रज्वलित रहती हैं। बृहस्पति-अवस्था में ये अग्नियाँ शान्त होनी चाहिएँ। यही बात 'यस्तस्तम्भ सहसा विज्मो अन्तान्' में कही गई है। अर्थात् वह बृहस्पति शरीर की चिन्ता काम, क्रोध आदि ज्वालाओं के अन्तों को थामे रखता है। अतः पृथ्वी व शरीर को ज्मा इसलिए कहते हैं कि यह पृथ्वी गति, अन्नादि की उत्पत्ति, भक्षण सब प्रकार की वासनाओं, कामनाओं की क्रीड़ा स्थली होती है।

मन्द्रजिह्वम्—मन्द्रजिह्व मन्द्रध्वनि का वाचक है। निरुक्त में इसके जो मोदन-जिह्व या मादनजिह्व अर्थ किये हैं वे हमारी दृष्टि में गौण अर्थ हैं। क्योंकि बृहस्पति ब्राह्मणों का अधिपति है, ब्राह्मणों के लिए यह विधान है कि 'विवक्षत इव ते मुखं ब्रह्मन् मा त्वं वदो बहु' यजु० २३.२५। हे ब्रह्मन्! तेरा मुख ही स्वयं बोल रहा है अतः बहुत मत बोल। और दूसरे बृहस्पति ब्राह्मण है इसका छन्द गायत्री है और प्रातःसवन है। प्रातः काल मन्द्रध्वनि से ही बोलना चाहिए। मन्द्र का भाव धीमा व स्वल्प है। 'मोदनजिह्व' या 'मादनजिह्व' अर्थ होने पर यह भाव लिया जा सकता है कि बृहस्पति अवस्था में एक आनन्द व मस्ती होती है। जिस आनन्द का प्रकाश जिह्वा द्वारा होता रहता है।

रवेण त्रिषधस्थः—अपनी ध्वनि द्वारा वह बृहस्पति ऊर्ध्व में तीनों मस्तिष्कों में स्थित रहता है अर्थात् उसके तीनों मस्तिष्क अनावृत हो जाते हैं। वहाँ कुछ भी प्रच्छन्न नहीं रहता। ऐसे अन्तः शरीर में विद्यमान बृहस्पति रूप को अथवा बृहस्पति रूपी परमात्मा को पुरातन ऋषि लोग ध्यान द्वारा प्रत्यक्ष करते थे। श्री अरविन्द की दृष्टि से 'त्रिषधस्थ' का भाव यह है कि वह अपनी ध्वनि व दिव्य शब्दों द्वारा मन, प्राण तथा स्थूल शरीर में स्थित रहता है अर्थात् तीनों समन्वित होकर एक स्वर निकालते हैं।

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम्॥२॥

(**बृहस्पते**) हे बृहस्पति! (**ये**) जो (**धुनेतयः**) पापादि शत्रुओं को कंपाने वाले अथवा आन्तरिक गतिवाले (**मदन्तः**) दिव्य आनन्द में मस्त विद्वान् हैं वे (**सुप्रकेतं**) श्रेष्ठ व प्रकृष्ट ज्ञान को (**नः अभि**) हमारी ओर (**ततस्रे**) फैला रहे हैं अथवा ज्ञान प्रदान द्वारा हमें अलंकृत कर रहे हैं। हे बृहस्पति! (**पृषन्तं**) सिंचन में समर्थ (**सृप्रं**) ज्ञान को प्रसृत

करने वाली (**अदब्धं**) अनीति आदि द्वारा न दबने वाली (**ऊर्वं**) महान् (**अस्य**) इस दिव्य ज्ञान के (**योनिं**) उत्पत्ति स्थान की आप (**रक्षतात्**) रक्षा करें।

इस मन्त्र में शिक्षणालय व योगाश्रम के सम्बन्ध में कहा गया है। इसमें निम्न शब्द विचारणीय हैं।

धुनेतयः—**ये धुनान् धर्मात्मनां कम्पकान् कम्पयन्ति ते**—स्वामी दयानन्द।
धुनां शत्रूणां कम्पयित्री गतिर्येषां ते—सायणाचार्य।
अपनी गति के अन्तर्गत के कम्पनों से कम्पित होते हुए—श्री अरविन्द। स्वामी दयानन्द की व्युत्पति के आधार पर धुनेतयः वे व्यक्ति हैं जो धर्मात्माओं को कंपाने वालों अर्थात् तंग करने वालों को नष्ट करते हैं। सायणाचार्य के अनुसार जिनकी गति शत्रुओं को कंपाने वाली है, वे धुनेतयः कहलाते हैं। इस प्रकार दोनों के अर्थों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। हमारे विचार में आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इसका एक भाव और भी हो सकता है, वह यह कि धुनि नदी का नाम है (धुनयः नदीनाम। नि० १.१३। धुनि धुनोतेः निघ० ५.१३ नदी को धुनि इस कारण कहते हैं कि वह कम्पन करती हुई चलती है। कूड़ा करकट व मल आदि को बहा ले जाती है। इसी प्रकार शरीर में रस, रक्त आदियों को प्रवाहित करने वाली नाड़ियाँ भी धुनि अर्थात् नदी हैं। इस नस-नाड़ियों में से सब प्रकार के मलों व विषों को बाहिर करने वाले व्यक्ति भी धुनेतयः कहे जा सकते हैं। इनका मुख्य कार्य शरीर का शोधन करना होता है। इसका एक और भी भाव हो सकता है कि अपराध करने पर जो शिष्य को धुनते हैं, दण्ड देते हैं। भारतीय शिक्षण-पद्धति में अपराध पर दण्ड देना आवश्यक है।

ततस्रे—यह तसि भूष अलंकरणे से निष्पन्न होता है। स्वामी दयानन्द ने तसु उपक्षये से माना है।

शिष्य को सुघड़ बनाना, ज्ञान-विज्ञान द्वारा अलंकृत करना यह भाव इससे लिया जा सकता है। उपक्षय अर्थ में अज्ञानादि दोषों का विनाश कर शिष्य को ज्ञानी व सच्चरित्र बनाना। इस प्रकार 'ततस्रे' में धातु प्रयोग से ये उपर्युक्त दोनों भाव ग्रहण किये जा सकते हैं।

योनिम्—योनि उत्पत्ति-स्थान को कहते हैं। बाह्य दृष्टि से शिष्य के उत्पत्ति स्थान शिक्षणालय का भी यहाँ ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु इसका असली अर्थ मस्तिष्क का वह केन्द्र है, जहाँ कि दिव्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है। शिक्षणालय कैसा होना चाहिए यह निम्न विशेषणों से ज्ञात होता है।

पृषन्तम्—इस पद की निष्पत्ति विद्वान् लोग निम्न धातुओं से करते हैं—पृषु सेचने (भ्वादि), पृष स्नेहनसंवनपूरणेषु (क्र्यादि), प्रुष दाहे, प्रच्छ (ज्ञीप्सायाम्) (स्कन्द-महेश्वर) उपर्युक्त धातुओं के आधार पर शिक्षणालय में निम्न बातें

होनी चाहिएँ। वहाँ ज्ञान-विज्ञान का सिंचन होता हो, वातावरण स्नेह से परिपूर्ण हो, शिष्य उसे सेवनीय समझें, उससे दूर न भागें, और वह सर्व प्रकार की सुविधाओं से भरपूर हो, सर्व प्रकार के दोष दग्ध करने की क्षमता हो तथा शिष्यों में ज्ञान-लिप्सा भी होनी आवश्यक है।

सृप्रम्—प्रगतिशील हो (सृप्लृ गतौ) तथा अदब्धम्-आसुरी शक्तियों से अभिभूत न हो।

ऊर्वम्—महान् हो।

योनि-सम्बन्धी इन उपर्युक्त विशेषणों के आधार पर हम मस्तिष्क सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान के केन्द्र का चित्र इस प्रकार खींच सकते हैं। मस्तिष्क रूपी योनि में दिव्य-ज्ञान-रस 'पृषन्तम्' बूँद-बूँद करके अवतरित होता है अथवा सर्पणगति से भी आ सकता है। जिस समय यह योनि उद्घाटित हो जाती है तब इसे कोई आवृत नहीं कर सकता। यह अदब्ध अघर्षणीय होती है और महान् होती है, यह सब बृहस्पति रूपी दिव्य गुरु की कृपा से होता है।

सुप्रकेतम्—सुष्ठु प्रकेतनम्, प्रकेतनं प्रज्ञाततमम्। नि० २.१६

प्रकृष्टसंज्ञा व प्रकृष्ट प्रज्ञा।

बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो निषेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥३॥

हे बृहस्पति! (**या**) जो (**परमा**) सर्वोत्कृष्ट (**परावत्**) अन्तः प्रदेश अथवा अत्यन्त दूरस्थ पराचेतन के प्रदेश हैं। (**अतः**) उन प्रदेशों से (**ते**) तेरी (**ऋतस्पृशः**) ऋत का स्पर्श की हुई अर्थात् ऋत से सनी हुई किरणें तेरी (**आनिषेदुः**) हमारे अन्दर आकर विराजमा न हों। (**तुभ्यं**) तेरे लिए (**अद्रिदुग्धाः**) अद्रि रूप प्राणों द्वारा दोहनं किये गये (**अवताः**) मस्तिष्क के ये कूप (**खाताः**) खोदे गये हैं, इनमें तू मधुज्ञान-रस को भर दे। तत्पश्चात् (**विरप्शं अभितः**) विविध प्रकार से स्तुति करने वाले भक्त के चहुँ ओर ये कूप (**मध्वः श्चोतन्ति**) मधुरस को प्रवाहित करते हैं अर्थात् भक्त के चहुँ ओर से मधुरस का प्रवाह फूट पड़ता है।

बृहस्पति का 'परमा परावत्' नाम का प्रदेश परमव्योम है। यह परमव्योम हृदय की गहराइयों में तथा मस्तिष्क द्वारा द्युलोक के ऊर्ध्वतम प्रदेश में पहुंच कर प्राप्तव्य है। इस परमव्योम में ऋत की धाराएं सतत रूप में प्रवाहित रहती हैं। मानव बृहस्पति की शक्तियाँ इस परमव्योम में पहुंचती हैं और वहाँ से ऋतोदक भरकर लाती हैं (ऋत-स्पृशः) और शिष्य के मस्तिष्क में उड़ेलती हैं। मस्तिष्क में चार कूप हैं (four ventricals) जिनमें ऋतोदक भरा जाता है। इन्हें मन्त्र में 'अवताः' कहा गया है। बृहस्पति इन कूपों को अपनी शक्ति से भरता है। अब इनमें मधुरस भरा जाये तथा चहुं ओर प्रवाहित हो, इसका उपाय यह है कि इन पर अद्रि नामक प्राणों (प्राणा वा अद्रयः) का प्रहार हो, और हमारी चेतना सब ओर से सिमटकर पूर्ण रूप से जब मस्तिष्क में

केन्द्रित हो जाती है तब इनका दोहन होता है। जब अद्रि रूप प्राणों द्वारा दोहन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है तब मधुमय रस प्रवाहित होने लगता है। यह मधु शब्द दिव्य आनन्द व दिव्य ज्ञान का वाचक है। अद्रि प्राण वे हैं जो कभी विदीर्ण नहीं होते, बिखरते नहीं प्रत्युत केन्द्रित होकर घनीभूत हो जाते हैं। अपने आप तो विदीर्ण नहीं होते पर दूसरे को विदीर्ण करते हैं। अतः व्युत्पत्ति की जाती है आदृणाति एतेन—नि० ८।८। अद्रिदुग्धा का एक अन्य भाव भी हो सकता है वह यह कि अद्रि से दोहन किये गये। अद्रि पर्वत का वाचक है (गिरिर्वा अद्रिः। श० प० ७।५।२।१८)। यह सर्वोच्चता के शिखर को द्योतित करता है, चित्त द्वारा द्युलोक के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचकर (दिवस्पष्ठमधितिष्ठन्ति चेतसा ऋ० ६।८३।२) वहाँ से ऋतात्मक मधुरस को लाते हैं और मस्तिष्क के इन कूपों में भरते हैं। दुग्धः—दुह् प्रपूरणे से बनता है। इस आधार पर दोहन का अर्थ होगा भरना। जब ऋतोदक व मधुरस से ये कूप भर जायेंगे तब उनमें से मधुरस चहुं ओर चूने लगेगा। (मध्वः श्चोतन्ति)। अद्रि का मेघ अर्थ करने पर ये मधु के मेघ होंगे जहाँ से कि मधुरस बरसेगा।

अद्रे मेघात पर्वतेभ्यो वा प्रपूरिताः —स्वामी दयानन्द।

परावत्—परावत् का सामान्य अर्थ है दूर देश। परन्तु प्रश्न यह है कि दूर देश कितनी दूरी का? इस सम्बन्ध में प्राचीन शास्त्रकारों ने कहा है कि **'अन्तो वै परावतोऽन्तस्तृतीयमहः—अमुं लोकं तृतीयेनाह्नाऽऽप्नुवन्ति'**। ऐ० ब्रा० ५।२, कौ० २२।५, २३।७ अर्थात् परावत् अन्त को कहते हैं किसका अन्त पार्थिवलोक का अन्त; जिसको कि तृतीय अहन् से प्राप्त किया जा सकता है। अध्यात्मक्षेत्र में श्री अरविन्द के शब्दों में यह परमा परावत् पराचेतन का परम है। उपनिषदों का परम परार्ध है जहाँ सच्चिदानन्द की सत्ता है।

अवताः=कूपाः—अवत इति कूपनामसु पठितम्। नि० ३।२३। **अवत अवाततः**। नि० ५।२७ **अवपूर्वकात् अत सातत्यगमने**—अवत वे कूप हैं जिनका वारि-प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है। शरीर में ये मस्तिष्क के चार द्रव कूप (four ventricals) हैं। यह हम अन्यत्र दर्शा चुके हैं।

विरप्शम्—विविधस्तुतियुक्तं, विविधेन स्तुतिवचनेन स्तुतिं करोति यः तम्।

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ।।४।।

वह बृहस्पति (**प्रथमं**) सर्व प्रथम (**परमे व्योमन्**) परम व्योम में (**महोज्योतिषः**) महान् ज्योति से (**जायमानः**) पैदा हुआ अथवा महान् ज्योति के परम व्योम में सर्व प्रथम पैदा हुआ (**सप्तास्यः तुविजातः**) चेतना के सप्त मुखी रूप में नाना रूप से पैदा हुआ। (**सप्तरश्मिः**) सप्तरश्मि वाला वह (**रवेण**) ध्वनि द्वारा (**तमांसि वि अधमत्**) अन्धकारों व अज्ञानों को दूर कर देता है।

श्री अरविन्द की दृष्टि में परमव्योम उच्च पराचेतन का सर्वोच्च धाम है और

महान् ज्योति सत्य चेतना का प्रकाश है ।

हमारे शरीर में मस्तिष्क और हृदय ये दो परम व्योम के धाम हैं ।

सप्तास्यः सप्तरश्मिः—यह सत्य चेतना जब प्रकट होती है, तब इसके सप्त मुख होते हैं और इन मुखों द्वारा ज्ञान की सप्त किरणें बाहिर की ओर प्रवाहित होती हैं। ये सप्त किरणें सप्त छन्दात्मक ध्वनि करती हुई बाहिर की ओर प्रसृत होती हैं इससे सर्व जगत् का अन्धकार तथा शरीर में सर्व प्रकार का अज्ञानान्धकार विलीन हो जाता है।

सप्त प्राणा आस्ये यस्य सः—दयानन्द ।

सप्तछन्दात्मक वाक्—सायणाचार्य ।

अथवा सप्तास्य अयास्ये का ही दूसरा नाम है ।

२ कान + २ नासिका + २ आँख + १ मुख ये सातों जिस आन्तरिक मुख व स्थान में केन्द्रित होकर सत्य चेतना को प्रकाशित करने के लिए सप्तरश्मि द्वारा अपने गोलकों में पहुँचते हैं तो यह सब बृहस्पति का ही कार्य है ।

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण ।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ।।३।।

(**सः**) वह बृहस्पति (**सुष्टुभा**) उत्तम रूप में मन का स्तम्भन करने वाले स्तोत्रों व साधनों द्वारा (**ऋक्वता गणेन**) स्तुतिपरक ऋचाओं के समूह से (**फलिगं**) दिव्य ऐश्वर्य व गोधन आदि फल जहाँ विद्यमान हैं ऐसे स्थानों में गमन करने वाले अथवा फलाभिलाषा से किये गये कर्मों में विद्यमान (**वलं**) वलासुर को (**रवेण**) शब्द व ध्वनि द्वारा (**रुरोज**) भग्न कर देता है—(**हव्यसूदः**) हव्य का भक्षण करने वाले उस (**वृषभः**) वृषभ रूप बृहस्पति ने (**कनिक्रदत्**) क्रन्दन करते हुए (**वावशतीः**) रम्भाती हुई (**उस्रियाः**) गौओं को (**उदाजत्**) गुहा से बाहिर निकाला ।

फलिगम्—फलं दिव्यमैश्वर्यादिकं वा ऽ त्रास्तीति फलि तद् गच्छत्यावरणरूपेण आप्नोतीति फलिगम् । माधवस्तु फलिर्भेदनकर्माऽपि भिन्दन् गच्छति फलसंयुक्तो गच्छतीति वा । निघ० दुर्ग १.१७ ।

वावशतीः—पुनः पुनः वाश्यमानाः । वाशृ शब्दे ।

वलम्—वल के संबंध में श्री अरविन्द लिखते हैं कि "वल वह शत्रु व दस्यु है जो अपने बिल, अपनी गुफा (बिलं गुहा) में प्रकाशकी गौओं को रोक लेता है वह अवचेतन का मूर्तरूप है । वल अपने आपमें अन्धकारपूर्ण या अचेतन नहीं है किन्तु अंधकार का कारण है, बल्कि अधिक ठीक तो यह है कि उसके अन्दर का पदार्थ प्रकाश वाला है, वलं गोमन्तम्, वलं गोवपुषम् किन्तु वह उस प्रकाश को अपने अन्दर ही रोक रखता है और इसकी सचेतन अभिव्यक्ति को नहीं होने देता। उसे तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देना आवश्यक होता है। ताकि उसके अन्दर छिपी पड़ी हुई ज्योतियाँ मुक्त होकर बाहिर आ सकें।"

उस्रियाः—उस्रियेति गो-नाम। उस्राविणोऽस्यां भोगाः। नि० ४.४२। उत्स्राव्या यद्वा मानवस्योत्स्राविण उत्प्रेरयितार उन्नेतारः सन्ति उत्+सृ गतौ। निरुक्तसम्मर्श।

हव्यसूदः—यो हव्यानि सूदयति क्षरयति सः। स्वामी दयानन्द।

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥६॥

(**वृषणे**) ज्ञान व सुख की वर्षा करने वाले (**पित्रे**) पितृतुल्य (**विश्वदेवाय**) विश्व के देवता अथवा विश्वदेव रूप बृहस्पति के लिए (**यज्ञैः**) श्रेष्ठ कर्म रूपी यज्ञों से, (**नमसा**) नमन से तथा (**हविर्भिः**) हवियों से (**एवा**) इस प्रकार (**विधेम**) परिचर्या करें जिससे कि (**सुप्रजः**) उत्तम सन्तति वाले तथा (**वीरवन्तः**) वीर पुरुषों वाले होकर (**वयं**) हम (**रयीणां पतयः स्याम**) ऐश्वर्यों के स्वामी बनें।

बृहस्पति आचार्य शिष्यों के प्रति ज्ञान की वर्षा करता है, ज्ञान में ही सच्चा सुख है। ज्ञान में ही मनुष्य की नवीन उत्पत्ति व द्वितीय जन्म होता है। इसलिए शिष्यों का असली पिता बृहस्पति आचार्य ही है। विश्वदेव उसी में निवास करते हैं, उसी की कृपा से सब देव शिष्य में भी उद्बुद्ध होते हैं। इसका उपाय है यज्ञीय जीवन बनाना, उसके प्रति नमन करना, सदा नम्र रहना, तथा अन्नादि हवि प्रदान करना। जिस समय बृहस्पति की कृपा से शिष्य सुघड़, शक्ति-सम्पन्न तथा सर्वोच्च विद्वान् बन जाता है तब उसकी सन्तति भी उत्तम तथा वीर होती है और वीरपुरुषों को ही समग्र ऐश्वर्य की उपलब्धि होती है।

स इद् राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभिवीर्येण।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्॥७॥

(**स इत् राजा**) वह ही राजा (**शुष्मेण**) अपने बल से तथा (**वीर्येण**) पराक्रम से (**विश्वा**) सम्पूर्ण (**प्रतिजन्यानि**) शत्रु बलों पर (**अभितस्थौ**) हावी हो जाता है, वह कौन-सा राजा? (**यः**) जो (**बृहस्पतिं सुभृतं बिभर्ति**) बृहस्पति का उत्तम रूप से भरण पोषण करता है। (**वल्गूयति**) अर्चना करता है, और (**पूर्वभाजम्**) सबसे पूर्व भजनीय अर्थात् सेवनीय इस बृहस्पति की (**वन्दते**) स्तुति करता है, वन्दना कर रहा है।

सपत्ना वै द्विषन्तो भ्रातृव्या जन्यानि। ऐ० ब्रा० ८.२७

प्रतिजन्यानि—जन्यं युद्धं प्रति बलानीत्यर्थः प्रत्यर्थि जनपदानि वा—सायणाचार्य। प्रत्यक्षेण जनितुं योग्यानि— स्वामी दयानन्द।

वल्गूयतीत्यर्चतिकर्मा। निघ० ३।१४।

ऐतरेय ब्राह्मण में आता है कि 'इदमाद्यृक्त्रयं पुरोहितप्रशंसा—ऐ० ब्रा० ८।२ अर्थात् इस ७वें मन्त्र से ९वें मन्त्र तक पुरोहित की प्रशंसा की गई है और इन मन्त्रों

की व्याख्या भी वहाँ आती है। बृहस्पति देवों का पुरोहित है उसी की अनुकृति में राजाओं के पुरोहित को भी बृहस्पति कह दिया जाता है।

स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इडा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति।।८।।

(**स इत्**) वह ही राजा (**सुधितः**) अच्छी प्रकार तृप्त हुआ-हुआ (**स्वे ओकसि**) अपने स्थान में, घर में या प्रदेश में (**क्षेति**) निवास करता है (**तस्मै**) उसके लिये (**इडा**) अन्नवाली भूमि (**विश्वदानीं**) सदा (**पिन्वते**) ऐश्वर्य प्रदान करती है (**यस्मिन् राजनि**) जिस राजा के यहाँ (**ब्रह्मा**) ब्राह्मण (**पूर्व एति**) सब कर्मों में अग्रसर होता है (**तस्मै**) उस राजा के प्रति (**विशः**) प्रजाएँ (**स्वयमेव नमन्ते**) स्वयमेव नमन करती हैं।

ओकः—गृहा वा ओकः। ऐ० ब्रा० ८।२७
इडा—अन्नं वा इडाऽन्नमेवास्मा एतदूर्जस्वच्छश्वद् भवति। ऐ० ब्रा० ८।२७
विशः—राष्ट्राणि वा विशः। ऐ० ब्रा० ८।२७

इस मन्त्र में ब्रह्मा शब्द बृहस्पति के लिए आया है। क्योंकि मन्त्र का देवता बृहस्पति है। यहां ब्रह्मा पद ब्राह्मण की ओर भी इंगित कर रहा है। इस प्रकार बृहस्पति ब्रह्मा तथा ब्राह्मण तीनों समानार्थक हैं। इस मन्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय किस प्रकार करना चाहिए। 'यत्र ब्रह्मचक्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह' में जो ब्रह्म और क्षत्र के मेल का निर्देश है, उसकी प्रक्रिया व स्वरूप इन मन्त्रों (७ से ९ तक) में दर्शा दी है। संक्षेप में वह यह है कि राजा व यजमान अपने सब कार्यों में, राष्ट्र-कार्यों में भी ब्राह्मण को आगे रखे।

विशः—शब्द सामान्य प्रजा का वाचक है, पर ऐ० ब्रा० की दृष्टि से राष्ट्र की ओर भी इसका संकेत है।
इडा—इडा अन्न का तथा अन्नोत्पादक भूमि का वाचक है।
क्षेति—क्षि निवासगत्योः।

अप्रतीतो जयति संधनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः।।९।।

यह पुरोहित युक्त राजा (**अप्रतीतः**) शत्रुओं से अपराजित (**प्रतिजन्यानि**) शत्रु जनों के वैयक्तिक (**उत**) और (**सजन्या**) सामूहिक (**धनानि**) धनों को (**संजयति**) सम्यक् प्रकार से जीत लेता है। (**यः**) जो राजा (**अवस्यवे ब्रह्मणे**) रक्षा के इच्छुक ब्राह्मण की (**वरिवः कृणोति**) परिचर्या करता है (**तं देवा अवन्ति**) उस राजा की देव रक्षा करते हैं।

सपत्ना वै द्विषन्तो भ्रातृव्या जन्यानि। ऐ० ब्रा० ८.२७

प्रतिजन्यानि—जनं जनं प्रति योग्यानि—स्वामी दयानन्द ।
प्रतिस्पर्धि जनसम्बन्धीनि—सायणाचार्य ।
प्रतिजनभवानि—वेंकट ।

सजन्या—समानजनसम्बन्धीनि—समानं जनः सजनः तत्रभवानि, समानैर्जनैः सह वर्तमानानि—स्वामी दयानन्द ।

इस मन्त्र में ब्राह्मणों की रक्षा करना, उनका भरण पोषण करना राजा का कर्तव्य बताया गया है ।

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू ।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नियच्छतम् ।।१०।।

(**बृहस्पते इन्द्रश्च**) हे बृहस्पति आचार्य ! वह राजा और तुम, दोनों (**मन्दसाना**) प्रसन्न चित्त हुए-हुए तथा (**वृषण्वसू**) बलिष्ठ वीर पुरुषों को बसाने वाले होकर (**अस्मिन् यज्ञे**) इस राष्ट्रयज्ञ में (**सोमं पिबतम्**) ऐश्वर्य रस का पान करो (**वां**) तुम दोनों के प्रति (**स्वाभुवः**) स्वयं उत्पन्न (**इन्दवः**) सोम सम्बन्धी ऐश्वर्य (**आ विशन्तु**) प्राप्त हों (**अस्मे**) हमें (**सर्ववीरं रयिं**) सर्व प्रकार के वीरता युक्त ऐश्वर्य को (**नियच्छतम्**) प्रदान करो ।

वृषण्वसू—यौ बलिष्ठान् वीरान् वासयतस्तौ । स्वामी दयानन्द
स्वाभुवः—ये स्वयं भवन्ति ते ।

यहाँ इस मन्त्र में इन्द्र से राजा का ग्रहण करना चाहिए, परन्तु इन्द्र-सम्बन्धी दिव्यता यहाँ अभिप्रेत है ।

बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे ।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरन्धीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः ।।११।।

(**बृहस्पते**) हे बृहस्पति ! (**इन्द्र**) ऐश्वर्य-सम्पन्न राजन् (**वां**) तुम दोनों (**नः वर्धतम्**) हमें बढ़ाओ । (**सा सुमतिः**) वह आपकी सुमति (**अस्मे सचा भूतु**) हमारे साथ होवे (**धियः अविष्टं**) हमारे ज्ञान व कर्म की रक्षा करे (**पुरन्धीः जिगृतम्**) बहुज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न बुद्धियों को प्रबुद्ध करो या उपदेश से प्रवृद्ध करो । (**वनुषां**) आपके सेवकों के (**अरातीः**) जो शत्रु हैं उनको (**अर्यः**) इन्द्र तथा तुम दोनों (**जजस्तम्**) विनष्ट करो ।

पुरन्धीम्—बहुविद्याधरा तां प्रज्ञाम् ।
जिगृतम्—उपदेशयतम्, प्रबुद्ध्यताम्, प्रकाशयतम् । (गृ शब्दे)
जजस्तम्—योधयतम्, युध्यतम्, उपक्षपयतम् ।
अर्य इति ईश्वर-नाम । निघ० २.२२ ।

ऋ० मं० ५ । सू० ४२

ऋषिः भौमोऽत्रिः । देवता विश्वेदेवाः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

उपस्तुहि प्रथमं रत्नधेयं बहस्पतिं सनितारं धनानाम् ।
यः शंसते स्तुवते शम्भविष्ठः पुरूवसुरागमज्जोहुवानम् ॥७॥

(प्रथमं) सर्वप्रथम **(रत्नधेयं)** सर्वविध रमणीयता व विद्यादि रत्नों को धारण कराने वाले **(धनानां सनितारं)** धनादि ऐश्वर्यों अथवा आध्यात्मिक धनों को सम्यक् प्रकार से देने वाले उस बृहस्पति की **(उपस्तुहि)** स्तुति कर **(यः)** जो बृहस्पति **(शंसते)** शंसन करने वाले तथा **(स्तुवते)** स्तुति करने वाले का **(शम्भविष्ठः)** अत्यन्त कल्याण करने वाला है । **(पुरूवसुः)** अत्यधिक वसु-सम्पन्न वह बृहस्पति **(जोहुवानं)** बार-बार आह्वान करने वाले को **(आगमत्)** प्राप्त होता है ।

हमारे विचार में इस मन्त्र में रत्न और धन से भौतिक ऐश्वर्य का ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है । क्योंकि बृहस्पति आचार्य आध्यात्मिक धन का धनी होता है, भौतिक ऐश्वर्य का नहीं । ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचर्य के प्रभाव से शरीर में जो लावण्य व रमणीयता प्रकट होती है, प्राण, मन व आत्मा में जो दिव्यता का प्रस्फुटन होता है, वे ही आध्यात्मिक रत्न हैं । इसी भाँति दिव्य गुणों तथा शक्तियों का उपार्जन दिव्य धन की प्राप्ति कही जा सकती है । इस प्रकार के अनन्त ऐश्वर्य का वह बृहस्पति स्वामी है । इसलिए उसे पुरूवसुः कहा गया है ।

शम्भविष्ठ—शं सुखस्य कल्याणस्य वा भावयितृतमः ।

जोहुवनाम्—आह्वयन्तम् ।

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः ।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः ॥८॥

(बृहस्पते) हे बृहस्पति आचार्य ! **(तव ऊतिभिः सचमानाः)** तेरी रक्षाओं को प्राप्त हुए-हुए शिष्य वर्ग **(अरिष्टाः)** अहिंसित **(मघवानः)** ऐश्वर्य-सम्पन्न तथा **(सुवीराः)** उत्तम वीर होते हैं । **(ये अश्वदा, वस्त्रदा उत गोदाः सन्ति)** जो अश्व, गौ तथा वस्त्रों का दान करने वाले हैं वे **(सुभगाः)** सौभाग्यशाली हैं **(तेषु रायः)** उन्हीं में सर्व प्रकार का ऐश्वर्य विद्यमान रहता है ।

इस मन्त्र में यह बताया गया है कि ऐश्वर्यशाली बनने के लिए अश्व, गौ, वस्त्रादि का मनुष्य को दान करते रहना चाहिए । यह दान की भावना बचपन में आचार्य बृहस्पति के शिष्यत्व में ही पैदा की जा सकती है ।

विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः ।
अपव्रतान् प्रसवे वावृधानान् ब्रह्मद्विषः सूर्याद्यावयस्व ।।६।।

हे बृहस्पति (**ये**) जो (**नः**) हमें (**अपृणन्तः**) न देते हुए (**भुञ्जते**) स्वयमेव भोगते हैं। (**एषां वित्तं**) इनके धन को तू (**उक्थैः**) उक्थ नामक साधनों से (**विसर्माणं कृणुहि**) विसरणशील व विनश्यमान कर दे। (**प्रसवे**) शिक्षणालय से उत्पत्ति के समय अर्थात् स्नातक बनने के समय (**अपव्रतान्**) व्रत का पालन न करने वाले तथा (**वावृधानान्**) वृद्धि को पाते हुए (**ब्रह्मद्विषः**) ब्रह्मद्वेषियों को (**सूर्यात्**) विद्या-सूर्य से (**यावयस्व**) पृथक् कर दे अर्थात् अज्ञानान्धकार में डाल दे।

उक्थम्—उक्थैरुदस्थापयन् तदुक्थानामुक्थत्वम्। तै० २.२.८.७

एष हीदं सर्वमुत्थापयति। श० प० १०.५.२.२०

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि उक्थ का उक्थत्व उत्थापन में है, उठना, उठाना, उन्नति करना इत्यादि। परन्तु इस स्थल पर यह 'उक्थ' शब्द अभिचार रूप में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। अर्थात् जो व्यक्ति अन्यों को न देकर स्वयं उपभोग करता है उसके वित्त को बृहस्पति उक्थों द्वारा उसके पास से चलायमान कर देता है।

विसर्माणम्—वि+सृ गतौ—चलायमान होना—छोड़कर चले जाना।

दूसरी बात इस मन्त्र में यह कही है कि जो विद्यार्थी बृहस्पति द्वारा निर्दिष्ट आश्रम के व्रतों व नियमों का पालन न कर उन्हें तोड़ते हैं, और खूब पनप रहे हैं, उन्हें सूर्य-प्रकाश से पृथक् कर दें। यहाँ पर सूर्य विद्या, बुद्धि शब्दों से उच्चरित सूर्य है अर्थात् तू उनकी बुद्धि हरले, जिससे वे अज्ञानान्धकार में पड़कर विनष्ट हो जाएँ।

ऋ० मं० ६। सू० ७३

ऋषिः **बार्हस्पत्यो भारद्वाजः**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ।।१।।

(**यः**) जो बृहस्पति (**अद्रिभित्**) पर्वत तुल्य दृढ़ ज्ञानावरणों का भेदन करने वाला (**प्रथमजा**) दिव्य शक्तियों से प्रथम उत्पन्न (**ऋतावा**) ऋतम्भरा प्रज्ञावाला (**आंगिरसः**) अंगिरा का पुत्र (**हविष्मान्**) हवि ग्रहण करने वाला (**द्विबर्हज्मा**) हृदय और मस्तिष्क इन दोनों स्थानों में प्रवृद्ध शक्तिवाला (**प्राघर्मसत्**) चहुँ ओर प्रकृष्ट तेज फैलाने वाला (**वृषभः**) ज्ञान की वर्षा करने वाला (**पिता न**) पितृतुल्य वह (**रोदसी आरोरवीति**) द्यावापृथिवी को शब्दायमान रखता है।

द्विबर्हज्मा—द्विबर्हा—द्वयोः स्थानयोः परिवृढो मध्यमे च स्थान उत्तमे च। नि० ६.१७

अर्थात् हृदय और मस्तिष्क रूपी इन दोनों स्थानों में अत्यन्त प्रवृद्ध द्विबर्हा होता है ऐसी प्रवृद्ध शक्ति वाला बृहस्पति है। इसी को 'द्विबर्हज्मा' पद से भी कहा गया है। इसकी व्युत्पत्ति स्वामी दयानन्द के अनुसार इस प्रकार है, "यो द्वाभ्यां बृंहतें स द्विबर्हः तेन द्विबर्हेण युक्ता ज्मा भूमिर्यस्य सः।" अर्थात् जो दो (हृदय-मस्तिष्क) से वृद्धि करता है वह द्विबर्ह कहाता है, ऐसी प्रवृद्ध भूमि वाला।

प्राघर्मसत्—यः प्रकृष्टं समन्तात् घर्मं प्रतापं सनति सः। स्वामी दयानन्द।

यह बृहस्पति द्यावापृथिवी दोनों को शब्दायमान रखता है। 'रोदसी रोरवीति'। शरीर में हृदय और मस्तिष्क ये दोनों गुञ्जायमान रहते हैं। ये दोनों शब्द-द्वारा सक्रिय रहते हैं। शिक्षणालय में हर समय शिक्षण के कारण कोलाहल रहता है। इस दृष्टि से भी बाह्य लोकों का ग्रहण हो जायेगा।

अद्रिभित्—अद्रिं भिनत्तीति—अद्रि कठ मुल्ले (Conservatives) को कहते हैं। ये अन्धविश्वासी होते हैं। यहाँ बुद्धि का प्रवेश नहीं, और ना ही विचारों की नमनीयता होती है।

जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार।
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूंरमित्रान् पृत्सु साहन् ॥२॥

(**यः बृहस्पतिः**) जो वेद-विज्ञान का स्वामी बृहस्पति (**ईवते**) प्रगतिशील (**जनाय चित्**) मनुष्य के लिए भी (**देवहूतौ**) देवों के आह्वान में (**लोकं चकार**) स्थान बना देता है। देव-दर्शन करा देता है। (**शत्रून् जयन्**) शत्रुओं को जीतता हुआ (**पृत्सु**) युद्धों में (**अमित्रान् साहन्**) अमित्रों का मर्षण करता हुआ (**वृत्राणि घ्नन्**) आवरणों को नष्ट करता हुआ (**पुरः**) शत्रुपुरों को (**विदर्दरीति**) अच्छी प्रकार खूब ही विदीर्ण कर देता है।

ईवते—ई गतौ, क्विप् मतुप्।

दर्दरीति दृ विदारणे।

जो व्यक्ति मन्द-सुस्त व आलसी नहीं होता, सदा सक्रिय रहता है अथवा अपने उद्देश्य के प्रति सदा जागरूक रहता है ऐसे व्यक्ति के देवाह्वान में बृहस्पति सहायक होता है। बृहस्पति उसे देवों के सत्य रूप का दर्शन करा देता है देवहूतौ लोकं चकार= दर्शयति)। आसुरी शक्ति के साथ युद्धों में शत्रुओं का विनाश करता है, वृत्ररूपी आवरण को भेदन कर उनके गुह्य स्थानों को विदीर्ण कर देता है।

बृहस्पतिः समजयद्वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः।
अपः सिषासन् त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ॥३॥

(**एषः देवः बृहस्पतिः**) इस दिव्य शक्तिसम्पन्न बृहस्पति ने (**वसूनि**) ऐश्वर्यों को तथा (**गोमतः**) गौ=इन्द्रियसम्बन्धी (**महो व्रजान्**) महान् दिव्य समूहों को

(**समजयत्**) जीता। (**अप्रतीतः**) किसी से न दबने वाला यह बृहस्पति (**स्वः**) मस्तिष्क-सम्बन्धी अथवा द्यु-सम्बन्धी (**अपः**) व्यापक शक्तियों की (**सिषासन्**) सेवन की इच्छा वाला [बाधा रूप] (**अमित्रं**) शत्रु को (**अर्कैः**) दिव्य किरणों से (**हन्ति**) विनष्ट कर देता है।

'गोमतः महोव्रजान्' आन्तरिक दिव्य शक्तियों के मनुष्य के अन्दर अनेक व्रज = बाड़े हैं, घेरे व कोठे हैं। इनमें वृत्रादि असुरों द्वारा दिव्य शक्तियाँ, जिन्हें कि वेद में गौ नाम से कहा गया है—छिपाकर रखी हुई हैं। ये 'गोव्रज' असुरों की पुरियाँ भी हैं, जिनका पूर्व मन्त्र में निर्देश हुआ है। बृहस्पति इन आसुरी पुरी को विदीर्ण करता है। गौओं के बाड़ों को खोलता है, इससे वे शक्तियाँ बाहिर निकल आती हैं।

सिषासन्—संभक्तुमिच्छन्।

अप्रतीतः—अप्रतिगतः, शत्रुभिरपराजितः।

अप्रतीतः का एक अर्थ अप्रतीयमान अगोचर भी है। बृहस्पति परमात्मा तो अगोचर है ही, पर मानव-मस्तिष्क में कोई बृहस्पति नामक दिव्य शक्ति है यह भी एक प्रकार से अप्रतीयमान ही है। कठिन साधना द्वारा बार्हस्पत्य शक्ति को जागृत किया जाता है।

ऋ० मं० ७। सू० ९७

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता १ इन्द्रः, २, ४-८ बृहस्पतिः, ३, ९ इन्द्राब्रह्मणस्पती, १० इन्द्राबृहस्पती। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे गमन्मदाय प्रथमं वयश्च॥१॥

(**दिवः यज्ञे**) द्यु, प्रकाश, ज्ञान तथा मस्तिष्क-सम्बन्धी यज्ञस्थली में (**पृथिव्याः नृषदने**) पृथिवी व स्थूल शरीर-सम्बन्धी प्राणों की यज्ञस्थली में अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम व आचार्यकुल में (**यत्र**) जहाँ (**देवयवः नरः**) देवत्व की कामना वाले मनुष्य (**मदन्ति**) दिव्य आनन्द में मस्त होते हैं (**यत्र**) जहाँ (**इन्द्राय**) इन्द्र-दिव्यमन के लिये (**सवनानि**) सवन = सोम-सवन (**सुन्वे**) [निचोड़े] किये जाते हैं ऐसे आचार्यकुल में (**प्रथमं वयः**) प्रथम आयु (**गमत्**) गुजारते हैं।

मानव-शरीर में द्यु-सम्बन्धी यज्ञ मस्तिष्क में होता है। बुद्धिवर्धन, ज्ञानोपलब्धि यह इस यज्ञ का स्वरूप है, यह यज्ञ आचार्यकुल में किया जाता है। दूसरा 'नृषदन' = नृ + सदन—मनुष्यों का सदन ब्रह्मचर्याश्रम ही है। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति यह है "प्राणो वै नृषत् मनुष्या नरस्तद् योऽयं मनुष्येषु प्राणाऽग्निस्तमेतदाह"। श०प० ६।७।३।११ अर्थात् यह नृषदन मनुष्य में होने वाली प्राणाग्नि है। प्राणाग्नि का वर्धन, पोषण व स्थायित्व

ब्रह्मचर्याश्रम में ही होता है। यहाँ पृथिवी शरीर का द्योतक है। और आयु का प्रथम भाग इस आचार्यकुल में व्यतीत होता है। जीवन में सर्वोत्तम आनन्द, दिव्यमस्ती इसी प्रथम आयु में प्राप्त होती है।

आ दैव्या वृणीमहेऽवांसि बृहस्पतिर्नो मह आ सखायः।
यथा भवेम मीढुषे अनागा यो नो दाता परावतः पितेव ॥२॥

(**सखायः**) हे मित्रो ! सहपाठियो ! हम (**दैव्या**) देव-सम्बन्धी (**अवांसि**) रक्षाओं की (**आ वृणीमहे**) याचना करते हैं (**बृहस्पतिः**) यह बृहस्पति आचार्य (**महे**) महान् बनाने के लिये (**नः**) हमारी (**आ**) सब ओर से रक्षा करता है। (**यथा**) जिससे हम (**मीढुषे**) ज्ञान-रस की वर्षा करने वाले इस बृहस्पति के प्रति (**अनागाः**) निष्पाप (**भवेम**) होवें। (**यः**) जो (**नः**) हमें (**पितेव**) पिता के तुल्य (**परावतः दाता**) अन्त का दाता अर्थात् अन्तिम सीमा तक पहुँचाने वाला है, अथवा पिता के तुल्य (**परावतः**) दूर देश से आकर (**दाता**) सब सुखों का देने वाला है।

परावतः—अन्तो वै परावतः। ऐ० ब्रा० ५।२।

दैव्या अवांसि—देव-सम्बन्धी रक्षाएं अर्थात् देवत्व प्राप्ति के मार्ग में जो बाधाएं आती हैं, उन्हें दूर कर वह बृहस्पति हमारी रक्षा करता है।

मीढुषे—मिह सेचने।

इस मन्त्र में बृहस्पति के प्रति पितृभावना का आदर्श रक्खा गया है। शिष्यों को निष्पाप बनाना, देवत्व की प्राप्ति कराना, तथा ज्ञान का सिञ्चन करना यह बृहस्पति का कर्तव्य है।

तमु ज्येष्ठं नमसा हविर्भिः सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे।
इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ॥३॥

(**ज्येष्ठं**) ज्येष्ठ तथा सर्वश्रेष्ठ (**सुशेवं**) उत्तम सुख देने वाले (**तं ब्रह्मणस्पतिं**) ब्रह्मशक्ति के स्वामी उस ब्रह्मणस्पति को (**नमसा**) नमन द्वारा तथा (**हविर्भिः**) हविरूप में अन्नादि प्रदान द्वारा (**गृणीषे**) स्तवन करता हूं। मेरा (**दैव्यः**) देवसम्बन्धी (**श्लोकः**) स्तुतिवचन (**महि इन्द्रं**) महान् इन्द्र को भी (**सिषक्तु**) सेवन करे (**यः**) जो कि (**देवकृतस्य**) देवनिर्मित (**ब्रह्मणः**) ब्रह्मशक्ति या मन्त्र का (**राजा**) राजा है।

शरीर में इन्द्र दिव्य मन का वाचक है। इसका सम्बन्ध हृदय से है और ब्रह्मणस्पति मन्त्रों, ज्ञान-विज्ञान तथा ब्रह्मशक्ति का स्वामी है, इसका सम्बन्ध मस्तिष्क से है। इस प्रकार हृदय और मस्तिष्क दोनों का यहाँ समन्वय हुआ है। मानव-जगत् में ब्रह्मणस्पति मन्त्रदाता आचार्य है, उसके प्रति शिष्य का नमन व नम्र होना और अन्नादि प्रदान द्वारा उसकी रक्षा व सेवा करना उसका कर्तव्य है। दूसरी तरफ इन्द्र राजा है। उसका भी श्लोक अर्थात् गुणानुवाद करना उपयुक्त है। इस मन्त्र से यह भी ध्वनित होता

है कि ब्रह्मशक्ति की सत्ता इन्द्र के अधीन है। वैसे शास्त्रों में ब्राह्मणों का राजा मनुष्य को नहीं माना है, कहा भी है कि "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" श० प० ५।४।२।३ सोम ही ब्राह्मणों का राजा है, परन्तु ऐसे वाक्यों के प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिये कि आधुनिक काल में न वे ब्राह्मण हैं और नाहीं वे क्षत्रिय हैं। मानव-राजा इन्द्र रूप में ही ब्राह्मणों का नियामक हो सकता है। उनकी रक्षा व सत्ता तथा उत्पत्ति भी राजा के अधीन होती है। ब्रह्म पद का अन्न अर्थ करने पर यह उपर्युक्त मन्त्र-भाग सामान्य तथ्य का निर्देशक हो जाता है।

स आ नो योनिं सदतु प्रेष्ठो बृहस्पतिर्विश्ववारो यो अस्ति।
कामो रायः सुवीर्यस्य तं दात् पर्षन्नो अति सश्चतो अरिष्टान्॥४॥

(**सः प्रेष्ठः बृहस्पतिः**) वह प्रियतमबृहस्पति (**यः विश्ववारः अस्ति**) जो कि विश्व से वरणीय है अथवा जिसने अपनी बुद्धि में विश्व को घेरा हुआ है वह (**नः**) हमारे (**योनिं**) उत्पत्तिस्थान अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में (**आसदतु**) आकर विराजमान हो। (**सुवीर्यस्य रायः**) उत्तम वीर्यरूपी ऐश्वर्य की (**कामः**) जो हमारी कामना है (**तं दात्**) उसे वह पूरी करे। (**सश्चतः**) उसके सम्पर्क में आये (**नः**) हमको (**अरिष्टान्**) अहिंसित करके वह (**अतिपर्षत्**) विघ्न-बाधाओं से पार लगावे।

प्रेष्ठः—ज्ञान-विज्ञान के अधिपति विद्यादाता आचार्य को सबसे अधिक प्रिय मानने का वेद आदेश देता है।

विश्ववारः—'यः विश्वं वृणोति विश्वैर्वरणीयः विश्वं व्रियते येन वा।' यह बृहस्पति सबसे वरणीय है। इसका दूसरा भाव यह है कि अपने बुद्धिवल से इसने समग्र विश्व का ज्ञान प्राप्त किया हुआ है।

सश्चतः—षच् समवाये, षच् सेवने वा। सश्चतिर्गतिकर्मा। निघ० २।१४

पर्षत्—पारयतु पृ पूरणे।

तमा नो अर्कममृताय जुष्टमिमे धासुरमृतासः पुराजाः।
शुचिक्रन्दं यजतं पस्त्यानां बृहस्पतिमनर्वाणं हुवेम॥५॥

(**इमे**) इन (**पुराजाः**) पूर्वोत्पन्न (**अमृतासः**) अमर देवों अर्थात् गुरुजनों ने (**अमृताय**) अमृतत्व के लिये (**तं**) उस (**जुष्टं**) सेवनीय (**नः**) हमारे (**अर्कं**) अर्चनीय बृहस्पति को (**आ धासुः**) धारण किया था। ऐसे (**शुचिक्रन्दं**) पवित्र क्रन्दन वाले (**पस्त्यानां यजतं**) प्रजाओं के यजनीय (**अनर्वाणं**) पाप आदि शत्रुओं से अप्रतिगत (**बृहस्पतिं**) बृहस्पति को हम (**हुवेम**) आह्वान करते है।

अर्कम्—अर्क के शास्त्रों में अनेकों अर्थ दिये हैं—अग्नि, सूर्य, अन्न, प्राण, रश्मि इत्यादि। इन सब अर्थों के मूल में हमें 'अर्चति कर्मा', का भाव ग्रहण करना चाहिये।

'अर्चना' तो अर्क की प्राप्ति में एक प्रक्रिया है, एक साधन है। इस सम्बन्ध में हमने पूर्व में विस्तार से विचार किया है।

इमे···**पुराजाः**—इस वाक्य में 'इमे' पद साक्षात् विद्यमान का बोधक है। ये अमरदेव गुरुजन हैं जो कि हमसे पूर्व उत्पन्न हुए हैं और इस बृहस्पति आचार्य की अर्चना से अमर बन चुके हैं और अब हम अमर बनने का प्रयत्न कर रहे हैं।

शुचिक्रन्दम्—बृहस्पति का 'क्रन्दन' बोलना, शिष्यों को डांटना डपटना आदि शुचिकारक है। क्रन्दन सामान्य ध्वनि का वाचक नहीं है। इसमें यथावसर आक्रोश, गर्जन, डाँटना, डपटना, रोदन आदि ये सब समाविष्ट होते हैं।

पस्त्याः—विशो वै पस्त्याः। शत० ५।३।५।१९

तं शग्मासो अरुषासो अश्वा बृहस्पतिं सहवाहो वहन्ति।
सहश्चिद् यस्य नीडवत् सधस्थं नभो न रूपमरुषं वसानाः॥६॥

(**शग्मासः**) सुखी, कर्मठ व शक्तिशाली (**अरुषासः**) अग्नि के तुल्य रोचमान व लालिमायुक्त (**अश्वाः**) सर्व विद्याओं में व्याप्त अथवा अश्वों के सदृश शिष्य (**तं बृहस्पतिं**) उस बृहस्पति को (**सहवाहः वहन्ति**) साथ-साथ मिलकर वहन करते हैं अर्थात् परस्पर प्रेम से व्यवहार करते हुए बृहस्पति के निर्देश व आदेश में आगे ही आगे पग बढ़ाते चलते हैं। (**यस्य**) जिस बृहस्पति का (**सहः चित्**) बल भी (**नीडवत्**) नीड के समान ब्रह्मचर्याश्रम में (**सधस्थं**) विद्यमान है अर्थात् बृहस्पति की सारी शक्ति यहीं ब्रह्मचर्याश्रम में संलग्न है। और वे शिष्य (**नभो न**) आकाश के तुल्य (**अरुषं रूपं वसानाः**) [गेरु तुल्य] लाल वस्त्रों को धारण किये हुए हैं।

शग्मासः—शग्म सुखनाम। निघ० ३।६
शग्म कर्मनाम। निघ० २।१

अरुषासः
अश्वाः—अग्निर्वा अरुषः। तै० ब्रा० ३।९।४।१

अग्निवर्ण के गेरुए वस्त्र पहिने हुए विद्यार्थी ही बृहस्पति आचार्य के अश्व होते हैं। ये विद्यार्थी अपने मन और मस्तिष्क द्वारा बृहस्पति का वहन करते हैं बृहस्पति को सदा ध्यान में रखना, उसके निर्देशों के अनुसार आचरण करना, उसके बताये पथ पर सदा अग्रसर होना, परस्पर प्रेमपूर्वक मिलकर व्यवहार करना, आदि रूप में बृहस्पति को वहन करना होता है। इसी दृष्टि से यह निरुक्त-वचन पढ़िये—"यः कश्चाध्वानमश्नुवीताश्वः स वचनीयः" नि० १।१३ आचार्य द्वारा बताये मार्ग को व्याप्त करना, अर्थात् उस पर चलना अश्व बनना है।

अरुषं रूपम्—ब्रह्मचारी को गेरुए वस्त्र पहिनने चाहियें। ये अग्नि के प्रतीक हैं। ब्रह्मचारियों में अग्नि प्रज्वलित रहती है, अग्निहोत्र का प्रयोजन भी आन्तर अग्नि के प्रज्वलन के लिये है। यह आन्तर अग्नि बाह्य शरीर में गेरुए वस्त्र द्वारा दर्शायी है।

जिस प्रकार नभोमण्डल में बालसूर्य से लालिमा छा जाती है उसी भाँति बच्चों में आन्तरिक सूर्य की लालिमा बाहिर प्रकट हो रही है, यह इस तथ्य का प्रतीक है।

नीडवत् सधस्थम्—बृहस्पति आचार्य का समग्र बल, कर्म, व प्रज्ञा आदि ब्रह्मचर्याश्रम में ही केन्द्रित रहना चाहिये। तीन रात्रि तक ब्रह्मचारियों को वह अपने गर्भ में रखना है, अतः नीड की उपमा यहाँ चरितार्थ होती है।

स हि शुचिः शतपत्रः स शुन्ध्युर्हिरण्यवाशीरिषिरः स्वर्षाः।
बृहस्पतिः स स्वावेश ऋष्वः पुरू सखिभ्य आसुतिं करिष्ठः॥७॥

(**स हि शुचिः**) निश्चय से वह शुद्ध है (**शतपत्रः**) विद्या-विज्ञानों के सैकड़ों पक्षों वाला अथवा मस्तिष्क में सहस्रदल कमल वाला, सैंकड़ों प्रकार की उड़ानों वाला है (**स शुन्ध्युः**) वह शिष्यों का शोधन करने वाला है। (**हिरण्यवाशीः**) हितकारी और रमणीय वाक् वाला है अथवा सुवर्णीय कुल्हाड़े वाला है (**इषिरः**) गतिशील है (**स्वर्षाः**) स्व से सम्पर्क कराने वाला तथा (**स्वावेशः**) भव्य व सुन्दर वेश वाला है (**ऋष्वः**) महान् है (**सखिभ्यः**) अपने सखा अन्य गुरुजनों की (**आसुतिं**) सन्तति को अथवा सर्व प्रकार की उनकी उत्पत्ति को (**पुरू करिष्ठः**) विद्या-विज्ञानों में बहुत कर देता है।

शतपत्रः—शतं पत्राणि (विद्यापर्णानि, शिरसि कमलदलानि) यस्य सः।

हिरण्यवाशीः—हिरण्यस्य वाशी, वाक् शस्त्रं वा विद्यते यस्य सः। सायणाचार्यः।

हिरण्येन सत्यप्रकाशेन परमयशसा सह प्रशस्ता वाशी वाक् विद्यते यस्य सः। स्वामी दयानन्दः। वाशीति वाङ्नाम। निघ० १।११ वाशृ शब्दे (दिवादिः) वस स्नेहच्छेदापहरणेषु (चुरादि)। छेदनार्थात् वासिरेव वाशिः। स्त्रियां ङीष्। वाशी।

स्वर्षाः—स्वः सनोति ददाति यः, स्वः सुखं सनति भजति यः।

स्वावेशः—सुष्ठु आ समन्तात् वेशो यस्य सः।

स्वस्मिन् आवेशः प्रवेशो यस्य सः।

आसुतिम्—प्रजाम्, समन्तात् उत्पत्तिं वा।

देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पतिं वावृधतुर्महित्वा।
दक्षाय्याय दक्षता सखायः करद् ब्रह्मणे सुतरा सुगाधा॥८॥

(**देवी**) दिव्यगुणयुक्त (**रोदसी**) द्यावापृथिवी (हृदय-मस्तिष्क) (**देवस्य**) उस देव बृहस्पति की (**जनित्री**) पैदा करने वाली है। ये दोनों (**बृहस्पतिं**) बृहस्पति को (**महित्वा**) अपनी महिमा द्वारा या महान् गुणों द्वारा (**वावृधतुः**) बढ़ाते हैं। (**सखायः**) हे सहपाठियो! तुम (**दक्षाय्याय**) दक्ष व कुशल बनने के लिये (**दक्षता**) दक्षतायुक्त व कुशलता के कार्य करो, जिससे वह बृहस्पति आचार्य (**ब्रह्मणे**) ब्रह्मप्राप्ति व वेदज्ञान के लिये हमारे द्यावापृथिवी रूप हृदय और मस्तिष्क को (**सुतरा**) उत्तम प्रकार से तैरने वाला तथा (**सुगाधा**) उत्तम प्रकार से गाहने वाला (**करत्**) बना देवे।

रोदसी=द्यावापृथिवी—शरीर के क्षेत्र में मस्तिष्क और हृदय द्यावापृथिवी माने जाते हैं। इन दोनों के समन्वय, सहचार तथा दिव्यता में बृहस्पति का जन्म होता है। इसी बात को मन्त्र में इन शब्दों में कहा है "देवी देवस्य (बृहस्पतेः) रोदसी जनित्री" ये दोनों अपनी महिमा से बृहस्पति को बढ़ाते है। इस मन्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि हृदय और मस्तिष्क का खूब अच्छी प्रकार गाहन (सुगाधा) करने से ब्रह्मज्ञान तथा दक्षता पैदा होती है।

सुगाधा=सु+गाहू विलोडने, सुखेनावगाहनीये।

सुतरा=सु+तॄ प्लवनतरणयोः, सुखेन तरणीये।

इयं वां ब्रह्मणस्पते सुवृक्तिर्ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे अकारि।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरन्धीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः॥९॥

(**ब्रह्मणस्पते**) हे ब्रह्मशक्ति के स्वामिन्! (**इयं**) यह (**वां**) तुम दोनों [ब्रह्मणस्पति और इन्द्र] की (**सुवृक्तिः**) हमारे में से दोषमार्जन की क्रिया अथवा हमारी शोभनगति व व्यवहार (**ब्रह्म**) ब्रह्म के लिये तथा (**वज्रिणे इन्द्राय**) वज्रधारी इन्द्र के लिये अर्थात् ब्रह्म-क्षत्र की उत्पत्ति के लिये (**अकारि**) की गई है। तुम दोनों हमारी (**धियः**) बुद्धि और कर्म की (**अविष्टं**) रक्षा करो, (**पुरन्धीः जिगृतम्**) भूमी धारण करने का उपदेश दो (**अर्यः**) ब्रह्मणस्पति! तुम दोनों (**वनुषां अरातीः**) हम सेवकों व भक्तों के शत्रुओं को (**जजस्तम्**) विनष्ट करो।

सुवृक्तिः—सुष्ठु दोषवर्जनं यस्यां सा।
सुष्ठु व्रजन्ति यस्यां सा।

ब्रह्म=ब्रह्मणे

अविष्टम्—अव रक्षणे—जिगृतम्—गृ शब्दे।

जजस्तम्—जसु हिंसायाम्।

इस मन्त्र में यह ध्यान देने की बात है कि सम्बोधन ब्रह्मणस्पति को ही किया गया है पर कथन ब्रह्मणस्पति तथा इन्द्र दोनों के लिये हुआ है। यह 'वां' पद से ज्ञात होता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह शिक्षणालय है, शिष्यों के समक्ष गुरुजन ही होते हैं, इन्द्र अर्थात् राजा नहीं होता। परन्तु क्योंकि शिक्षणालय की रक्षा व गतिविधि आदि की जिम्मेवारी दोनों की होती है, इसलिये दोनों ब्रह्मणस्पति और इन्द्र (राजा) के लिये कथन हुआ है। और दूसरे ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति की उत्पत्ति के लिये इसमें निर्देश हुआ है। इसी तथ्य को अगले मन्त्र में भी दर्शाया है।

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥१०॥

हे बृहस्पते! तथा वह इन्द्र (**युवं**) तुम दोनों (**दिव्यस्य उत पार्थिवस्य**) दिव्य

ग्रौर पार्थिव दोनों प्रकार के (**वस्वः**) ऐश्वर्य के (**ईशाथे**) स्वामी हो (**स्तुवते कीरये**) स्तुति करने वाले स्तोता को (**रयिं धत्त**) ऐश्वर्य प्रदान करते हो। हे देवो! (**यूयं चित्**) तुम सब भी (**स्वस्तिभिः**) कल्याणों से (**सदा नः पात**) सदा हमारा रक्षा किया करो।

ब्रह्म ग्रौर क्षत्र दोनों को दिव्य तथा पार्थिव ऐश्वर्यों का स्वामी बनाया है। दिव्य ऐश्वर्य योगज ऐश्वर्य है।

ऋ० मं० १० । सू० १८२

ऋषिः—**तपुर्मूर्धा बार्हस्पत्यः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।

बृहस्पतिर्नयतु दुर्गहा तिरः पुनर्नेषदघशंसाय मन्म।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद् यजमानाय शंयोः ॥१॥

(**दुर्गहा बृहस्पतिः**) दुर्गति का हनन करने वाला यह बृहस्पति हमारी दुर्गतियों को (**तिरः नयतु**) ग्रन्तर्धान कर दे ग्रथवा (**तिरः**) प्राप्त दुर्गतियों को दूर करे। (**ग्रघशंसाय**) पापों की प्रशंसा करने वाले दुष्ट भाव के प्रति (**मन्म**) मनन व दिव्यज्ञान को (**पुनः नेषत्**) फिर ले जाये बार-बार ले जाये। ग्रर्थात् दिव्यज्ञान देकर हमारे पाप शंसन के भाव को दूर कर दे। (**ग्रशस्ति क्षिपत्**) ग्रपयश को परे फैंक दे (**दुर्मतिं ग्रपहन्**) दुष्ट बुद्धि का हनन कर दे (**ग्रथा**) ग्रौर (**यजमानाय**) ज्ञान सत्र में विद्यमान मुझ यजमान पर (**शंयोः**) कल्याण की वृष्टि तथा सर्वप्रकार के भयों को दूर करे।

दुर्गहा—दुर्गमनं दुर्गतिं वा हन्ति इति दुर्गहा।
तिरः—तिरः सतः इति प्राप्तस्य। नि० ३।२० तिरोभावे ग्रन्तर्धाने वा।
मन्म—मननानि-नि० १०।४।४१, ८।२।६ मन्म विज्ञानम्। स्वामी दयानन्द।
ग्रशस्तिः—शस्तिः प्रशंसा, न शस्तिः=ग्रप्रशंसा।

इस सूक्त का ऋषि तपुर्मूर्धा है। तपुर्मूर्धा का भाव यह है कि जिसका मूर्धा= मस्तिष्क एकाग्रता के कारण खूब तप रहा है ग्रथवा ज्ञानाग्नि के कारण जिसका मस्तिष्क ग्रत्यन्त प्रतप्त है। इस प्रकार तपुर्मूर्धा ऋषि-दृष्टि से यह सूक्त मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है, ग्रतः इस सूक्त का विनियोग मस्तिष्क में होना चाहिये।

नराशंसो नोऽवतु प्रयाजे शं नो ग्रस्त्वनुयाजो हवेषु।
क्षिपदशस्तिमपदुर्मतिं हन्नथा करद् यजमानाय शंयोः ॥२॥

(**प्रयाजे**) नाभि से ऊर्ध्व में होने वाले प्राणात्मक प्रकृष्ट यजन में यह (**नराशंसः**) नराशंस ग्रग्नि (**नः ग्रवतु**) हमारी रक्षा करे, ग्रौर (**हवेषु**) ग्राह्वान होने पर (**ग्रनुयाजः**) प्राण के ग्रनुकूल यह ग्रपान (**नः शं ग्रस्तु**) हमारा कल्याण करे। शेष पूर्ववत्।

'प्रयाज' और 'अनुयाज' ये दोनों पारिभाषिक संज्ञाएं हैं। नाभि से ऊर्ध्व के प्राणों की प्रयाज संज्ञा है और नाभि से नीचे के प्राणों की अनुयाज संज्ञा है।

प्रयाज—प्रकृष्ट यजन प्राणों का।

अनुयाज—प्राणों के अनुकूल यजन अपान का। अनु+यज्—अनुकूलं पश्चाद् वा यजतीति।

'नराशंस' अग्नि आप्री देवताक है। यह उस स्थिति का द्योतक है जब इस शरीर के सब नेता दिव्याग्नि व दिव्य संकल्प की प्रशंसा करते हैं। यह नराशंस अग्नि जब जागृत व सक्रिय हो जाती है तब प्राण भी प्रयाज का रूप धारण करते हैं, उस समय उनका जो यजन होता है वह प्रकृष्ट व दिव्य ही होता है। सबसे पूर्व प्रयाज अर्थात् नाभि से ऊर्ध्व के प्राण दिव्य यजन शुरू करते हैं, पर नाभि से नीचे के प्राण बड़े हठी हैं, वे अपने वासनादि के अभ्यस्त मार्ग पर चलते रहते हैं। मन्त्र कहता है कि उन नीचे के प्राणों को 'अनुयाज' होना चाहिये अर्थात् प्रयाज के अनुकूल यजन करने वाले हों, कब? जब आह्वान हो, बुलावा हो (हवेषु)।

तपुर्मूर्धा तपतु रक्षसो ये ब्रह्मद्विषः शरवे हन्तवा उ।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद् यजमानाय शंयोः ॥३॥

(**तपुर्मूर्धा**) ज्ञान व ध्यान आदि द्वारा जिसका मस्तिष्क खूब परितप्त है ऐसा वह बृहस्पति (**ये ब्रह्मद्विषः रक्षसः**) जो ब्रह्मद्वेषी राक्षस हैं, उन्हें (**तपतु**) खूब तपावे किस लिये? उनमें विद्यमान (**शरवे हन्तवा उ**) शरु अर्थात् हिंसकभाव को नष्ट करने के लिये। शेष पूर्ववत्।

शरु—शॄ हिंसायाम्।

तपुर्मूर्धा—सन्तप्यमानः (ज्ञानध्यानादि द्वारा) मूर्धा यस्य सः।

ततुस्तापो मूर्धेवोत्कृष्टो यस्य सः। स्वामी दयानन्द।

तापकशिरस्क—सायणाचार्य।

यह मन्त्र यह दर्शा रहा है कि हमारे अन्दर जो ब्रह्मत्व के द्वेषी राक्षस भाव हैं उनका विनाश मस्तिष्क को ज्ञानाग्नि व योगाग्नि द्वारा खूब परितप्त करने से होता है। इसके लिये मूर्धा में ध्यान करना चाहिये।

ऋ० मं० १० । सू० ६७

ऋषिः **अयास्य आंगिरसः**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥१॥

(**नः पिता**) हमारे पिता अंगिरा ने (**इमां सप्तशीर्ष्णीं** इस सात सिरों वाली (**ऋतप्रजातां**) ऋतु से उत्पन्न (**बृहतीं धियं**) महान् दिव्य बुद्धि अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा को (**अविन्दत्**) प्राप्त किया। और (**विश्वजन्यः**) विश्व के उत्पादक (**अयास्यः**) मुख्य प्राण ने (**इन्द्राय उक्थम् शंसन्**) दिव्य मन (**इन्द्र**=Illumined mind) के उत्थान के लिये स्तुति करते हुए (**तुरीयं स्वित्**) चतुर्थ धाम को भी (**जनयत्**) पैदा किया।

इस मन्त्र में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा (**ऋतजातां बृहतीं धियं**) की प्राप्ति और चतुर्थ धाम की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ऋचा कहती है कि वह ऋतम्भरा प्रज्ञा सात सिरों वाली है। ये सात सिर सात ऐन्द्रियिक केन्द्र हैं अथवा प्रज्ञा के ये ७ सिरे—५ ज्ञानेन्द्रियां +२ मन, बुद्धि भी हो सकते हैं। मानव-शरीर में प्रज्ञा प्रकाश व चेतना के उद्बोधन के ये सात साधन हैं। सामान्य जन में ये सातों साधारण चेतना के ही उद्बोधक होते हैं। परन्तु योग-साधना के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति होने पर इन सातों द्वारा दिव्य ज्ञान का प्रकाश होने लगता है। अब प्रश्न यह है कि वह ऋतम्भरा प्रज्ञा किसने प्राप्त की? इस सम्बन्ध में उपर्युक्त मन्त्र के सायणभाष्य में एक इतिहास दे रखा है और वहाँ बृहस्पति कहता है कि (नः पिता) हमारे पिता अंगिरा ने यह ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त की है। परन्तु हमने वहाँ अयास्य के मुख से बृहस्पति को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त करायी है क्योंकि मन्त्र का ऋषि अयास्य है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो अंगिरा और बृहस्पति ये दोनों मनुष्य की दो अवस्थाएँ हैं। पहली अंगिरा अवस्था है और द्वितीय बृहस्पति अवस्था है। पहली अंगिरा अवस्था बृहस्पति अवस्था की पूर्ववर्ती अवस्था होने के कारण वैदिक भाषा में अंगिरा बृहस्पति का पिता कहलाया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण ३। ३४ में इन दो अवस्थाओं को इस रूप में अलंकृत किया गया है। "येऽगारा आसंस्तेऽगिरसोऽभवन् यदंगाराः पुनरवशान्ता उद्दीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्" अर्थात् इन अंगारों ने अंगिरस (अंग +रस) रूप को धारण किया अर्थात् ये अंगों के रस बने विषय-भोगों को ग्रहण करने के लिये प्रदीप्त थे इन्हें योग-साधनों द्वारा शान्त किया और शांत होकर पुनः जब ये प्रदीप्त हुए तब इनका रूप बृहस्पति हो गया।

अब विचारणीय यह है कि ये अंगिरस (अंगारे) और बृहस्पति क्या हैं? संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि अंगिरा (अंगारे) से यहाँ पर मस्तिष्क-सम्बन्धी अग्नि से तात्पर्य है। क्योंकि बृहस्पति का सम्बन्ध मस्तिष्क से ही है। सप्तशीर्ष्णी धी मस्तिष्क के सात केन्द्र (Brain Centres) हैं। इनमें अग्नियाँ होती हैं। इसीलिये कर्मकाण्ड में मिट्टी की ७ स्वल्प वेदिकायें बनायी जाती हैं जिनमें अग्नियाँ रक्खी जाती हैं। ये सात वेदिकायें मस्तिष्क के केन्द्र का प्रतिनिधित्व करती हैं। मस्तिष्क के केन्द्रों में ये अग्नियाँ=अंगारे बाह्य संसार के सम्पर्क से धधकते रहते हैं, बृहस्पति बनने के लिये मनुष्य को इन्हें शान्त करना पड़ता है। इनकी शान्ति बाह्य संसार से इन्हें विमुख करके और अर्न्तमुखी अवस्था पैदा करके होती है। इसीलिये बृहस्पति बनने के लिये ज्ञान के इन सात केन्द्रों को पहिले शांत करना पड़ता है कालान्तर में जाकर प्रशान्त पड़े हुए केन्द्रगत अंग रसों में दिव्य

ज्ञान की अग्नि पुनः प्रज्वलित हो उठती है। पातंजल योगदर्शन की परिभाषा में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य की निर्विचार नीरव, निर्मल शांत अवस्था में जब बुद्धिसत्व की एकाग्र अवस्था निरन्तर बनी रहती है, तब शनैः-शनैः ऋतम्भरा प्रज्ञा के अवतरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उस समय प्रज्ञा-कलश में ऋतोदक भरना प्रारम्भ हो जाता है। यही अवस्था बृहस्पति अवस्था है जो कि अंगिरा अवस्था से अगली अवस्था है।

आगे मन्त्रार्थ में यह कहा गया है कि विश्व के उत्पादक अयास्य ने चतुर्थ धाम को पैदा किया। अयास्य क्या है? इसका विस्तृत विवेचन लेखक की 'ऋषि रहस्य' पुस्तक में देखें। इसका संक्षिप्त भाव यह है कि यह मुख्य प्राण है। इसका स्थान मन से भी परे है। इस अयास्य प्राण में पहुंचकर मनुष्य के संकल्प-विकल्प सब समाप्त हो जाते हैं। आसुरी शक्ति का इस पर कोई प्रभाव नहीं होता। उपनिषदों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि देवताओं (इन्द्रियों) का यह मुख है, जहाँ कि सब इन्द्रियाँ एकीभाव को प्राप्त-कर उस मुख्य प्राण में विलीन हो जाती हैं। अथवा यह एक जंकशन है जहाँ से एक ही प्राण सात भागों में बंट जाता है। गीता की परिभाषा में "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्" की अवस्था में यह प्राण कार्य करता है। इस अवस्था में सतत निवास करने से मनुष्य में इन्द्र (दिव्य मन) का उत्थान व उद्गम होता है। और चतुर्थ धाम जो कि मन से परे का अतिमानस का लोक है उसका भी उद्गम होता है।

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमंगिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥२॥

(**ऋतं शंसन्तः**) ऋत की प्रशंसा करते हुए (**ऋजु दीध्यानाः**) सरल बनकर ध्यान करते हुए (**दिवस्पुत्रासः**) द्युलोक व मस्तिष्क के पुत्र (**असुरस्य वीराः**) प्राणशक्ति के वीर (**अंगिरसः**) अंगरसों से सम्पन्न पुरुष (**विप्रं पदं दधानाः**) विप्र के पद को धारण किये हुए (**यज्ञस्य प्रथमं धाम मनन्त**) यज्ञ के प्रथम अर्थात् प्रमुख धाम को जान जाते हैं।

मन्त्र में कहा गया है कि ये अंगिरस ऋत की प्रशंसा करते हैं। ऋत के असली भाव को हृदयंगम करने के लिये इस पर कुछ विस्तृत विचार करते हैं। वैदिक साहित्य में ऋत और सत्य ये दो शब्द बहुत महत्त्व रखते हैं। कई स्थलों पर इनका प्रयोग पर्याय-वाची रूप में हुआ है तो कई स्थलों पर विभिन्नार्थक भी हुआ है। हमें यहाँ इन दोनों के सामान्य स्वरूप पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। हम यहाँ इनके विभिन्न रूपों पर ही विचार करते हैं। जैसा कि एक और मन्त्र में कहा गया है कि "भगवान् के प्रदीप्त तेज से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई।" (ऋ० १०।१९०।१)

इस मन्त्र में ऋत और सत्य इन दोनों को पर्यायवाची न मानकर पृथक् स्वरूप वाला माना है। और इन दोनों का वाणी से भी सम्बन्ध है अर्थात् वाणी से बोले जाते हैं। परन्तु इनके उच्चरित परिणाम में भेद है। यह निम्न मन्त्र से ध्वनित होता है। मन्त्र इस प्रकार है।

"ऋतं वदन् ऋतद्युम्न सत्यं वदन् सत्यकर्मन्। ऋ० ९।११३।४

ऋत बोलने में दिव्य प्रकाश (द्युम्न) है दिव्य चमक है। सत्य बोलने में कर्म की सत्यता प्रकट होती है। अर्थात् ऋत का सम्बन्ध ज्ञान से है तो सत्य का सम्बन्ध कर्म से है। ऋत सूक्ष्म है तो सत्य स्थूल है। ऋत में गति (ऋत = ऋ गतौ) है सत्य में स्थिरता है। ऋत की गति सरल गति है—'नयन्नृतस्य पथिभिः रजिष्ठैः = (ऋजुतमैः)' ऋ० १।७९।३

ऋत का मार्ग सुगम व सरल मार्ग है। पेचीदा (Complex) व कंटीला नहीं है (सुगःपन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतंयते) (ऋ० १।४१।४) इसलिये यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि वेद व दिव्य ज्ञान के असली रहस्य को सरल व भोली प्रकृति का व्यक्ति ही जान सकता है, और जो व्यक्ति संकीर्णता व पेचीदगियों से भरपूर होता है, कुटिल प्रकृति का होता है वह वेद-रहस्य को त्रिकाल में भी नहीं पा सकता। इसीलिये आचार्यों ने अनृजु-कुटिल प्रकृति के व्यक्ति को वेदादि के रहस्यों को बताना मना किया है! यह ऋत प्राकृतिक तत्त्व है और सोम के चारों ओर होता है (परि सोम ऋतं बृहत् ऋ० ९।५६।१) और यह सोम ऋत के केन्द्र व नाभि (ऋतस्य नाभिः ऋ० ९।७४।४) में होता है। इसीलिये मनुष्य में ऋत की पहिचान यह है कि जो मनुष्य सौम्य प्रकृति का हो, विद्वान् हो, जान लो इसमें ऋत का अंश है। इस सोम रूप भगवान् की कृपा से जिस मनुष्य की जिह्वा के अग्रभाग में ऋत तत्त्व की उपस्थिति होती है, वह पवित्र होता है, उसकी वाणी से सब पवित्र होते चले जाते हैं। मन्त्र कहता है **"ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आजिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।"** ऋ० ९।७३।९ अर्थात् वरुण भगवान् की माया से ऋत का तन्तु जिह्वा के अग्र भाग में आ फैलता है।

इस प्रकार संक्षेप में हमने ऋत का स्वरूप स्पष्ट किया। अब मन्त्र का भाव यह है कि अंगिरस व्यक्ति इस ऋत की प्रशंसा करते हैं और इसे अपने अन्दर धारण करते हैं। इस प्रकार ऋत द्वारा सूक्ष्म व सरल प्रकृति बनकर (**ऋजुदीध्यानाः**) ध्यान लगाते हैं। और शरीर-यज्ञ का जो प्रथम धाम अर्थात् प्रमुख स्थान सिर है उसको जान जाते हैं।

ये अंगिरस द्युलोक के पुत्र हैं। अध्यात्म क्षेत्र में द्युलोक मस्तिष्क हैं। क्योंकि ये अंगिरस, मस्तिष्क में अधिक निवास करते हैं। इसीलिये इन्हें वेद की भाषा में द्युलोक का पुत्र कह दिया गया है। इन्हें अंगिरस इसलिये कहा जाता है कि मस्तिष्क में अंगों का जो रस है, जो सार है, जो जीवनीय शक्ति है, वह इनमें अधिक होती है। छान्दोग्य उपनिषद् ५।३।३ में आता है कि पाँचवीं आहुति में पहुंचकर जल पुरुष-वाणी का रूप धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार ये अंगों के विविध रस मस्तिष्क रूपी द्युलोक में पहुंचकर विप्र के पद को धारण कर लेते हैं। अर्थात् ज्ञान रूप में परिणत हो जाते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञा में जो ऋत है वह भी इन्हीं रसों का परिवर्तित व परिष्कृत रूप है। इसलिये मन्त्र से वह शिक्षा मिली कि अध्यात्म में प्रगति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को ऋत अर्थात् सरल बनकर मस्तिष्क में ध्यान को केन्द्रित करना चाहिये जिससे शरीर के सम्पूर्ण रसों का प्रवाह सतत रूप से मस्तिष्क की ओर हो। और वहाँ पहुंचकर वह सोम व ऋत रूप में परिवर्तित व परिष्कृत होता जाये।

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद्गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत् ।।३।।

(**वावदद्भिः**) निरन्तर स्तुति करने वाले (**हंसैरिव सखिभिः**) हंसों के समान श्वास-प्रश्वास रूपी सखा मरुतों द्वारा (**अश्मन्मयानि**) पत्थर समान दृढ़ (**नहना**) बन्धनों को (**व्यस्यन्**) शिथिल करता हुआ वह (**विद्वान्**) विद्वान बृहस्पति (**गा अभिकनिक्रदत्**) गौओं अर्थात् दिव्य शक्तियों की ओर अभिमुख हो क्रन्दन करता है (**उत**) और (**प्रास्तौत्**) उनकी स्तुति करता है (**उत् अगायत्**) गान द्वारा ऊपर की ओर को उन्हें प्रेरित करता है।

इस मन्त्र का सार यह है कि वह बृहस्पति मित्र मरुतों द्वारा पत्थर समान दृढ़ बन्धनों को तोड़ देता है, और रोधालय में अवरुद्ध उन दिव्य गौओं को बाहिर निकाल लाता है। यहाँ सायणाचार्य ने बृहस्पति के सखा मरुत् बताये हैं। मरुत् सामान्य प्राण वायु नहीं हैं। ये दिव्यप्राण हैं जो कि मृत्यु से ऊपर (मृङ्+उत्) हैं। इन मरुतों को हंस से उपमा दी है, इसलिये हम इन्हें श्वास-प्रश्वास मान सकते हैं। बृहस्पति के सखा ये मरुत् नामक हंस वे श्वास-प्रश्वास हैं जो भगवान् की स्तुति में निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं। इन्हीं श्वास-प्रश्वास पर ध्यान रखकर भगवान् की स्तुति करने वाले योगीजन भी हंस या परमहंस कहलाते हैं। इन परम हंस योगियों का ध्यान सदा श्वास-प्रश्वास पर एकाग्र होता है। इसी की एक विशिष्ट प्रक्रिया "अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे" इस श्लोक में निगूढ़ भाव में प्रदर्शित हुई है। इन श्वास-प्रश्वास को शास्त्रों में हंस नाम दिया है, ये ही बृहस्पति के सखा मरुत् हैं। इस सम्बन्ध में तन्त्र में निम्न श्लोक आते हैं।

उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात् प्राणस्तु हंसात्मा आत्माकारेण संस्थितः।।

अर्थात् 'हंस' यह दो अक्षरों वाला शब्द उच्छ्वास और निःश्वास के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस कारण वह हंस नामक प्राण आत्मरूप (प्राणात्मा) होकर मनुष्य में स्थित है।

हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशते पुनः।
हंसेति परमं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा।।

अर्थात् हंकार ध्वनि से वायु बाहिर निकल जाती है और सकार ध्वनि द्वारा फिर मनुष्य में प्रविष्ट हो जाती है। मनुष्य के श्वास-प्रश्वास की यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। इस प्रकार 'हं+स' यह एक सर्वोत्कृष्ट मंत्र है, जिसे जीव सदा जपता रहता है।

आसुरी आवरण में प्रच्छन्न व अभिभूत दिव्य शक्तियों को शिष्यों में प्रकट करने के लिये बृहस्पति अर्थात् दिव्यगुरु के वे मरुत् नामक श्वास-प्रश्वास रूपी हंस परम सहायक बनते हैं। इन्हीं श्वास-प्रश्वास पर मनोबल को एकाग्र कर बृहस्पति शिष्य के आवरण पर प्रहार करता है और दृढ़ से दृढ़ बन्धनों को तोड़ गिराता है। मन्त्र के उत्तरार्ध में तीन उपाय और बताये गये हैं। बृहस्पति वृषभ दिव्य गौओं के साथ मिथुनी भाव के लिये निम्न उपाय करता है—

१. दिव्य शक्तियों के प्रति क्रन्दन करता है, गरजता है।

२. दिव्य शक्तियों की स्तुति करता है।

३. बाड़े में से बाहिर निकलने के लिये ऊर्ध्वगान करता है।

शिष्य की दृष्टि से दिव्य-शक्तिसम्पन्न गुरुओं अर्थात् आचार्यवर्ग को भी हंस कहा जा सकता है। पापादि आसुरी शक्तियों से भयभीत भक्त मण्डली को भी हंस कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में मन्त्र (ऋ० १०।१२४।८,९) द्रष्टव्य हैं।

अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥४॥

(**द्वाभ्यां अवः**) दो से इधर और (**एकया परः**) एक से परे (**अनृतस्य सेतौ गुहा**) अनृत के बांध पर एक गुफा है, जहाँ (**गाः तिष्ठन्तीः**) गौवें दिव्य शक्तियाँ ठहरी हुई हैं। (**बृहस्पतिः**) ज्ञान-विज्ञान का अधिपति वह दिव्य गुरु, शिष्य की (**तमसि**) उस अंधेरी गुफा में (**ज्योतिः इच्छन्**) प्रकाश चाहता हुआ (**उस्राः**) उन गौरूपी दिव्य शक्तियों को (**उत् आकः**) ऊपर निकालता है और (**तिस्रः**) तीनों को (**वि आवः**) द्वार खोलकर बाहिर निकाल लाता है।

बृहस्पति वाक् अर्थात् वाणी का अधिपति है। वह वाक् सामान्य वाणी नहीं है, अपितु बृहती नामक दिव्य वाक् है। वैदिक साहित्य में वाक् का बहुत व्यापक प्रयोग हुआ है। आँख, नाक, कान आदि सब अवयवों की शक्ति का अन्तिम रूप वाक् ही है। यह अंतिम वाक् भी कई सूक्ष्म रूपों व स्तरों में विभक्त हुई है। वेद में एक स्थल पर इसके चार रूप बताये हैं। यथा—चत्वारि वाक् परि मिता पदानि (ऋ० १।१६४।४५) ये चार निम्न प्रकार हैं—

१. वैखरी—इसे मनुष्य व पशु बोलते हैं।

२. मध्यमा।

३. परा।

४. पश्यन्ती।

ये तीन वाणियाँ मनुष्य की आंतरिक गुफा में प्रच्छन्न हैं।

इन चारों वाणियों में वैखरी नामक वाणी तो सब मनुष्य व पशु आदि प्राणी बोलते हैं। परन्तु अवशिष्ट तीन वाणियाँ गुफा में निहित हैं अर्थात् सामान्य मनुष्य को उनका ज्ञान नहीं है। मन्त्र में कहा गया है कि इन चारों वाणियों में दो (परा, पश्यन्ती) से इधर और एक (वैखरी) से परे जो मध्यमा वाक् है वहाँ अनृत का बांध (सेतु) बंधा हुआ है और इस अनृत के बाँध पर जो आसुरी गुफायें हैं, वहाँ गौवें अर्थात् दिव्य शक्तियाँ ठहरी हुई हैं। क्योंकि ये दिव्य प्रकाश की किरणें अनृत के बाँध से परे हैं, इसलिये गौओं को ये गुफायें अंधकार में (तमसि) हैं। इस अनृत के बाँध से छनकर जो ज्ञान व प्रकाश हमारे मस्तिष्क में आता है, उसमें बहुत कुछ असत्य का अंश मिला होता है। मनुष्य के अपने ज्ञान में अस्पष्टता, असत्यता आदि की मात्रा अपने-अपने आवरण की घनता पर

निर्भर है। मन्त्र में कहा गया है कि वह बृहस्पति शिष्यों के उस अनृत के बाँध को तोड़ गिराता है। और इन तीनों वाणियों की गुफाओं के मुख पर जो आवरण के दरवाजे आ लगे हैं उनको खोल देता है। इस प्रकार गौओं, दिव्य शक्तियों व दिव्य वाणियों को बाहिर निकाल लाता है।

विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत्।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः॥५॥

(**बृहस्पतिः**) आचार्य बृहस्पति शिष्य की (**शयथा**) निद्रावस्था में (**ईम्**) इस (**अपाचीं पुरं**) पराङ्मुख आसुरी पुरी को (**विभिद्य**) भेदन कर (**साकं**) एक साथ (**उदधेः त्रीणि**) मस्तिष्क के तीनों समुद्रों को (**निरकृन्तत्**) खोल देता है। और (**स्तनयन् द्यौः इव**) गर्जते हुए द्युलोक की तरह (**उषसं सूर्यं गां अर्कं विवेद**) उषा, सूर्य, गौ और अर्क को प्राप्त करता है।

इस मन्त्र में कई बातों पर प्रकाश डाला गया है। असुरों की एक पुरी है जो कि अप्राप्तव्य है। पराङ्मुख = (अपाची = अप + अञ्चु) यह मस्तिष्क में अवचेतना Subconscious व unconscious self) का जगत् है। इस अवचेतना की प्रच्छन्न नगरी में गौएं अर्थात् दिव्य शक्तियाँ सन्निहित हैं। इस प्रच्छन्न नगरी = (अपाचीं पुरं) पर बृहस्पति आचार्य शिष्य के सो जाने पर गर्जन द्वारा आक्रमण करता है। जिस प्रकार हिप्नोटिज्म व मैस्मरेजम में रुग्ण पुरुष को कृत्रिम निद्रा में लाकर उस पर प्रभाव डाला जाता है। इसी प्रकार बृहस्पति भी निद्रा समय शिष्य पर अपनी दिव्य शक्ति द्वारा प्रभाव डालता है। और इस प्रकार प्रभाव डालने से मस्तिष्क में तीनों समुद्रों (मस्तिष्क, अनुमस्तिष्क सुषुप्णाशीर्षक) (Cerebrum, Cerbellum. Medulla Oblongatta) पर आये आवरणों को काट गिराता है। इस प्रकार अवचेतना की नगरी के कपाट खुल जाने पर शिष्य की गौएं अर्थात् दिव्य शक्तियाँ बाहिर आ जाती हैं। मस्तिष्क समुद्रों के ऊपर आये आवरण के हट जाने पर उन मस्तिष्क समुद्रों में से दिव्य ज्ञान का सूर्य, उषा और किरणों के साथ उदित हो जाता है।

इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव विचकर्ता रवेण।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत् पणिमा गा अमुष्णात्॥६॥

(**इन्द्रः**) परमऐश्वर्य-सम्पन्न व बलशाली वह बृहस्पति (**दुघानां रक्षितारं वलं**) दुधारु गौओं—अर्थात् दिव्य शक्तियों को रोकने वाले वलासुर को (**रवेण विचकर्त**) शब्द व ध्वनि से उस प्रकार काट गिराता है (**इव**) जिस प्रकार (**करेण**) तलवार से शत्रु को काट देते हैं। और वह बृहस्पति (**स्वेदाञ्जिभिः**) पसीना पैदा करने वाले परिश्रमों से (**आशिरमिच्छमानः**) शिष्य की परिपक्वता चाहता हुआ (**पणिं अरोदयत्**) पणि आदि कन्जूस वृत्ति को रुला देता है और उससे (**गाः अमुष्णात्**) गौएं छीन लेता है।

इस मन्त्र में बृहस्पति को इन्द्र कहा गया है। इन्द्र बहुत बलशाली शत्रुविनाशक व परम ऐश्वर्यसम्पन्न माना जाता है। इस स्थल पर बृहस्पति के भी ये ही कार्य माने गये हैं। वह बृहस्पति अपनी शब्द की शक्ति अर्थात् उग्र वाक् शक्ति द्वारा शिष्य की बुद्धि व इन्द्रियों पर आये हुए आवरण पर प्रहार करता है। उसकी दिव्य वाक् शक्ति द्वारा बुद्धिमालिन्य जनित पापादि असुर उस प्रकार काट दिए जाते हैं जिस प्रकार कि तलवार से शत्रु। दूसरा कार्य बृहस्पति यह करता है कि शिष्य में जो पणिवृत्ति, बनिया-वृत्ति व कन्जूसवृत्ति है, जिस वृत्ति के कारण मनुष्य स्वयं परिश्रम करके अन्य उपायों से अधिक-से-अधिक धन-संग्रह करते हैं और दूसरों को देना नहीं चाहते, उस वृत्ति को गुरु कठोर परिश्रम कराकर शिष्य में से दूर करता है। कठोर परिश्रम से आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक व अन्य शक्तियाँ विकसित होती हैं और बाहिर प्रकट होती हैं।

मनुष्य में विद्यमान प्राणों के दो ही मार्ग हैं, एक भोगप्रधान मार्ग और दूसरा तपस्या व परिश्रम का मार्ग। भोगप्रधान जीवन में प्राण पसीना पैदा करने वाले नहीं होते। पसीना तो परिश्रम से ही पैदा होता है। जिस प्रकार बाह्य जगत् में ग्रीष्म ऋतु के बाद ही वायु-मण्डल में वर्षा रूपी पसीना पैदा होता है, जिससे कि पृथ्वी के सब मैल धुल जाते हैं और औषधि वनस्पति आदि के बीजांकुरों को बाहिर निकलने से रोकने वाला आवरण (पणि) विनष्ट होकर उनमें उर्वरा शक्ति पैदा हो जाती है। उसी प्रकार शिष्य में विद्यमान सर्वप्रकार का मल व आवरण तपस्या की गरमी से जल जाता है। और इससे दिव्य शक्तियों के विकसित होने या बाहिर प्रकट होने की क्षमता जागृत हो जाती है।

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं विधनसैरदर्दः।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट्॥७॥

(**सः**) वह बृहस्पति (**सत्येभिः**) सच्चे (**शुचिद्भिः**) पवित्र (**धनसैः**) ऐश्वर्य प्रदान करने वाले (**सखिभिः**) सखा मरुतों से (**गोधायसं व्यदर्दः**) गौओं को रोकने वाले असुर को विदीर्ण कर देता है। और (**वराहैः**) श्रेष्ठ आहार लाने वाले (**घर्मस्वेदेभिः**) तपस्या की गर्मी से उत्पन्न स्वेद=(पसीना) रूपी (**वृषभिः**) बरसने वाले आन्तरिक मेघों से वह ब्रह्मणस्पति शिष्य के (**द्रविणं व्यानट्**) ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है।

इस मन्त्र में मरुतों (प्राणों) द्वारा शिष्य के आन्तरिक आवरण को विनष्ट करने का वर्णन हुआ है। ये मरुत् प्राण सच्चे हैं, पवित्र हैं, और शरीर को पवित्र करने वाले हैं। इनका एक काम मलों को विनष्ट कर शरीर व इन्द्रिय आदियों को पवित्र करना है। (**शुचिद्भिः**) जिस समय शरीर के सब प्रकार के स्थूल मल विनष्ट हो जाते हैं, तब दिव्य शक्तियों व दिव्य किरणों को घेरने वाला सूक्ष्म मल भी आसानी से विनष्ट हो जाता है। प्राणायाम आदि द्वारा यह प्राणवायु ग्रीष्म ऋतु की लू के समान गरम होकर आंतरिक मलों को विनष्ट करती है। और परिश्रम व तपस्या द्वारा शिष्य में जो पसीना उत्पन्न होता है, वह घर्मस्वेद है। जिस प्रकार योगदर्शन में 'धर्म मेघ' का वर्णन हुआ है,

उसी प्रकार वेद में ये घर्मस्वेद घर्म मेघ हैं। आसुरी शक्ति से दबी हुई मरणासन्न गौओं के लिये ये 'घर्म स्वेद' श्रेष्ठ आहार लाते हैं। इसीलिये इन्हें वराह (**वरं आहार माहार्षी वराहारः**) कहते हैं। जिस प्रकार गर्मी से झुलसी हुई औषधि, वनस्पति आदि वर्षा ऋतु का जल पाकर हरी-भरी हो जाती हैं, उसी प्रकार तपस्या द्वारा आंतरिक शक्तियाँ आंतरिक समुद्रों का सोम रूप जल पाकर हरी-भरी हो जाती हैं और वृद्धि को प्राप्त करती हैं।

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः।
बृहस्पतिर्मिथो अवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः॥८॥

(**गा इयानासः**) गौओं अर्थात् दिव्य शक्तियों की ओर जाते हुए (**ते**) उन मरुतों अर्थात् प्राणों ने (**गोपतिं**) गो स्वामी बृहस्पति को (**सत्येन मनसा**) सत्य मन तथा (**धीभिः**) बुद्धियों द्वारा (**इषणयन्त**) चाहा। इस पर बृहस्पति ने (**अवद्यपेभिः**) आसुरी शक्ति से बचाने वाले। (**स्वयुग्भिः**) स्वयमेव शरीर रूपी रथ में जुते हुए प्राणों से (**मिथः**) मिलकर (**उस्रियाः उत् असृजत**) दिव्य शक्तियों को बाहिर निकाला।

विगत मन्त्र में मरुतों अर्थात् प्राणों के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि वे वल रूपी आवरण को विदीर्ण कर देते हैं, और गौओं को बाहिर निकाल लाते हैं। इस मन्त्र में यह कहा गया है कि जिस समय मरुत् गौओं को आवरण से बाहिर निकालने को जाते हैं, तो वे यह चाहते हैं कि बृहस्पति भी सच्चे मन से तथा सत्य बुद्धि से हमारा सहयोग करें। इसका भाव यह है कि आंतरिक मल को विनष्ट करने के लिये प्राण, मन और बुद्धि इन तीनों का सहयोग आवश्यक है। मन की प्रेरणा से प्राण रूपी मरुत् आंतरिक आवरणों को तोड़ते हैं और बुद्धि गौ रूपी शक्तियों व ज्योतियों को बाहिर निकालने का काम करती है। मन्त्रगत यही भाव निम्न मन्त्रों में भी है।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः। यजु० ११।१
युञ्जते मन उत युञ्जते धियः। यजु० १४।४

अर्थात् योग-युक्त होने के लिये मन, बुद्धि का परस्पर योग होना चाहिये।

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे।
बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम्॥९॥

(**सधस्थे**) देवस्थान (**हृदय-मस्तिष्क**) में (**सिंहमिव नानदतं**) सिंह के समान बार-बार गरजते हुए (**तं**) उस (**बृहस्पतिं**) बृहस्पति आचार्य को हम शिष्य (**शिवाभिः मतिभिः**) अपनी बुद्धियों को शिव बनाकर (**वर्धयन्तः**) बढ़ाते हुए (**शूरसातौ**) शूरवीरों से सेवनीय (**भरे भरे**) प्रत्येक युद्ध में (**जिष्णुं**) जयशील और (**वृषणं**) बलशाली उस बृहस्पति के (**अनुमदेम**) अनुकूल होने में ही आनन्द मनावें।

'सधस्थ' वह स्थान है जहाँ कि देवताओं के साथ बृहस्पति निवास करता है। इसकी व्युत्पत्ति यह है 'सह तिष्ठन्ति यत्र देवाः' जहाँ देव परस्पर मिलकर रहते हैं। वे स्थान हमारे शरीर में हृदय और मस्तिष्क हैं। इन दोनों स्थानों पर असुर लोग आ विराजते हैं और देवताओं को मार भगाते हैं। इन देवताओं के निवास-स्थान हृदय और मस्तिष्क में से असुरों को बाहिर निकालने के लिये बृहस्पति इनसे लड़ता है, और इस भाँति इनके प्रति गरजता है, जिस प्रकार कि सिंह गरजा करता है। इसका भाव यह है बृहस्पति रूपी आचार्य की दिव्य शक्तियाँ शिष्य के अन्दर प्रविष्ट होती हैं और पापादि असुरों से लड़ती हैं। इसमें शिष्य का काम केवल इतना है कि वह कल्याणमयी स्तुतियों से दिव्य गुरु की शक्तियों को कार्य करने में सहायता दे।

यदा वाजमसनद् विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ॥१०॥

वह बृहस्पति (**यदा**) जब (**विश्वरूपं वाजं असनत्**) नाना भाँति के वेगों को प्राप्त कर लेता है तब (**आद्यां**) द्युलोक तक (**उत्तराणि सद्म**) ऊपरले लोकों को (**अरुक्षत्**) आरोहण कर जाता है। और आरोहण के मार्ग में (**आसा ज्योतिः बिभ्रतः**) मुख से ज्योति को धारण किये हुए (**नाना सन्तः**) नाना देवता उपस्थित होकर (**वृषणं बृहस्पतिं वर्धयन्तः**) बलशाली उस बृहस्पति को बढ़ाते हुए उसकी स्तुति करते हैं।

इस मन्त्र में द्युलोक अर्थात् प्रकाशित लोकों की ओर आरोहण का विधान किया गया है। आरोहण के लिये जिस-जिस वेग (वाज) की आवश्यकता होती है, वे जब पूरे हो जाते हैं तब द्युलोक की तरफ आरोहण होता है। शिष्य भी बृहस्पति की शक्ति से योग्य बन द्युलोक की ओर आरोहण करता है। मन्त्र में यह कहा गया है कि इस आरोहण प्रक्रिया में देवता अपने मुखों में ज्योति की मशालें लेकर उसे मार्ग दिखाते हैं, जिस प्रकार कि गुरु अपने मुख की ज्योति से शिष्य को मार्ग दिखाता है।

सत्यामाशिषं कृणुता वयोधैः कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद्रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ॥११॥

हे देवो ! तुम हमारी (**आशिषं**) इच्छाओं को (**वयोधैः**) अपने दिव्य अन्नों को धारण कराने के द्वारा (**सत्यां कृणुत**) सच्ची करो। और (**कीरिं**) मुझ स्तोता को (**स्वेभिः एवैः**) अपने गतिशील प्रयत्नों से (**चित् हि अवथ**) अवश्य रक्षा करो। और हमारे (**विश्वा मृधः पश्चा अप भवन्तु**) सब शत्रु पीछे रह जायें। (**विश्वमिन्वे**) सबको तृप्त करने वाले हैं (**रोदसी**) द्यावापृथ्वी तुम मेरी प्रार्थना को (**शृणुतम्**) सुनो।

इस मन्त्र में सब भक्तपुरुष अन्य सब देवों से दिव्यशक्ति की प्राप्ति के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। यहाँ पर स्तोता को कीरि कहा गया है। कीरि (कॄ विक्षेपे) का भाव यह

है कि वह स्तोता जो अपने पापादि शत्रुओं को परे फेंकने में लगा हुआ है द्यावापृथ्वी में रहने वालों से वह शक्ति प्राप्ति की प्रार्थना कर रहा है।

इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य।
अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धून्देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः॥१२॥

(**मह्ना**) महिमा व महान् शक्ति से इन्द्र के समान वह बृहस्पति (**अर्बुदस्य**) असंख्य शक्तियों वाले (**महतः अर्णवस्य**) महान् समुद्र की (**मूर्धानं**) मूर्धा को (**वि अभिनत्**) भेदन कर दिया व कर देता है। और (**अहिं अहन्**) अहि नामक आवरण को नष्ट कर देता है। (**सप्त सिन्धून् अरिणात्**) इन्द्रिय सम्बन्धी सात दिव्य धाराओं को बाहिर निकाल लाता है। (**द्यावापृथिवी देवैः प्रावतं नः**) यह द्यावापृथिवी देवों व दिव्य गुणों को प्रदान कर रक्षा करें।

मन्त्र में वर्णित अर्णव जिसमें अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं सामान्य जलराशि वाला समुद्र नहीं है। परन्तु सूक्तगत आशय के अनुसार मानव-शरीर में मस्तिष्क का समुद्र है, जिसमें अनंत शक्तियाँ प्रच्छन्न रूप में निहित हैं। ये सप्त सिन्धु अर्थात् सप्त ज्ञानेन्द्रियाँ इस मस्तिष्क-समुद्र से निकल शरीर में चहुँ ओर प्रवाहित होती हैं। सामान्य जन की इन इन्द्रियों में एक विघातक तत्त्व मिला होता है जिसे कि वेद में अहि कहा गया है। यह अहि इन इन्द्रियों की शक्ति को क्षीण करता है। अतः इसका हनन करना अभीष्ट है। जब इन्द्रियाँ पापरहित, व निर्मल हो जायेंगी तब द्यावा-पृथिवी सम्बन्धी जितनी भी दिव्य शक्तियाँ हैं, उन्हें हम जान सकेंगे और उनका उपयोग कर सकेंगे।

ऋ० मं० १० । सू० ६८

ऋषिः **अयास्यः आंगिरसः**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्यर्का अनावन्॥१॥

(**उदप्रुतः वयः न**) जल में भीगे व डूबे हुए पक्षी के समान विषयभोगों में डूबे हुए मनुष्यों की (**रक्षमाणाः**) रक्षा करती हुई (**वावदतः अभ्रियस्य इव घोषाः**) बार-बार गर्जन करती हुई मेघस्थ विद्युत् के घोषों के समान पापों के प्रति गरजती हुई (**गिरिभ्रजः ऊर्मयः न**) पर्वत शृंग से गिरती हुई तरंगों के समान (**मदन्तः**) खिलती हुई (**अर्काः**) किरणें (**बृहस्पतिमभि अनावन्**) बृहस्पति की स्तुति करती हैं।

उपर्युक्त मन्त्र में बृहस्पति के अर्कों के सम्बन्ध में कहा गया है। अर्क दिव्य पुरुष की अन्तःस्थ प्रज्वलित अग्नि है जो कि चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा किरणों के रूप में बाहिर

निकलती हैं। मन्त्र में इन अर्कों की चार प्रकार की शक्तियाँ बतायी हैं जो कि निम्न प्रकार हैं—

१. जिस प्रकार जल से भीगे पक्षी की रक्षा सूर्यकिरणें करती हैं, उसी प्रकार विषय-भोगों में आप्लावित मनुष्य की रक्षा बृहस्पति की अर्क रूपी किरणें करती हैं। इन दिव्य किरणों का प्रभाव इतना होता है कि मनुष्य विषयभोगों से आसानी से छुटकारा पा सकता है।
२. मनुष्य के जिन पापों व आवरणों के प्रति बृहस्पति की दिव्य किरणें गर्जन करती हैं उनके पाप व आवरण आदि इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाते हैं जिस प्रकार बिजली कड़ककर मेघों को छिन्न-भिन्न कर देती है।
३. ये किरणें जिस पर पड़ती हैं वहाँ इस प्रकार खिल उठती हैं, जिस प्रकार पर्वत-शिखर से गिरकर लहरें खिल जाती हैं और दुग्ध सदृश शुभ्र व उज्ज्वल हो जाती हैं अर्थात् दिव्यपुरुष की किरणें भक्तपुरुष में पहुँचकर उसे खिला देती हैं, विकसित कर देती हैं।
४. अर्कों का चतुर्थ कार्य यह है कि वे किरणें भक्तपुरुष में पहुँच भक्त द्वारा बृहस्पति की स्तुति कराती हैं।

उदप्रुतः=उद+प्लुत=जल में डूबा व भीगा।
गिरिभ्रजः=गिरिभ्यो भ्रष्टाः=पर्वतशिखर से गिरे हुए।
अनावन्=नु स्तवने।

सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमणं निनाय।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ॥२॥

(**आंगिरसः**[1]) अंगिरा का पुत्र वह बृहस्पति (**गोभिः नक्षमाणः**) दिव्यशक्ति सम्पन्न हुआ (**अर्यमणं**) श्रेष्ठों का आदर करने वाले अर्थात् विनीत भक्त को (**इत्**) निश्चय से (**भग इव निनाय**) ऐश्वर्य सम्पन्न बना देता है। यह (**मित्रः न**) निर्माता की तरह (**जने**) जनन-कार्य में अपने को (**दम्पती अनक्ति**) दम्पती भाव में व्यक्त करता है। हे बृहस्पते! (**आजौ**) संग्राम में (**आशून् इव**) वेगवान् घोड़ों की तरह हमें भी तू (**वाजय**) वेगवान् बना।

प्राणशक्ति सम्पन्न बृहस्पति की किरणों में वह शक्ति होती है जो कि विनीत व श्रद्धालु भक्त को सब प्रकार के दिव्य ऐश्वर्य प्रदान करती है। भक्त व शिष्य को नवीन जन्म देने वाला पितृस्थानीय यह बृहस्पति ही है। वह बृहस्पति तीन रात्रियों तक शिष्य में वह

---

१. **आंगिरसः**—अंगारा एवांगिरसोऽभवन्, प्राणो वा अंगिरा। **नक्षमाणः**=व्याप्त होता हुआ। नक्षतिर्गतिकर्मा निघ० २।२४। **अर्यमणं**=योऽर्यान् श्रेष्ठान् मनुष्यान् मिमीते मन्यते वा तं। श्रेष्ठों का आदर करने वाले। **मित्रः**=निर्माता प्राण।

ब्रह्मवर्चस् वेग पैदा करता है कि कोई भी भौतिक बाधा उसे अभीष्ट सिद्धि के मार्ग में रोक नहीं सकती।

साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः।।३।।

(**साध्वर्याः**[1]) साधु पुरुष से प्राप्तव्य अथवा श्रेष्ठमार्ग द्वारा प्राप्तव्य (**अतिथिनीः**) अतिथि रूप (**इषिराः**) सदा गतिशील (**स्पार्हाः**) वाञ्छनीय (**सुवर्णाः**) उत्तम वर्ण वाली (**अनवद्यरूपाः**) अगर्हित रूपवाली गौओं अर्थात् दिव्य ज्योतियों को वह बृहस्पति (**पर्वतेभ्यः**) बल अर्थात् वासनाओं के पर्वतों से (**वितूर्य**) दूर हटाकर (**स्थिविभ्यः यवमिव**) वैश्यों से जौ की तरह अर्थात् जिस प्रकार अन्नों का भण्डार भरकर रखने वाले वैश्यों से कृषक लोग जौ आदि अनाज लेकर खेत में बोते हैं उसी प्रकार बृहस्पति शरीर में नवग्वाओं के स्थिवि नामक स्थान से (**गाः**) गौओं को (**निर्**) निकालकर भक्त व शिष्य में (**ऊपे**) बोता है।

इस मन्त्र में गौओं का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। गौ शब्द यहाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में मनुष्य की आन्तरिक दिव्य ज्योतियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन दिव्य-ज्योतियों को यहाँ दिव्य ज्ञान की किरणें, दिव्य किरणें व दिव्य शक्तियाँ इत्यादि नामों से भी सम्बोधित किया गया है, इसलिए ये सब समानार्थक हैं। वह बृहस्पति नामक दिव्य गुरु भक्त व शिष्य में किस प्रकार इनका बीजवपन करता है, इसका भी आलंकारिक रूप में निर्देश कर दिया है। अब हम मन्त्र-प्रतिपादित गौओं के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हैं। इन गौओं का सर्वप्रथम विशेषण साध्वर्याः आता है। अर्थात् साधु पुरुष ही इन दिव्य ज्योतियों को प्राप्त कर सकता है। इसका दूसरा भाव यह है कि "साधुमार्गेण अर्याः प्राप्तव्याः" अर्थात् इनकी प्राप्ति का जो समुचित उपाय है उसका अवलम्बन करने से ही ये प्राप्त होती हैं। इसलिए मनुष्य यदि श्रेष्ठ बनकर शास्त्र-प्रतिपादित उपायों का अवलम्बन करेगा तो कभी न-कभी वे दिव्य ज्योतियाँ उसे प्राप्त हो जायेंगी। कब प्राप्त होंगी? इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि इन दिव्य ज्योतियों की प्राप्ति का निश्चित समय तो बताया ही नहीं जा सकता परन्तु परिश्रम करने पर वे कभी-न-कभी अवश्य मिल जायेंगी। इसीलिए मन्त्र में इन्हें 'अतिथिनी' कहा है। अर्थात् इनके प्रकट होने की निश्चित तिथि बताई नहीं जा सकती। पता नहीं वे कब आ पहुँचे। हाँ मनुष्य में वे स्वयं प्रकट होना चाहती हैं। इस कारण वे सदा गतिशील रहती हैं। (इषिराः —इष गतौ)। परन्तु मनुष्य स्वयं जब तक उनको न चाहता हो तो वे स्वयं चाहती हुई

---

१. **साध्वर्याः**—साधुभिः अर्याः प्राप्तव्याः। इषिराः—सदा गतिशीलाः, इषिर इति क्षिप्र इत्येतत्। श० प० ६/४/१/१०
वितूर्य—वि+तॄ प्लवनसन्तरणयोः।

भी कैसे प्रकट हो सकती हैं ? इसलिए मनुष्य को भी उनकी सदा चाहना करते रहना चाहिए। वे स्पृहणीय (स्पार्हाः) हैं, वांछनीय हैं। और ये उत्तम वर्ण वाली हैं। (सुवर्णाः)। वे उत्तम वर्ण क्या हैं ? यह विचारणीय है। अगला विशेषण इनका 'अनवद्यरूपाः' है। गर्हित व निन्दित रूप इनका तब होता है, जबकि एक साधक पुरुष इनको प्राप्त करके इनका दुरुपयोग करता है। इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्ध में देवों की गौओं, दिव्य शक्तियों अथवा दिव्य ज्ञान की किरणों का स्वरूप अनेकों विशेषणों द्वारा बताया गया है। बृहस्पति आचार्य इन दिव्य ज्योतियों को भक्त व शिष्यों में बोता है। किस प्रकार बोता है ? इसको एक उदाहरण से स्पष्ट किया है वह इस प्रकार है कि जैसे एक किसान अनाज का भण्डार (स्थिवि—स्टोर) भरकर रखने वाले वैश्यों से जौ आदि अनाज लेकर खेतों में बोता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के अन्दर दिव्य ज्ञान की किरणें विद्यमान हैं परन्तु वे वासनाओं के पर्वतों के नीचे दबी पड़ी हैं, बृहस्पति आचार्य उनको पर्वतों के नीचे से निकाल लाता है और फिर प्रयत्न यह करता है कि पर्वतों से दूर हटाकर शिष्य में बोता है। परन्तु प्रश्न यह है कि वे दिव्य ज्योतियाँ मनुष्य के अन्दर किस स्थान पर रहती हैं। मन्त्र में उस स्थान को 'स्थिवि' कहा है। शिष्य में इन दिव्य ज्ञान की किरणों को बोने के पश्चात् वह बृहस्पति उनकी निराई व सिंचाई भी समय-समय पर करता रहता है। इसके लिए अगले मन्त्र में इस प्रकार कहा गया है—

आ प्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥४॥

बृहस्पति (**मधुना आप्रुषायन्**) मधु अर्थात् दिव्यज्ञान से शिष्यों को सींचता हुआ (**इव**) जिस प्रकार (**अर्कः द्योः उल्कामिव**) सूर्य द्युलोक से उल्काएं फेंकता है उसी प्रकार (**ऋतस्ययोनि**) ऋतरूपी ज्ञान को उत्पन्न करने वाली अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा को उत्पन्न करने वाली उल्का सदृश ज्ञान-किरणों को समय-समय पर वह बृहस्पति (**अवक्षिपन्**) शिष्य के प्रति फेंकता हुआ और (**गाः उद्धरन्**) वासनामय पर्वत के नीचे दबी हुई दिव्य ज्योतियों को बाहिर निकालता हुआ (**इव**) जिस प्रकार (**उद्नां भूम्या त्वचं**) जिस प्रकार जल द्वारा भूमि के ऊपरी आवरण को फोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार वह बृहस्पति शिष्य के (**अश्मनः त्वचं बिभेद**) पत्थर सदृश वासना के आवरण को फोड़ देता है।

वह बृहस्पति शिष्य में इन दिव्य-ज्योतियों को बोने के पश्चात् उनका सिंचन भी करता है। उनका सिंचन वह समय-समय पर अपनी दिव्य किरणों को शिष्य के प्रति फेंक कर करता है। जो दिव्य किरणें शिष्य के प्रति वह फेंकता है, उनकी उपमा उल्का से दी है। जिस प्रकार उल्काएं एकदम चमकती हैं, और सम्पूर्ण आकाश को प्रकाशित कर देती हैं, उसी प्रकार बृहस्पति की अपनी दिव्य ज्योति जो कि समय-समय पर शिष्य के प्रति फेंकी जाती है, शिष्य को सब कुछ प्रकाशित कर देती है। इस प्रकार बृहस्पति शिष्य के अन्दर अपनी ज्योति द्वारा सिंचन करता रहता है। इस सिंचाई से परिपुष्ट हो शिष्य

की आत्म-ज्योति का उद्गम होता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा (ऋतस्य योनिम्) प्राप्त होती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति व दिव्य ज्योति के उद्गम का जल से सादृश्य यह बताता है कि जिस प्रकार पृथिवी के आन्तरिक स्तरों में आबद्ध पानी अनुकूल परिस्थिति पाकर पृथिवी को भेदन कर बाहिर निकल आता है उसी प्रकार शिष्य की आन्तरिक शक्तियाँ पाप व वासना के आवरण को भेदन कर बाहिर निकल आती हैं। परन्तु यह सब कृपा उस बृहस्पति रूपी आचार्य की है जिसकी दिव्य-शक्ति शिष्य के अन्दर प्रच्छन्न रूप में सन्निहित दिव्यांकुर को परिपुष्ट करती है और शनैः-शनैः बाहिर की ओर को प्रेरित करती है। इसीलिए श्वेताश्वतर में कहा है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत्।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आचक्र आ गाः ।।५।।

(**इव**) जिस प्रकार (**वातः उद्नः शीपालं**) वायु जल से शैवाल=(**काई**) को दूर कर देती है, उसी प्रकार वह बृहस्पति (**ज्योतिषा**) अपनी ज्योति द्वारा (**अन्तरिक्षात्**) शिष्य के हृदय रूपी अन्तरिक्ष से (**तमः अप आजत्**) अन्धकार को दूर कर देता है। (**इव**) जिस प्रकार (**वातः अभ्रं**) वायु बादलों को घेर लाती है उसी प्रकार वह बृहस्पति (**वलस्य गाः**) वलासुर के कब्जे में आई हुई गौओं को (**अनुमृश्य**) तीव्र चिन्तन द्वारा (**आचक्रे**) बाहिर की ओर घेर लाता है।

जिस प्रकार वायु जल को गति देती है और जल में विद्यमान शैवाल (काई) जल की गति द्वारा दूर हो जाती है उसी प्रकार बृहस्पति शिष्य के हृदय रूपी समुद्र में अपनी दिव्य शक्ति द्वारा गति प्रारम्भ कर देता है और इससे हृदय में विद्यमान यह वलरूपी मैल दूर हो जाता है। इसकी प्रक्रिया यह है कि जिस प्रकार वायु के झोकों द्वारा जल में गति प्रारम्भ हो जाती है उसी प्रकार की गति हमारे मन में भी प्रारम्भ हो जावे। जल की गति लहरों के रूप में होती है। यही गति शिष्य के मन में तब होती है जबकि बृहस्पति उस पर अपनी ज्योति फेंकता है। शिष्य का मन निचली सतह पर होता है। बृहस्पति ने अपनी ज्योति द्वारा गति दी तो वह ऊपर उठा, परन्तु फिर अपने स्वभाव के अनुसार नीचे आया फिर गति मिली, फिर ऊपर उठा और फिर नीचे आ गया। इस प्रकार मन में गति प्रारम्भ होती है। प्रायः प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में यह अनुभव करता है कि जिस समय पाप प्रेरणा के लिए कोई प्रलोभन सामने हो तो करूँ या न करूँ इस प्रकार सोचते हुए मन कभी ऊपर उठता है और कभी डूबता है। उस समय यदि कोई सन्त मनुष्य सामने आ जाये तो अच्छे विचारों की विजय हो जाती है और मन की गति उस अवस्था में ऊपर को उठने की अधिक रहती है। परन्तु साधारण मनुष्यों के मन का स्वभाव निचली सतह पर रहने का होता है। इसीलिए उसे ऊर्ध्व गति

के लिए पौनः पुन्येन समुत्तेजना (stimulus) की आवश्यकता होती है और यह समुत्तेजना बिना दिव्य गुरु के संग के नहीं हो सकती। इसीलिए भक्त पुरुष दिव्य पुरुषों को गुरु धारण करते हैं। परन्तु सबको बृहस्पति समान दिव्य गुरु मिलना असम्भव है। इसलिए गुरुओं के भी गुरु उस प्रभु को सर्वभावेन आत्मसमर्पण कर निश्चल, शान्त तथा अन्तर्मुख होकर प्रभु के चिन्तन सहित साँस बाहिर निकाले। इस प्रकार करने से मनुष्य अपने मन में स्वयं गति पैदा कर सकता है। जब कभी मन निचली सतह पर आवे तभी जिस किसी भी उपाय से हो मन को ऊँची सतह पर ले जाने का प्रयत्न करें। प्रारम्भ में पूर्ण सफलता प्राप्त करना असम्भव है परन्तु अभ्यास से शनैः शनैः पूर्ण सफलता प्राप्त की जा सकती है।

मनुष्य में विद्यमान दिव्य शक्तियों को बाहिर निकालने का दूसरा उपाय यह बताया गया है कि जिस प्रकार वायु अपने झोंकों से बादलों को घेर लाती है, उसी प्रकार मनुष्य को तीव्र चिन्तन द्वारा इन दिव्य शक्तियों को बाहिर की ओर को प्रेरित करना चाहिए। योगदर्शन में जो भाव तीव्र संवेग का है, वही भाव यहाँ चिन्तन में 'अनुमृश्य' का है। बादलों को घेरकर लाने वाली वायु का दृष्टान्त भी यही सूचित कर रहा है कि चिन्तन तीव्र होना चाहिए। अब विचारणीय यह है कि तीव्र चिन्तन शरीर में कहाँ करे ? इस सम्बन्ध में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दिव्य शक्तियाँ जिन्हें देवों की गौएँ कहा है ये अपने-अपने आदि स्रोत में बैठी हैं। आधुनिक भाषा में इन देवों की गौओं के आदि स्रोतों को मस्तिष्क के केन्द्र (Brain centres) कहा गया है। इन आदि केन्द्रों पर ध्यान लगाना चाहिए। इससे उस स्थान का मल विनष्ट हो जायेगा, आवरण दूर हो जाएगा और दिव्य शक्तियाँ उद्भूत हो जायेंगी।

अगले मन्त्र में बृहस्पति द्वारा वासना-विनाश का एक और उपाय बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥६॥

वह बृहस्पति आचार्य (**यदा**) जब (**अग्नितपोभिः**) अग्नि के समान परितप्त (**अर्कैः**) अर्कों से (**पीयतः वलस्य**) हिंसक वलासुर के (**जसुंभेत्**) हिंसक रूप को भेदन कर देता है और (**न**) जिस प्रकार (**जिह्वा**) जीभ (**परिविष्टं**) मुखावृत ग्रास को (**दद्भिः आदत्**) दाँतों से भक्षण कर लेती है उसी प्रकार जब उस वल को भक्षण कर लिया जाता है अर्थात् नष्ट कर दिया जाता है तब बृहस्पति (**उस्रियाणां निधीन्**) दिव्य शक्तियों की निधियों को (**आविः अकृणोत्**) प्रकाश में ला देता है।

पीयत—पीयति हिंसाकर्मा, पीयति आक्रोशति कर्मा। हिंसा, आक्रोश।

जसुम्—हिंसक,—जसु हिंसायाम्।

मन्त्र में यह बताया गया है कि दिव्य शक्तियों को उपक्षीण करने वाले वलासुर को बृहस्पति अपने अर्कों अर्थात् आन्तरिक किरणों द्वारा विनष्ट कर देता है और निम्न दृष्टान्त द्वारा यह भी बताया गया है कि जिस प्रकार मुखावृत अन्न को दाँतों द्वारा पीस-

कर उसका रस व सार ले लिया जाता है, उसी प्रकार बृहस्पति की बलवती किरणें शिष्य के वलरूपी आवरण को विनष्ट कर गौओं अर्थात् दिव्य शक्तियों को आवरण से पृथक् कर लेती हैं। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य की चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा किरणें बाहिर को निकल बाह्य वस्तुओं पर प्रभाव डालती हैं। ये प्रत्येक मनुष्य की अपनी शक्ति व आवरण के आधार पर भिन्न-भिन्न स्वरूप व भिन्न-भिन्न प्रभाव वाली होती हैं। इसलिये जिस आवरण वाला मनुष्य होता है उसके सम्पर्क से दूसरे मनुष्य पर उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है। इसी दृष्टि से हमारे शास्त्रों में कुसंगति व सत्संगति पर बड़ा विचार मिलता है। दिव्य पुरुषों के तो दर्शन मात्र से सब प्रकार के मल धुल जाते हैं। उपदेश देने की उन्हें आवश्यकता[1] नहीं। उनके तो दर्शन मात्र ही पर्याप्त हैं। क्योंकि उनकी आन्तरिक किरणें बड़ी बलशालिनी होती हैं।

अगले मन्त्र में बृहस्पति द्वारा शिष्य की दिव्य शक्तियों को बाहिर निकालने का एक और उपाय बताया गया है। वह इस प्रकार है—

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत् ॥७॥

वह बृहस्पति (**स्वरीणां आसाम्**) शब्द करती हुई इन दिव्य शक्तियों के (**त्यत् नाम**) उस नाम को (**हि**) निश्चय से (**अमत**[2]) जान लेता है (**यत्**) जो कि (**सदने**) वलासुर के सदन में (**गुहा**) गुफा में निहित है। (**इव**) जिस प्रकार (**शकुनस्य गर्भं**) पक्षी का गर्भ (**आण्डा भित्त्वा**) अण्डे को फोड़कर बाहिर निकल आता है उसी प्रकार (**उस्रियाः**) ये दिव्य किरणें (**पर्वतस्य**) वलासुर के पर्वत का भेदन कर (**त्मना उत् आजत्**) अपने आप बाहिर निकल आती हैं।

अगले मन्त्र में दिव्य ज्ञान की उपमा मधु से दी गई है। उस मधु को बृहस्पति शिष्य में देख लेता है और उसे बाहिर निकालता है। मन्त्र इस प्रकार है—

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ॥८॥

वह बृहस्पति (**दीने उदनि क्षियन्तं मत्स्यं न**) उथले जल में विद्यमान मछली की तरह (**अश्ना**[3] **पिनद्धम्**) वल रूपी शिला से ढके हुए (**मधु पर्यपश्यन्**) दिव्य ज्ञान को देख लेता है और फिर वह (**तत्**) उस दिव्य ज्ञान को (**वृक्षात् चमसं न**) वृक्ष से चमसे की

---

१. गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।
२. **अमत**—मनु अवबोधने।
३. **अश्ना**—(अश्मना =पत्थर। अपिनद्धम्—अपि+नद्धम्—णह् बन्धने।

तरह (**विरवेण विकृत्य**[1]) विविध प्रकार के शब्दों व उपदेशों आदि द्वारा छील-छालकर सुघड़ बनाता है और फिर उसे (**निर्जभार**) बाहिर निकालता है।

यहाँ पर मधु दिव्य ज्योति रूप मधु है। और यह 'अश्नापिनद्ध' अर्थात् वलासुर के पत्थर के आवरण से ढका हुआ है। शिष्य में आवरण से ढंके हुए इस दिव्य ज्ञान को बृहस्पति इस प्रकार देख लेता है जिस प्रकार थोड़े जल में मछली दिखाई दे जाती है। जब शिष्य बृहस्पति आचार्य के पास शिक्षा प्राप्त करने आता है, तब वृक्ष से काटी हुई लकड़ी के समान अस्तव्यस्त व अघढ़ होता है, जिससे कि सुन्दर-सुन्दर सामान तैयार किया जाता है। उस समय वह बृहस्पति उस शिष्य को देखकर पहले यह पता लगाता है कि इसमें क्या शक्ति अन्दर निहित है। जब वह अपनी आध्यात्मिक शक्ति से उस दिव्य शक्ति को जान लेता है जोकि शिष्य में छिपी होती है तो उसके आधार पर उस शिष्य को तदनुकूल नियन्त्रण शिक्षा तथा उपदेश द्वारा योग्य तथा सुघड़ बनाता है।

अगले मन्त्र में यह बताया गया है कि बृहस्पति आत्मशक्ति द्वारा शिष्य में किस क्रम से प्रवेश करता है और किन-किन शक्तियों को प्रभावित करता है। मन्त्र इस प्रकार है—

सोषामविन्दत्स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार॥९॥

(**स**) उस बृहस्पति ने शिष्य के अन्दर प्रच्छन्नरूप से सन्निहित गौओं की प्राप्ति के लिये सबसे पहले (**उषामविन्दत्**) उषा को प्राप्त किया और फिर उसने (**स्वः**) प्रकाश देखा और तदनन्तर (**अग्निम्**) अग्नि को प्राप्त किया और फिर (**अर्केण तमांसि विबबाधे**) अपनी दिव्य ज्योति द्वारा अन्धकारों को विनष्ट कर दिया। और (**पर्वणो मज्जानं न**) शरीर की पोरी-पोरी से जिस प्रकार मज्जा को दूर कर दिया जाता है उसी प्रकार बृहस्पति ने (**गोः वपुषः वलस्य**) गौ के शरीर से चिपटे हुए वलासुर को (**निर्जभार**) दूर कर दिया।

इस मन्त्र में बृहस्पति द्वारा शिष्य के आत्मोद्घाटन का वर्णन किया गया है। जिस समय शिष्य गुरु को पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देता है, तब गुरु की दिव्य शक्ति शिष्य में प्रविष्ट होकर उद्घाटन का कार्य करती है। सर्वप्रथम शिष्य में उषा का आगमन होता है। उसे प्रकाश दिखाई देता है। बुद्धि में सूक्ष्मता आती है जो बातें उसके लिये परोक्ष थीं, उनका कुछ-कुछ आभास होता है। और फिर अन्त में आकर आत्मा रूपी सूर्य का पूर्ण रूप से उद्घाटन हो जाता है। उसके आवरणों का विनाश भी बृहस्पति ही अपनी शक्ति से करता है। इसलिये हम ऐसा भी कह सकते हैं कि शिष्य ने गुरु के प्रति पूर्णरूप से आत्मसमर्पण के सिवाय कुछ नहीं करना और सब कुछ तो गुरु ही करता है।

---

१. **विरवेण**—वि+रवेण। विकृत्य=वि+कृती छेदने।

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः ।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥१०॥

(**बृहस्पतिना**) बृहस्पति ने (**हिमेव पर्णा**) हिम जिस प्रकार वृक्षों पर से पत्तों को चुरा लेता है, उसी प्रकार (**वनानि मुषिता**) वलासुर के वनों को चुरा लिया। इस प्रकार गौओं के भूखी मरने से (**वलः**) उस वलासुर ने (**गाः अकृपयत्**) गौओं को बन्धन से खोल दिया और फिर बृहस्पति ने (**अनानुकृत्य**) जो अनुकरणीय नहीं है उसे (**अपुनश्चकार**) फिर न हो ऐसा बना दिया। (**यत्**) जिससे कि (**सूर्यामासा**) सूर्य और चन्द्रमा दोनों (**मिथः**) परस्पर मिलकर (**उच्चरातः**) ऊपर की ओर गति करते हैं।

इस मन्त्र का भाव यह है कि जिस प्रकार बर्फ व पाला (हिम) पड़कर वृक्षों के पत्तों को चुरा लेता है अर्थात् नष्ट कर देता है उसी प्रकार बृहस्पति ने उस वन को चुरा लिया, जिसमें वलासुर गौओं को चराया करता था। अर्थात् वलासुर इन्द्रियों द्वारा जिस क्षेत्र में विहार करता था, जिन भोगविलासों में फंसा हुआ था- वे सब विहार के स्थान बृहस्पति ने चुरा लिये, जिससे इन्द्रियाँ भूखी मरने लगीं। इस पर वलासुर ने सब इन्द्रिय रूपी गौओं के बन्धन खोल दिये। वे गौएँ अब बृहस्पति के पास आयीं। उसने पहला कार्य यह किया कि जो अनुकरणीय नहीं है उसको इन्द्रियाँ अनुकरण न कर सकें ऐसा उपाय कर दिया। इसका फल यह भी हुआ कि सूर्य (मस्तिष्क) चन्द्रमा (मन) दोनों मिलकर ऊपर की ओर गति करने लगे। शिष्य के ऊपर गुरु का किस प्रकार का नियन्त्रण चाहिए यह इस बात का दिग्दर्शक है।

अभि श्यावं कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विददगाः ॥११॥

बृहस्पति ने (**अद्रिं भिनत्**) वलासुर के पर्वत को भेदन कर दिया और (**गाः विदत्**) गौएँ प्राप्त कर लीं। तब (**पितरः**) शरीर की पालक शक्तियों ने (**कृशनेभिः अभिश्यावं अश्वं न**) स्वर्णाभरणों के कारण चारों ओर से भूरे हुए अश्व की तरह विद्यमान (**द्यां**) मस्तिष्क को (**नक्षत्रेभिः अपिंशन्**) नक्षत्रों ऐन्द्रियिक शक्तियों= (Brain centres) से रूप दिया और (**रात्र्यां तमः अदधुः**) रात्रि में अन्धकार को रखा और (**अहन् ज्योतिः**) दिन में ज्योति रखी।

यह मन्त्र द्युलोक व मस्तिष्क इन दोनों के निर्माण में घटाया जा सकता है। यहाँ पर द्युलोक को स्वर्णाभरणों से सजाये हुए भूरे घोड़े से उपमा दी है। घोड़ा स्वर्णाभरणों से भूरा है तो द्युलोक सूर्य किरणों से। जिस समय यह ब्रह्माण्ड अण्डे के समान था 'तदण्डमभवद्धैमं सुवर्णसमप्रभम्' तब यह स्वर्णसम प्रभा वाला था। जब यह अण्डा प्रजापति ने फोड़ा तब स्वर्ण समान भूरी प्रभा द्युलोक में रह गई और प्रभा-रहित तमसाच्छादित हिस्से से यह पृथ्वी बनी। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की पालक शक्तियों

(पितरों) ने इसके भिन्न-भिन्न रूप दिये। द्युलोक को उन्होंने नक्षत्रों से जड़ा। अन्धकार को रात्रि में रखा और ज्योति को दिन (अहन्) में। यहाँ पर अहन् और रात्रि पारिभाषिक शब्द हैं। पृथिवी से लेकर चन्द्रमा तक रात्रि है अर्थात् ये अन्धकारमय है और चन्द्रमा से ऊपर तीनों द्युलोक अहन् विभाग में हैं। अध्यात्म में द्युलोक मस्तिष्क है। मस्तिष्क में भी भूरा पदार्थ चारों ओर विद्यमान है। मस्तिष्क में जो भिन्न शक्तियों के केन्द्र हैं, वे नक्षत्र हैं, सिर में ज्योति रहती है और नीचे उदर आदि में अन्धकार। इसलिये शरीर को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। सिर द्युलोक है अहन् व ज्योतिरूप है। उदर आदि पृथ्वी है और वह रात्रि है।

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात् ।।१२।।

(**अभ्रियाय**) शक्ति व प्रकाश की वर्षा करने वाले बृहस्पति को (**इदं**) यह (**नमः अकर्म**) हमारा नमस्कार है (**यः**) जो बृहस्पति (**पूर्वीः**) सनातन काल से चली आ रही साधनाओं को (**अनु**) अनुक्रम से (**आनोनवीति**) शिष्यों द्वारा बार-बार स्तुति करवाता है और करता है, वह बृहस्पति गौओं, अश्वों और वीर पुरुषों द्वारा हमारी आयु को अथवा सन्तति-विस्तार = (**वयः**) को धारण करावे।

ओ३म् नमो ब्रह्मणे गुरवे सर्वरूपाय।

।। इति शम् ।।